हिंदी का दलित साहित्य एवं ओमप्रकाश वाल्मीकि

(हैदराबाद विश्वविद्यालय की पी.एच.डी.(हिन्दी) उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध-प्रबंध)

2012

प्रस्तुतकर्ता

जी.प्रसाद एम.फिल.

विभागाध्यक्ष :

प्रो.रविरंजन, पी.एच.डी.
हिन्दी विभाग,
हैदराबाद विश्वविद्यालय,
हैदराबाद-500 046.

निर्देशक:

प्रो.वी.कृष्ण, पी.एच.डी.
हिन्दी विभाग,
हैदराबाद विश्वविद्यालय,
हैदराबाद-500 046.

CERTIFICATE

This is to certify that the thesis entitled ***"HINDI KA DALITH SAHITYA EVAM OMPRAKASH VALMIKI"*** *submitted by* ***GADDALA PRASAD*** *bearing Reg. No.* ***06HHPH10*** *in partial fulfillment of the requirements for the award of Doctor of Philosophy in* ***Hindi*** *is a bonafide work carried out by him under my supervision and guidance.*

The thesis has not been submitted previously in part or in full to this or any other University or Institution for the award of any degree or diploma.

Signature of the Supervisor

/ /Countersigned/ /

Head of the Department *Dean of the School*

DECLARATION

*I **GADDALA PRASAD** hereby declare that this thesis entitled **"HINDI KA DALITH SAHITYA EVAM OMPRAKASH VALMIKI"** submitted by me under the guidance and supervision of **Pro.V.KRISHNA** is a bonafide research work. I also declare that it has not been submitted previously in part or in full to this University or any other University or Institution for the award of any degree or diploma.*

Date: *Name:* ***GADDALA PRASAD***

Signature of the Student

*Regd.No.**06HHPH10***

विषयानुक्रमणिका

पृ. संख्या

भूमिका I-V

प्रथम अध्याय

1.हिन्दी का दलित साहित्य और ओमप्रकाश वाल्मीकि का व्यक्तित्व एवं कृतित्व 1- 68

प्रस्तावना :

1.1.दलित शब्द की उत्पत्ति एवं अर्थ

1.2.दलित साहित्य का अर्थ एवं परिभाषा

1.3.दलित साहित्य की पृष्ठभूमि

1.4.दलित साहित्य का विकास

1.5.ओमप्रकाश वाल्मीकि का व्यक्तित्व

1.5.1.जन्म

1.5.2.शिक्षा

1.5.3.परिवार

1.5.4.व्यवसाय

1.5.5.प्रकाशित कृतियाँ

1.5.6.सम्पादन

1.5.7.अन्य

1.5.8.पुरस्कार

1.5.9.सृजन की प्रेरणा

1.6.ओमप्रकाश वाल्मीकि का कृतित्व

1.6.1.कहानियों का संक्षिप्त परिचय

1.6.1.1.सलाम कहानी संग्रह

1.6.1.1.1.वास्तविकता का एक नया पहलू : सलाम

1.6.1.1.2.मानवीय संवेदना की अभिव्यक्ति : भय

1.6.1.1.3.अमानवीय व्यवहार पर चोट : कहाँ जाएँ सतीश ?

1.6.1.1.4.मानवीय संवेदनाओं की नई त्रासदि : जिनावर

1.6.1.2.'घुस पैठिए' कहानी संग्रह

1.6.1.2.1.अपमान और यातना की चक्की : घुस पैठिए

1.6.1.2.2.दलित स्त्री अस्मिता का संघर्ष : यह अंत नहीं

1.6.1.2.3.अमानवीयता का चरम : शवयात्रा

1.6.1.2.4.पाखंडों से मुक्त : मैं ब्राह्मण नहीं हूँ

1.6.1.2.5.दलितों को अपनी जाति छुपाने की मानसिकता : दिनेशपाल जाटव उर्फ़ दिग्दर्शन

1.6.1.2.6.अत्याचार की शिकार : जंगल की रानी

1.6.2.कविता संग्रहों का परिचय

1.6.2.1.सदियों का सन्ताप

1.6.2.2.बस! बहुत हो चुका

1.6.2.3.गहरे यथार्थ का भावबोध : अब और नहीं...

1.6.3.यथार्थ अनुभवों की पीड़ा : जूठन

1.6.4.समाजशास्त्रीय अध्ययन : सफाई देवता

1.6.5.आलोचना : दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र

1.6.6.लेख-आलेख : मुख्यधारा और दलित साहित्य

निष्कर्ष

द्वितीय अध्याय

2.हिन्दी का दलित साहित्य और ओमप्रकाश वाल्मीकि की कहानियाँ 69-137

प्रस्तावना :

2.1.दलित कहानियों का विकास

2.2.ओमप्रकाश वाल्मीकि की कहानियों में सामाजिक चित्रण

2.2.1.परिवार, पारिवारिक संबंध

2.2.2.नारी के प्रति सम्मान

2.2.3.मानवीय संबंध

2.2.4.ऊँच नीच की अमानवीयता

2.2.5.समानता के लिए छटपटाहट
2.2.6.सामंती परिवेश व रूढ़िवादी मानसिकता
2.2.7.दलित बनाम वस्तु
2.2.8.दलित की हीन ग्रंथि
2.2.9.मध्यवर्गीय सवर्ण मानसिकता का वर्णन
2.2.10.किराए पर मकान के लिए जाति का पता जरूरी है
2.2.11.जाति के नाम से अपमानित करना
2.3.ओमप्रकाश वाल्मीकि की कहानियों में आर्थिक चित्रण
2.3.1.असमानताएँ एवं निर्योग्यताएँ
2.3.2.दलित के जीविकोपार्जन का साधन
2.3.3.दलितेतर मानसिकता की क्रूर बुद्धि
2.3.4.जीवन संघर्ष की एक अंतहीन यात्रा
2.4.ओमप्रकाश वाल्मीकि की कहानियों में धार्मिक चित्रण
2.4.1.दलित एवं अंधविश्वास
2.4.2.मजदूर संगठनों के बीच जातिवाद
2.4.3.अंधविश्वासों की सही व्याख्या
2.5.ओमप्रकाश वाल्मीकि की कहानियों में राजनैतिक चित्रण
2.5.1.दलितों के मन में उभरा आक्रोश
2.6.ओमप्रकाश वाल्मीकि की कहानियों में सांस्कृतिक चित्रण
2.6.1.महाजनी संस्कृति
2.6.2.रीति रिवाज़
निष्कर्ष

तृतीय अध्याय

3.हिन्दी का दलित साहित्य और जूठन : आत्मकथा **138-199**

प्रस्तावना :

3.1.दलित आत्मकथाओं का यथार्थ

3.2.जूठन में सामाजिक चित्रण

3.2.1.परंपरागत मूल्य 'जाति-व्यवस्था'

3.2.2.विद्यालय

3.2.3.दलित बस्ती

3.2.4.हीनताबोध

3.2.5.सामाजिक क्रूरता की पराकाष्ठा 'यातना'

3.2.6.दलितों के मन में उभरा आक्रोश

3.2.6.1.सामाजिक विद्रोह

3.3.जूठन में आर्थिक चित्रण

3.3.1.सामन्ती समाज में 'जुल्म'

3.3.2.श्रम का मूल्य 'जूठन'

3.3.3.आरक्षण का विरोधी स्वर

3.3.4.सूचना क्रांति का अभाव

3.4.जूठन में धार्मिक चित्रण

3.4.1.अस्पृश्यता का पोषक हिन्दू समाज

3.4.2.कट्टरता का प्रतीक 'मुसलमान'

3.4.3.भाईचारे का प्रतीक 'ईसाई'

3.4.4.बौद्ध धर्म एवं दलित

3.4.4.1.बौद्ध धर्म स्वीकार पूर्व दलितों की स्थिति

3.4.4.2.बौद्ध धर्म स्वीकार के बाद दलितों की स्थिति

3.5.जूठन में राजनीतिक चित्रण

3.5.1.दलित सत्ता एवं बनाम दलित पार्टियाँ

3.5.2.वैज्ञानिकता की परख

3.6.जूठन में सांस्कृतिक चित्रण

3.6.1.समता की संवाहक 'दलित संस्कृति'

3.6.1.1.दलित त्योहार

3.6.1.2.वेश-भूषा

3.6.1.3.विवाह

3.6.1.4.अंधविश्वास

3.6.1.5.बलिदान

निष्कर्ष

चतुर्थ अध्याय

4.हिन्दी का दलित साहित्य और ओमप्रकाश वाल्मीकि की कविता 200-284

प्रस्तावना :

4.1ओमप्रकाश वाल्मीकि की कविताओं में सामाजिक चित्रण

4.1.1.वर्ण व्यवस्था

4.1.2.समता-विषमता और न्याय

4.1.3.स्त्री की विविध भूमिकाएँ

4.1.4.हिंसा और अहिंसा

4.1.5.दलित वर्ग की मानसिकता का चित्रण

4.1.6.शारीरिक -जीवन कष्ट

4.1.7.दलित-जीवन मूल्यों का वर्णन

4.1.8.दलित-आत्मसंघर्ष

4.1.9.सवर्णों के प्रति नफ़रत

4.1.10.दलित-मुक्ति संघर्ष

4.1.11.अस्मिता की तलाश

4.1.12.आत्मगौरव

4.1.13.दलित चेतना

4.2.ओमप्रकाश वाल्मीकि की कविताओं में आर्थिक चित्रण

4.2.1.श्रम का महत्व

4.2.2.शोषण से मुक्ति

4.2.3.किसान का शोषण

4.2.4.दलित-भूख की समस्या का चित्रण
4.2.5.दलित का जीवन संघर्ष
4.2.6.परिश्रम का तोहफ़ा
4.2.7.दलित जीवन-प्रकाश का अभाव
4.2.8.दलित जीवन-प्रकाश की ओर
4.3.ओमप्रकाश वाल्मीकि की कविताओं में धार्मिक चित्रण
4.3.1.ईश्वर का विरोध
4.3.2.व्यंग्य
4.3.3.आक्रोश-प्रतिशोध
4.3.4.सामाजिक लोप
4.3.5.विद्रोह एवं चेतना
4.3.6.धर्म ग्रंथों का विरोध
4.3.7.दलित-श्रेष्ठता
4.4.ओमप्रकाश वाल्मीकि की कविताओं में राजनीतिक चित्रण
4.4.1.घृणा और प्रेम
4.4.2.प्रजातंत्र
4.4.2.1.आज़ादी
4.4.2.2.लोकतंत्र
4.5.ओमप्रकाश वाल्मीकि की कविताओं में सांस्कृतिक चित्रण
4.5.1.परंपरा, संस्कृति और सभ्यता का विरोध
निष्कर्ष

पंचम अध्याय

5.हिन्दी का दलित साहित्य और ओमप्रकाश वाल्मीकि का अन्य साहित्य 285-356

प्रस्तावना :
5.1.दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र - नये सौन्दर्यशास्त्र की तलाश
5.2.सफाई-देवता -भंगी या वाल्मीकि समाज की वास्तविक स्थिति
5.3.मुख्यधारा और दलित साहित्य - अस्मिता की तलाश
निष्कर्ष

षष्टम अध्याय

6.ओमप्रकाश वाल्मीकि का साहित्य अभिव्यक्ति के विविध रूप **357-408**

प्रस्तावना :

6.1.दलित साहित्य की भाषा

6.2.ओमप्रकाश वाल्मीकि के साहित्यिक शिल्प में दलित चिन्तन

6.2.1.प्रकृति चित्रण की अभिव्यक्ति

6.2.2.प्रतिरोध की भाषा

6.2.3.परंपरागत शिल्पगत विधानों का तिरस्कार

6.2.4.नये समाजशास्त्र को रचता भाषिक विधान

6.3.ओमप्रकाश वाल्मीकि की रचनाओं में शब्द और अर्थ

6.4.दलित साहित्य में बिम्ब और प्रतीक

निष्कर्ष

उपसंहार **409-419**

संदर्भ ग्रन्थ सूची **420-431**

भूमिका

दलित साहित्य भेदभाव, छुआछूत, घृणा, नारी शोषण, बंधुआ जीवन, धार्मिक कठमुल्लापन, कर्मकांड, रूढ़िवादी और ब्राह्मणवाद के ख़िलाफ़ खुला विद्रोह है। वह व्यक्ति को भी अकर्मण्य तथा धर्मान्ध के स्थान पर जुझारू संघर्षशील कर्तव्य परायण बनाता है। यह उनमें स्वाभिमान और आत्मगौरव के स्वर भरता है और आडंबरों से दूर, जन साधारण से सीधा जुड़ता है। दलित साहित्य नारी को एक असाधारण शक्ति के रूप में स्वीकार करके पुरुष के साथ समान दर्जा देता है। कला और सौंदर्य की कविताएँ साहित्य को सुंदर बना सकती है। लेकिन मानव को सुंदर नहीं बना सकती । मानवीय समता, अस्मिता से जुड़ा दलित साहित्य मानव को सुंदरता प्रदान करता है।

'दलितों के जीवन' को केंद्र में रखकर मैंने हिंदी का दलित साहित्य एवं ओमप्रकाश वाल्मीकि पर काम करने का निश्चय किया है। क्योंकि मेरा जन्म भी एक दलित परिवार में हुआ है। इसलिए दलित साहित्य (कविता, कहानी, आत्मकथा) पढ़ते समय वह हमारी खुद की कथा लगती है। वास्तव में 'दलित साहित्य' पर काम करना मेरे लिए बड़ा जोखिम भरा काम था क्योंकि मैं भी दलित हूँ और जब मैंने यह कविता, कहानी और आत्मकथाएँ पढ़ी तब कितनी बार मेरी आँखों से आँसू निकल आए थे। मन में एक प्रकार की यातना होती थी। मन बेचैन होता था। मुझे लगता था हमारे बाप-दादा ने उस ज़िंदगी को कैसे झेला होगा? किस प्रकार उन्होंने अपना जीवन व्यतीत किया होगा।

सदियों से भोगा हुआ दुख इन कविता, कहानी और आत्मकथाओं द्वारा स्पष्ट होता है। मेरे विचार से दलित साहित्य में कविता, कहानी और आत्मकथाएँ केवल आत्मकथाएँ नहीं हैं, बल्कि वह दलितों का इतिहास है जिसके द्वारा हम दलितों की पूर्वस्थिति को समझ सकते हैं। साथ ही आज की स्थिति पर भी चिंतन कर सकते हैं। इसलिए हमारे बाप-दादा और मुझे भी जिस ज़िंदगी को भोगना पड़ा है दुबारा नही लड़ना आ रही हैं। उस पर काम करना मैनें अपना कर्तव्य समझा और हिंदी का दलित साहित्य (कविता, कहानी, आत्मकथा) को मैंने अध्ययन का विषय बनाया है।

प्रस्तुत शोध प्रबंध **'हिंदी का दलित साहित्य एवं ओमप्रकाश वाल्मीकि'** को मैंने अध्ययन की सुविधा के लिए छः अध्यायों में विभाजित किया है।

प्रथम अध्यायः **"दलित साहित्य और ओमप्रकाश वाल्मीकि का व्यक्तित्व एवं कृतित्व",** इस अध्याय में दलित शब्द की उत्पत्ति एवं अर्थ, दलित साहित्य का अर्थ एवं परिभाषाएँ, दलित साहित्य की पृष्ठभूमि, दलित साहित्य का विकास और 'ओमप्रकाश वाल्मीकि का व्यक्तित्व एवं कृतित्व' के अंतर्गत जन्म, शिक्षा, परिवार, व्यवसाय, प्रकाशित कुतियाँ, पुरस्कार, सृजन की प्रेरणा, आत्मकथा, कहानियाँ, कविता और अन्य साहित्य की आलोचनात्मक रचनाओं का परिचित संक्षिप्त रूप में दिया गया है।

हिंदी साहित्य के इतिहास में दलित साहित्य अपनी विशिष्टता को कायम करने लगा हैं। दलित साहित्य केवल मनोरंजन का साहित्य नहीं बल्कि ऐसा साहित्य है, जो हर तरह की वर्ण व्यवस्था, जात-पात, ऊँच-नीच आदि भेद-भाव के दायरे से ऊपर है। दलित साहित्य को किसी सीमा में बाँध नहीं सकते। दलित साहित्य व्यक्ति की औक़ात दिखाता है। दलित साहित्य में कहीं कल्पना की बात नहीं होती । जिस प्रकार की ज़िंदगी दलित लोग जी रहे हैं, उसी का वर्णन दलित साहित्य में उपलब्ध है।

द्वितीय अध्याय : **" दलित साहित्य और ओमप्रकाश वाल्मीकि की कहानियाँ ",** इस अध्याय में ओमप्रकाश वाल्मीकि की कहानियों में दलित जीवन के संदर्भों से जुड़ी कथा-वस्तु का वर्णन हुआ है। जिसमें दलित जीवन के सुख-दुःख, कपट-क्लेश, उपेक्षाएँ, प्रताड़नाएं, कुंठा घुटन तथा कुछ सपने तथा उनके लिए किए जाने वाले संघर्ष को उजागर किया गया है। यह सब सदियों से दलित जीवन का यथार्थ रहा है जिसे ओमप्रकाश वाल्मीकि ने निहायत संजीदगी से यथार्थ के अपनी कहानियों में दृष्टिगोचर किया है। वे शक्तियों और वे चेहरे भी उस क्रम में बेनक़ाब हुए हैं जो दलित जीवन की इस समूची यातना के स्रोत और निमित्त रहे हैं। ये बड़ी साफ़-सुधरी किंतु बेहद बोधक और मार्मिक कहानियाँ हैं। ऐसे अनेक पात्र भी इन कहानियों में आए हैं जो दलित न होते हुए भी दलितों के संघर्ष में सहभागीता निभाते हैं उनकी दृष्टि के इस खुलेपन ने कहानियों को यथार्थ की विश्वसनीयता दी है। एक मानवीय जीवन के लिए दलितों का यह संघर्ष सफल हो यही उनका प्रयास है। उन्होंने अपने साहित्य द्वारा संघर्ष की सही ज़मीन और मानसिकता के लिए भी सही पेशकश की है।

तृतीय अध्याय : **"दलित साहित्य और जूठन : आत्मकथा"** इस अध्याय में दलित साहित्य और ओमप्रकाश वाल्मीकि की आत्मकथा में सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक

परिस्थितियों में दलित जीवन के यथार्थ संघटन का चित्रण किया है। इन रचनाओं में दलित जीवन, उनके पेशे, वर्ण-व्यवस्था, जाति-व्यवस्था, अंधविश्वास, रीति-रिवाज, परिवार, नारी, यातनाओं का शिकार, ऊँच-नीच की अमानवीय संस्कृति, दलित संस्कृति, आक्रोश और विद्रोह आदि का विश्लेषण करने का प्रयास मैंने किया है। दलित संस्कृति जो है जाति रहित संस्कृति है। यह वैदिक संस्कृति को नकारती है। दलितों का अपना श्रम सौंदर्य है। पुरानी परंपरा का खंडन करके नई परंपरा का सृजन करने में दलित संस्कृति सक्षम होती है।

भारतीय समाज संरचना में वर्ण अथवा जाति एक महत्वपूर्ण घटक है। हिंदू संस्कृति का यह आधार और प्राण है। जाति के बिना व्यक्ति की पहचान या परिचय अधूरा रहता है। जन्म के साथ ही व्यक्ति की जाति का लेबल चिपका दिया जाता है जो मृत्यु तक उसके साथ लगा रहता है। जाति ही समाज में व्यक्ति की श्रेष्ठता और हीनता तथा सम्मान और अपमान का आधार है।

चतुर्थ अध्याय : **"दलित साहित्य और ओमप्रकाश वाल्मीकि की कविता"** इस अध्याय में प्रकृति चित्रण, वर्ण व्यवस्था, परंपरा, संस्कृति और सभ्यता का विरोध, घृणा और प्रेम, दलित वर्ग की मानसिकता का चित्रण, भूख की समस्या का चित्रण, आत्मगौरव, अस्मिता की तलाश, दलित जीवन का संघर्ष और दलित चेतना आदि समस्याओं का मूल्यांकन कर इन समस्याओं के समाधान के लिए संभावनाओं के विवेचन का विश्लेषण हुआ है।

ओमप्रकाश वाल्मीकि की कविताओं में भावमूलता है और शब्द तथा भावना को एकीकार कर सकने की जिजीविषा है। वाल्मीकि जी की प्रत्येक कविता सामाजिक परिवर्तन की जिजीविषा को सशक्त अभिव्यक्ति देती है। इन कविताओं में बड़ी आग है। आग चूल्हे की हो या कविता की, ऊष्मा ही नहीं ऊर्जा भी देती है। दलितों की सदियों की संतप्तता को उसके तीखेपन के साथ कभी सीधे और कभी प्रतीकात्मक रूप से संप्रेषित करती हैं। सामाजिक सरोकारों की एक शृंखला इन कविताओं में अभिव्यक्त हुई है।

पंचम अध्याय : **"दलित साहित्य और ओमप्रकाश वाल्मीकि का अन्य साहित्य"** में ऐतिहासिक उत्पीड़न, शोषण और दमन का विश्लेषण किया गया है। ऐतिहासिक विवरण के साथ वर्तमान का मूल्यांकन भी किया गया है। लम्बे भीषण, नारकीय दौर में वाल्मीकि समाज की

उपलब्धियों, संघर्षों की खोज की। 'दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र' की रचना दलित साहित्यान्दोलन की एक बड़ी कमी को पूरा करती हुई दलित-रचनात्मकता की कुछ मूलभूत आस्थाओं और प्रस्थान बिन्दुओं की खोज भी करती है, और साहित्य के स्थापित तथा वर्चस्वशाली गढ़ों को उन आस्थाओं के बल पर चुनौती भी देती है। दलित साहित्य और उसकी सोच एवं दृष्टि को व्याख्यायित करने का प्रयास किया गया है।

ओमप्रकाश वाल्मीकि जी ने ऐतिहासिक उत्पीड़न, शोषण और दमन का विश्लेषण किया है। उसकी ऐतिहासिक और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि का आकलन किया है, और उसके सामने खड़ी समस्याओं का विवेचन किया है। इसके लिए ऐतिहासिक विवरण ही काफ़ी नहीं हैं, वर्तमान का मूल्यांकन भी उतना ही आवश्यक है। ओमप्रकाश वाल्मीकि का उद्देश्य लम्बे भीषण, नारकीय दौर में वाल्मीकि समाज की उपलब्धियों, संघर्षों की खोज कर, ऐसी मिसाल पेश करना है जो भविष्य के अन्धकार से उसे बाहर निकलने की प्रेरणा दे सके।

ओमप्रकाश वाल्मीकि की वैचारिकता दलित साहित्यान्दोलन की एक बड़ी कमी को पूरा करती हुई दलित-रचनात्मकता की कुछ मूलभूत आस्थाओं और प्रस्थान बिन्दुओं की खोज भी करती है, और साहित्य के स्थापित तथा वर्चस्वशाली गढ़ों को उन आस्थाओं के बल पर चुनौती भी देती है। दलित साहित्य और उसकी सोच एवं दृष्टि को व्याख्यायित करने का प्रयास इस अध्याय में किया गया है।

षष्टम अध्याय: **"ओमप्रकाश वाल्मीकि का साहित्य : अभिव्यक्ति के विविध रूप "** में

दलित साहित्य कल्पना में नहीं जीता। वह जीवन के कटु यथार्थ से रूबरू होता है और यातनाओं से उपजी आक्रोशित भाषा एक तेज़ औज़ार की तरह भीतर तक झकझोर देती है। दलित समाज की बोली-बानी के ऐसे अनेक शब्द प्रकट होते हैं, जिनसे साहित्य अनभिज्ञ था। यह दलित साहित्य को ताज़गी देता है और भाषा की जड़ता को भी तोड़त है।

दलित जिस परिवेश में जीवन जीते हैं, वहाँ गन्दी गलियों में नंग-धड़ंग घूमते बच्चे हैं, दूषित वातावरण है जिसे पारम्परिक आलोचक नहीं जानते। उस परिवेश की भाषा को अश्लील कहना पूर्वग्रह ही कहा जाएगा। दलित रचनाकार ओमप्रकाश वाल्मीकि जी ने इसी भाषा को अपनाया है।

दलित लेखकों की समतामूलक, समाज व्यवस्था की स्थापना के प्रति प्रतिबद्धता के कारण दलित जीवन की त्रासदी से पुनः गुजरने जैसी पीड़ादायक अनुभूति को फिर से झेलते हुए सामाजिक दायित्व पूरा करने के लिए प्रामाणिकता के साथ (गुज़रे हुए जीवन प्रसंगों, घटनाओं, अपमान, अवहेलना को) प्रस्तुत कर रहे हैं। क्योंकि एक विशिष्ट शोषण व्यवस्था द्वारा रचे गए षड्यन्त्र के तहत यह सब हो रहा है। देश की संपूर्ण उत्पादन व्यवस्था में केवल एक श्रम बेचने वाले साधनहीन ग़ुलाम की ज़िन्दगी जीने के लिए उसे बाध्य किया गया है। किसी आकांक्षा, आशा, इच्छा या सपनों का पूरा होना उसके हिस्से में आया ही नहीं है। वाल्मीकि जी के बचपन में और बच्चों की तरह पाठशाला में जाकर शिक्षा प्राप्त करना उसके लिए सहज साध्य नहीं बल्कि एक त्रासद अनुभव है।

दलित साहित्य की भाषा गद्यात्मक और पद्यात्मक है जिसमें नकार और विरोध का स्वर मुख्य रूप से उभरता है। दलितों के जीवन की विसंगतियाँ, उत्पीड़न, शोषण और दमन की अभिव्यक्ति के लिए ओमप्रकाश वाल्मीकि ने इसी भाषा का ज़्यादा प्रयोग किया है।

अंत में 'उपसंहार' के अंतर्गत शोध कार्य से प्राप्त 'निष्कर्ष' को प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। यह मेरा सौभाग्य है कि मुझे निर्देशक आदरणीय प्रो.वी.कृष्ण जी जैसे विषय विद्वान मिले। आपके मार्गदर्शन में भी मुझे वही ताक़त, वही उत्साह, वही आत्मानुभूति दिखी जो कि एक दलित की होती है। आपका मार्गदर्शन मेरे लिए प्रेरणादायी रहा, इतना ही नहीं बल्कि मेरी समस्या और संकट में भी आपने मेरा साथ दिया। आपके मार्गदर्शन में उत्साह, स्फूर्ति, सहयोग एवं आत्मीयता मिलती है, आपने शोध के शीर्षक से लेकर शोध को संपूर्ण करने में मार्गदर्शन किया। ऐसे गुरु का मैं आजन्म ऋणी रहूँगा और आशा भी करता हूँ कि भविष्य में भी आप मेरा मार्गदर्शन करेंगे।

मैं विभागाध्यक्ष प्रो.रविरंजन जी के प्रति आभारी हूँ जिन्होंने मेरी मदद की। विभाग के सभी गुरुजनों के प्रति भी मैं आभार व्यक्त करना चाहता हूँ जिन्होंने मुझे समय-समय पर मार्गदर्शन किया।

मेरे इस शोध कार्य के समय जिन आत्मीय मित्रों ने मदद की उनमें शेषुबाबू भैया, ताथ्याराव भैया, सत्येन्दरजी, वेंकटजी, तलवार रमेश, गंगाधर, इज़्रायेल, भोजराम, बाबूराव, प्रणव, श्याम, बोंध्यालु, साबिरा बेगम, माधवी, स्नेहलता का आभारी हूँ जिन्होंने समय समय पर मेरा आत्मबल बढ़ाया, साथ ही मेरी मदद की। दलित स्टूडेंट असोशियशन, डॉ.बी.आर.अम्बेडकर स्टूडेंस असोशियशन इन सभी का मैं आभारी हूँ। इसके साथ ही हैदराबाद सेंट्रल युनिवर्सिटी इंदिरा गांधी मेमोरियल लाइब्रेरी,

उस्मानिया लाइब्रेरी, प्रत्यक्ष, अप्रत्यक्ष रूप से जिन विद्वानों ने मार्गदर्शन किया उन सभी के प्रति मैं आभार व्यक्त करता हूँ।

अंत में इस कार्य की प्रस्तुति पर मुझसे अधिक प्रसन्नता मेरे माता-पिता, सहचरी प्रेमलता, बहनों, उनके साथ मेरे भाई को होगी। उनके स्मरण के साथ मैं अपने शोध प्रबंध को पूज्य माता-पिता को समर्पित करता हूँ।

जी.प्रसाद

प्रथम अध्याय

हिन्दी का दलित साहित्य और ओमप्रकाश वाल्मीकि का व्यक्तित्व एवं कृतित्व

प्रस्तावना :

1.1.दलित शब्द की उत्पत्ति एवं अर्थ

1.2.दलित साहित्य का अर्थ एवं परिभाषा

1.3.दलित साहित्य की पृष्ठभूमि

1.4.दलित साहित्य का विकास

1.5.ओमप्रकाश वाल्मीकि का व्यक्तित्व

1.5.1.जन्म

1.5.2.शिक्षा

1.5.3.परिवार

1.5.4.व्यवसाय

1.5.5.प्रकाशित कृतियाँ

1.5.6.सम्पादन

1.5.7.अन्य

1.5.8.पुरस्कार

1.5.9.सृजन की प्रेरणा

1.6.ओमप्रकाश वाल्मीकि का कृतित्व

1.6.1.कहानियों का संक्षिप्त परिचय

1.6.1.1.सलाम कहानी संग्रह

1.6.1.1.1.वास्तविकता का एक नया पहलू : सलाम

1.6.1.1.2.मानवीय संवेदना की अभिव्यक्ति : भय

1.6.1.1.3.अमानवीय व्यवहार पर चोट : कहाँ जाएँ सतीश ?

1.6.1.1.4.मानवीय संवेदनाओं की नई त्रासदि : जिनावर

1.6.1.2.'घुस पैठिए' कहानी संग्रह

1.6.1.2.1.अपमान और यातना की चक्की : घुस पैठिए

1.6.1.2.2.दलित स्त्री अस्मिता का संघर्ष : यह अंत नहीं

1.6.1.2.3.अमानवीयता का चरम : शवयात्रा

1.6.1.2.4.पाखंडों से मुक्त : मैं ब्राह्मण नहीं हूँ

1.6.1.2.5.दलितों को अपनी जाति छुपाने की मानसिकता : दिनेशपाल जाटव उर्फ़ दिग्दर्शन

1.6.1.2.6.अत्याचार की शिकार : जंगल की रानी

1.6.2.कविता संग्रहों का परिचय

1.6.2.1.सदियों का सन्ताप

1.6.2.2.बस! बहुत हो चुका

1.6.2.3.गहरे यथार्थ का भावबोध : अब और नहीं...

1.6.3.यथार्थ अनुभवों की पीड़ा : जूठन

1.6.4.समाजशास्त्रीय अध्ययन : सफाई देवता

1.6.5.आलोचना : दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र

1.6.6.लेख-आलेख : मुख्यधारा और दलित साहित्य

निष्कर्ष

प्रथम अध्याय

हिन्दी का दलित साहित्य और ओमप्रकाश वाल्मीकि का व्यक्तित्व एवं कृतित्व

प्रस्तावना :

वैदिक काल से चली आ रही भारत के सामाजिक जीवन की सबसे पुरानी संस्था 'वर्ण-व्यवस्था' है। यह व्यवस्था हिन्दू धर्म की आत्मा है। इस व्यवस्था के मूल की जाँच पड़ताल की जाय तो, इसका मूल, वेद, भगवद्गीता, शतपथ ब्राह्मण, पुराणों और मनुस्मृति आदि महत्वपूर्ण ग्रन्थों में मिलता है। देश में अनेक सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक परिवर्तन हुए। नये-नये राज्य बने और बिगड़ते रहे। इस के फल स्वरूप नये-नये धर्मों की उन्नति और अवनति होती रही, परन्तु वर्ण-व्यवस्था का लोप न हो सका। यह आज भी अपने नये रूप के साथ विद्यमान है। प्राचीन काल में हिन्दू समाज चार वर्णों में विभाजित था।

भारतीय समाज में दलित सदियों से शोषित, पीड़ित और उपेक्षित बनकर हाशिये पर पड़े रहे हैं। शिक्षा, ज्ञान सुविधा और सम्मान से वंचित इन वर्गों को मुख्यधारा से जोडने के लिए आज़ादी के दिनों से अब तक अनेक प्रयत्न किए गए किन्तु वर्ण, वर्ग, लिंगभेद के विरूद्ध समता, सम्मान और सामाजिक न्याय की संवैधानिक अवधारणा के बावजूद इनकी स्थिति में कुछ भी परिवर्तन नहीं हुआ है। फिर भी, इनमें से कुछ एक पीढ़ियाँ शिक्षित होकर अपनी अस्मिता, अधिकार और पहचान के लिए जीवन के हर क्षेत्र में संघर्षशील दिखाई पड़ती है।

डॉ.अम्बेडकर ने यहाँ के समाज को देखा उसमें स्थित दलित समाज की पतनावस्था को देख, उनका खून उबलने लगा था क्योंकि इस घिनौनी प्रथा का शिकार उन्हें भी होना पड़ा था। उन्होंने इस वर्ण-व्यवस्था का गहन अध्ययन किया और उसमें परिवर्तन करने हेतु अनेक वर्ष राह देखी। किंतु जब इस व्यवस्था में परिवर्तन की कुछ गुंजाइश नहीं दिखी तो अपने आप को और लाखों दलितों को 'धर्म परिवर्तन' कर इस व्यवस्था से मुक्ति दिलवाई। दलितों के लिए रात-दिन संघर्ष कर उन्हें मनुष्यत्व दिलाया। उन्हें पूरे अधिकार दिलवाए। इससे दलित समाज आज जाग रहा है।

डॉ.अम्बेडकर की जो 'समता' पर आधारित विचारधारा थी उसने ही बाद में 'दलित साहित्य' के रूप में जन्म लिया। दलित साहित्य की शुरुआत पहले मराठी में हुई बाद में हिंदी में। दलित साहित्य

का प्रेरणा स्रोत, अर्थात अम्बेडकरवाद का केंद्रबिंदु सामान्य मनुष्य है। जो शोषित, पीड़ित दलित है। जिसका सामाजिक,आर्थिक, धार्मिक, सांस्कृतिक शोषण किया गया है। मार्क्सवाद का महत्व कैसा बढ़ेगा? इसका विचार किया जाता है। मनुष्य को शोषण से मुक्त कराना ही उसका मुख्य उद्देश्य है। दलित साहित्य 'मानव मुक्ति' का पुरस्कार करता है। एक तरफ़ भाग्य-भगवान पूर्व जन्म, स्वर्ग नर्क, धर्म शास्त्र और कर्मकांड का विरोध करता है तो दूसरी तरफ़ समता, स्वतंत्रता, बंधुता पर आधारित समाज की स्थापना करना चाहता है।

'दलित साहित्य' वह साहित्य है जिसमें दलितों की संपूर्ण वेदना, उत्पीड़न, वंचना, पीड़ा से उत्पन्न अभिव्यक्ति से सवर्ण समाज की व्यवस्था, संस्कृति, व हिंदुधर्म से उपजी मानसिकता का विरोध करता है। इस संदर्भ में सोहनपाल सुमनाक्षर के शब्द द्रष्टव्य हैं- "दलित साहित्य दलितोत्थान का साहित्य है। यानी वह साहित्य जो दलितों, पीडितों, शोषितों, उपेक्षित और असहाय वर्ग को उत्थान और नव विकास के लिए प्रेरित करता है। जो ऐसे व्यक्तियों को उनके गौरवमय इतिहास से परिचित कराते हुए उनकी मानवीयता की पहचान से अवगत कराता है, वह साहित्य है जो धरती से जुड़े लोगों को उनकी समस्या और दुर्दशा से अवगत कराते हुए उनके निराकर और समाधान के उपाय बताता है। दलित साहित्य वह खरा सिक्का है जो एक तरफ़ आदमी के आँसू पोंछता है तो दूसरी तरफ़ संकीर्णता को उसका रास्ता नपवाता है। व्यक्ति को उसकी औक़ात दिखाता है। उसे आदमी की हद नहीं बाँधने देता।"

ओमप्रकाश वाल्मीकि का साहित्य अपने रचनात्मक कौशल, संवेदना और शिल्प हर आयाम पर दलित साहित्य होते हुए भी यथार्थवादी साहित्य परंपरा की एक मज़बूत कड़ी है। ओमप्रकाश वाल्मीकि जी रचित कृतियों में हिन्दू समाज की वर्ण व्यवस्था के प्रति खुला विद्रोह हुआ है, जो लेखक के व्यक्तित्व की विशेषता है।

1.1.दलित शब्द की उत्पत्ति एवं अर्थ :

वर्तमान में दलित अपने अस्तित्व को बनाये रखने के लिए चिन्तित एवं जागरूक है, उनमें आत्मसम्मान की भावना बलवती हो रही है, वे समानाधिकारों की लड़ाई-लड़ने के लिए संकल्पबद्ध हैं। हमारे यहाँ दलित से तात्पर्य एक विशिष्ट दृष्टिकोण व सामाजिक आचरण से है, जिसके आधार

पर एक विशिष्ट वर्ग को सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक आधार से वंचित रखते है। इनके अधिकारों का हनन करते हुए इनको सामाजिक ढ़ांचे में इतना निम्न स्थान दिया जाता है कि वे दूसरों के स्पर्श के योग्य भी नहीं रह पाते हैं। इन्हें सामाजिक निवास की सीमाओं से बाहर कर, अध्ययन, पूजा-पाठ, कुंओं, तालाबों, घाटों के उपयोग से वंचित कर दिया जाता है।

दलित शब्द एवं दलित साहित्य का व्यापक अर्थ है परन्तु, आजकल कुछ संकीर्ण मानसिकता के लेखकों, बुद्धिजीवियों ने इसे सीमित दायरे में कर दिया है। फिलहाल हमारी कोशिश रहेगी कि विभिन्न साहित्यकारों एवं लेखकों, बुद्धिजीवियों के नज़रिये से दलित क्या है? उसे परिभाषित किया जाये। विस्तृत परिप्रेक्ष्य में दलित वह है जो किसी के द्वारा, अपमानित, पीड़ित, खण्डित, उपेक्षित, दबाया तथा शोषित किया गया हो, अर्थात् इसमें स्त्रियाँ, शूद्र वर्ग में आने वाली पिछड़ी जातियाँ एवं वे वर्ग हैं जो दलितों की भांति शिक्षा, अधिकार एवं सम्पत्ति अर्जिता करने से वंचित कर दिये गये हों।

भारत में सात-आठ दशक पूर्व से ही दलित शब्द का प्रयोग हो रहा है। दलित शब्द को लेकर आज भी विद्वानों में मतभेद हैं। आज भी साहित्य जगत स्पष्टतया दलित शब्द को लेकर दो खेमों में बटा हुआ दिखाई देता है। व्याकरणिक दृष्टि से दलित शब्द को यदि परिभाषित किया जाये तो संस्कृत के धातु 'दल' से दलित शब्द की उत्पत्ति हुई है, इसे हम निम्न रूपों में देख सकते हैं।

'दलित' शब्द से तात्पर्य - संस्कृति के 'दल' धातु में 'त' प्रत्यय लगा देने से दलित शब्द की व्युत्पत्ति होती है। इसके प्रेरणार्थक व अप्रेरणार्थक दोनों रूपों से बनने वाले दो अर्थ हो सकते हैं।

प्रेरणार्थक का अर्थ होगा- दूसरे के द्वारा तोड़ा हुआ।

अप्रेरणार्थक का अर्थ होगा- स्वयं टूटा हुआ।

'दलित' शब्द के विभिन्न शब्दकोषों में विभिन्न अर्थ दिए गए हैं उनमें से कुछ इस प्रकार हैं-

"दलित : (वी.) (स्त्री.दलिता) -

1. मसला, रौंदा या कुचला हुआ।

2.नष्ट किया हुआ।

3.खण्डित।

दलित : (वि.) - विदीर्ण कुचला हुआ।

दलित : (वि.) - (दल + क्त) टूटा हुआ।

दलित पी.पी. - ब्रोकन, टार्न, बर्स्ट, रेन्ट स्प्लिट।"[1]

हिन्दी के अलावा प्राकृत शब्द के अनुसार दलित शब्द 'दल' धातु से उत्पन्न हुआ है-

"1.दल- (सक) चूर्ण करना, टुकड़े करना, विदारना।

2 .दल- (अक) विकसना, फटना, खण्डित होना, द्विधा होना।

3.दल- (नष्ट) सैन्य, लड़कर, पत्र, पत्ती।"[2]

अतः स्पष्ट है कि दलित शब्द का अर्थ जिसका दलन और दमन हुआ है, मीड़ा, मर्दित, रौंदा, खंडित, टुकड़े-2, विनष्ट, पस्त हिम्मत, हतोत्साहित, वंचित, उत्पीड़ित, कुचले हुए, मसले हुए, दबाए गए शोषित तथा सताये गये जनों के लिए ही प्रयुक्त हुआ है। प्राचीन समय में 'दलित' के लिए अंत्यज, शूद्र, चांडाल आदि शब्दों का प्रयोग किया जाता था।

'दलित' के संकुचित अर्थ के अन्तर्गत केवल वर्ण के आधार पर अस्पृश्य, शोषित, पीड़ित लोग ही आएँगे।

'दलित' के व्यापक अर्थ के अन्तर्गत वर्ण और वर्ग दोनों के आधार पर शोषित, उपेक्षित सताए गए सभी लोग आ जाएँगे भले ही वे किसी भी वर्ण, वर्ग, लिंग के क्यों न हों।

भारत की समूची सामाजिक व्यवस्था का आधार एक शरीर के रूप में माना गया। शरीर के भिन्न-भिन्न अंगों के भिन्न-भिन्न कार्य होते हैं। किसी भी अंग की नहीं की जा सकती। ब्रह्मा के शरीर से हमारे चातुर्वर्ण्य समाज की उत्पत्ति मानी गई और इस चातुर्वर्ण्य समाज के चारों वर्णों के अलग-अलग कार्य हैं, जिनके आधार पर समाज रूपी शरीर चलता है। ऋग्वेद में उल्लेख किया गया है कि-

"ब्राह्मणों स्वमुख, मासीत, बाहू राजन्य : कृत।

उरू तदस्य वैश्य, पद्भ्या शुद्रोजावत।।"[3]

---

[1]. बीसवीं सदी की हिन्दी दलित कविता, रमेशचन्द्र चतुर्वेदी, पृ.41

[2].दलित विमर्श के विविध आयाम, डॉ.वीरेन्द्र सिंह यादव, पृ.2

[3]. बीसवीं सदी की हिन्दी दलित कविता, रमेशचन्द्र चतुर्वेदी, पृ.42

अर्थात् ब्रह्मा ने अपने मुख से ब्राह्मण, भुजा से क्षत्रिय, जंघा से वैश्य एवं पाद से शूद्रों को उत्पन्न किया है। समाज रूपी शरीर में सबसे ऊँचा स्थान ब्राह्मण का है जिनका कार्य ज्ञान, ध्यान, दान करना है। ब्राह्मण से नीचे क्षत्रीह है जिनका कार्य रक्षा करना है। और सबसे नीचे शुद्रों का स्थान हैं जिनका कार्य सभी की सेवा करना है।

इस प्रकार समाज रूपी शरीर का भार पैरों पर है जिनसे शूद्र की उत्पत्ति मानी गई है। इसका वर्णन मनुस्मृति में है-

"ब्राह्मणस्य तपोज्ञानं क्षत्रस्य रक्षवम्।

वैशस्य तु तपो वार्ता तपः शूद्रस्य सेवनम्।।"[1]

अर्थात् ब्राह्मण का तप ज्ञान , क्षत्रिय का तप प्रजा का रक्षण, वैश्य का तप वार्ता (खेती, व्यापार और पशुपालनादि) और शूद्र का तप सेवा करना है।

दलित शब्द की परिभाषा को हम प्रमुख लेखकों की दृष्टि में देखें तो इस प्रकार है -

डॉ.राजेन्द्र यादव के अनुसार- "दलित की श्रेणी में स्त्री, पिछड़ी जाति एवं दलित वर्ग के लोग आते हैं।"[2] यानी जिसको आसानी से दबाया, कुचला जा सके ही दलित है।

प्रसिद्ध मराठी एवं दलित लेखक नारायण सूर्वे 'दलित' शब्द की मिली-जुली परिभाषाएँ देते हैं कि- "केवल बौद्ध या पिछड़ी जातियाँ ही नहीं समाज में जो भी पीड़ित हैं, वे दलित हैं। ईश्वर निष्ठा या शोषण निष्ठा जैसे बन्धनों से आदमी को मुक्त रहना चाहिए। उसका स्वतंत्र अस्तित्व सहज स्वीकार किया जाना चाहिए। उसके सामाजिक अस्तित्व की धारणा, समता, स्वतंत्रता और विश्व बंधुत्व के प्रति निष्ठा निर्धारित होनी चाहिए।"[3] यानी पीड़ित व्यक्ति को बन्दनों से मुक्त होकर, सामाजिक एवं अपने अस्तित्व के प्रति निष्ठावान होना चाहिए।

मोहनदास नैमिशराय दलित शब्द की व्यापकता को रेखांकित करते हुए लिखते हैं कि- "दलित शब्द मार्क्स प्रणीत सर्वहारा शब्द के लिये समानार्थी लगता है। लेकिन इन दोनों में पर्याप्त भेद भी हैं।

---

[1]. बीसवीं सदी की हिन्दी दलित कविता, रमेशचन्द्र चतुर्वेदी, पृ.42

[2]. हंस-राजेन्द्र यादव, अगस्त-2004, पृ.4

[3].दलित विमर्श के विविध आयाम- डॉ.वीरेन्द्र सिंह यादव, पृ.3

दलित की व्याप्ति अधिक है, तो सर्वहारा की सीमित ! दलित के अन्तर्गत सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक शोषण का अन्तर्भाव होता है, तो सर्वहारा केवल आर्थिक शोषण तक ही सीमित है लेकिन प्रत्येक सर्वहारा को दलित कहने के लिये बाध्य नहीं हो सकते....अर्थात् सर्वहारा की सीमाओं में आर्थिक विषमता का शिकार वर्ग आता है, जबकि दलित विशेष तौर से सामाजिक विषमता का शिकार होता है।"[1] यानी सर्वहारा सीमित परिधि में आर्थिक विषमता का शिकार है जबकी दलित की व्याप्ति अधिक सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक विषमता का शिकार हैं।

प्रमुख दलित चिंतक ओमप्रकाश वाल्मीकि के शब्दों में कहें तो, "दलित शब्द व्यापक अर्थ बोध की अभिव्यंजना देता है, भारतीय समाज में जिसे अस्पृश्य माना गया वह व्यक्ति ही दलित है। दुर्गम पहाड़ों वनों जातियाँ सभी इस दायरे में आती हैं। सभी वर्गों की स्त्रियाँ दलित हैं। बहुत कम श्रम-मूल्य पर चौबीसों घण्टे काम करने वाले श्रमिक, बंधुआ मज़दूर दलित की श्रेणी में आते हैं।"[2]

दलित शब्द को संवैधानिक प्रश्नों से जोड़ते हुए डॉ. श्यौराज सिंह बेचैन की धारणा है कि- "दलित वह है जिसे भारतीय संविधान ने अनुसूचित जाति का दर्जा दिया है।"[3]

कंवल भारती का मानना है कि- "दलित वह है जिस पर अस्पृश्यता का नियम लागू किया गया है। जिसे कठोर और गन्दे कार्य करने के लिये बाध्य किया गया है जिसे शिक्षा ग्रहण करने और स्वतंत्र व्यवसाय करने से मना किया गया और जिस पर सछूतों ने सामाजिक निर्योग्यताओं की संहिता लागू की वही और वही दलित है और इसके अन्तर्गत वही जातियाँ आतीं हैं, जिन्हें अनुसूचित जातियां कहा जाता है।"[4] यानी दलित वह है जिन्हें सछुतों ने निर्योग्य, अस्पृश्य, अनुसूचित जाती करहा है।

इसी प्राकार माता प्रसाद दलित शब्द के विस्तार को रेखांकित करते हुए लिखते हैं कि- "दलित शब्द का अर्थ बड़ा व्यापक है। इसमें दबाये गये, अपमानित, पीड़ित उपेक्षित, शोषित सभी आते हैं।

---

[1]. दलित विमर्श के विविध आयाम- डॉ.वीरेन्द्र सिंह यादव, पृ.3

[2].दलित साहित्य का सौन्दर्य शास्त्र - ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.14

[3].दलित विमर्श के विविध आयाम-डॉ.वीरेन्द्र सिंह यादव, पृ.3.

[4]. दलित विमर्श के विविध आयाम- डॉ.वीरेन्द्र सिंह यादव, पृ.3

इसमें स्त्रियों और शूद्र वर्ग में आने वाली पिछड़ी जातियां और अति पिछड़ी जातियां भी है जो दलितों की भांति, शिक्षा सम्पत्ति एकत्र करने से वंचित हैं और अपमानजनक जीवन जीने को विवश हैं।"[1] यानी दलित शब्द ऐसे व्यक्ति पर रूढ़ है जो हर प्रकार से प्रताड़ित किया गाया हो।

दलित शब्द की परिभाषा को मनुष्यता से जोड़ते हुए डॉ. धर्मवीर का मानना है कि- "दलित एक मनुष्य पैदा होता है। मनुष्य एक सम्भावना है। हर दलित व्यक्ति मनुष्य की सम्भावनाओं से भरपूर पैदा होता है, वे लोग मनुष्य के दुश्मन कहे जायेंगे जो मनुष्य की सम्भावनाओं पर किसी भी रूप में रोक लगाते हैं। दूसरी तरफ से, इस चिंतन से इतना और कहने की जरूरत है कि मनुष्य केवल हिन्दू नहीं है अर्थात् दलित भी मनुष्य है।"[2] मनुष्य को वर्गों एवं वर्णों में न बाँट कर मनुष्य बने रहने देने में हि मनुष्यता एवं मानवीयता है।

दलित शब्द को समग्रता से जोड़ते हुए बाबूराम बागूल का मानना है कि- "'दलित' विशेषण एक सम्यक क्रांति का नाम है जो कि क्रांति का साक्षात्कार है।"[3]

प्रस्तुत परिभाषाओं-शब्द कोशीय एवं मानवीय आधार के अनुसार यह निष्कर्ष निकलकर आया कि दलित शब्द का प्रयोग समाज-व्यवस्था के सबसे निचले स्तर के लोगों के लिये प्रयोग में लाया जाने वाला शब्द है और समाज का ऊँचा तबक़ा जिसको हेय एवं अछूत तथा अन्त्यज की श्रेणी में रखता है। यहाँमानवीयता और मनुष्यता के लिये कोई स्थान नहीं है और इस श्रेणी (दलित) का व्यक्ति कितना भी प्रगतिशील एवं पढ़ा लिखा क्यों न हो सवर्ण समाज उसकी जातीय हैसियत को आंक कर ही उसे अपनी बराबरी का दर्जा देता है। अर्थात् इस दलित, शोषित, पीड़ित व्यक्ति को संविधान में अनुसूचित जातियों के रूप में रेखांकित किया गया है।

आज यह मान्यता प्रबल रूप में हमारे सामने है कि कार्य के आधार पर वर्ण न होकर जन्म के आधार पर वर्ण होता है और वर्ण के आधार पर जिसका शोषण हुआ और हो रहा है वो दलित है।

शूद्रों के अतिरिक्त समाज के निर्धन और निर्बल वर्ग को भी डण्डे या पैसे के जोर पर पशुवत

---

[1]. दलित साहित्य दशा एवं दिशा- माता प्रसाद, पृ.4

[2]. दलित साहित्य दशा एवं दिशा- माता प्रसाद, पृ.73

[3].दलित विमर्श के विविध आयाम- डॉ.वीरेन्द्र सिंह यादव, पृ.4

बनाए रखा गया हैं। इससे एक और वर्ग सामने आया है जिसे दास कहा गया। इसके साथ अत्यन्त खराब व्यवहार किया जाता था, शोषण किया जाता था। वस्तुओं की तरह इनकी भी बाजार में खरीद-फरोख्त की जाती थी, आज यही दास बंधुआ मजदूरों, बटाईदार किसानों आदि के रूप में हमारे सामने है। विश्वभर में और विशेषतः भारत, पाकिस्तान और ब्राजील में जबरन गुलामी और श्रम आचरण के चलते बच्चों सहित लाखों लोग बंधुआ, खतरनाक और अपमानजनक परिस्थितियों में काम करने को बाध्य हैं।

सम्पत्ति बटोरने वाले इस समाज में बच्चों को धन इकट्ठा करने के साधन बना दिए गए हैं। भारत की कुल श्रम शक्ति का करीब पाँच प्रतिशत हिस्सा बच्चे पूरा कर रहे हैं।

आज हम हर छोटे कस्बे से लेकर बड़े-बड़े शहरों के होटलों में दुकानों में और तमाम जगहों पर बच्चों का शोषण होते देख सकते हैं, इस प्रकार समाज में जिन बच्चों का शोषण हो रहा है वे 'दलित' है। महादुर्भाग्य है हमारे राष्ट्र का जहाँ गाय को माता मानकर उसकी पूजा की जाती है, उसी देश में स्त्री को पत्नी और बहू के रूप में ज़िन्दा जला दिया जाता है। इस प्रकार की प्रताड़ित महिलाएँ भी दलित हैं।

आज समाज की सामाजिक व्यवस्था का आधार आर्थिक हो गया है, लेकिन इसमें भी शोषण हो रहा है। एक तरफ़ बहुमंज़िला अट्टालिकाओं में रहने वाला वर्ग है, जिसे समस्त सुविधाएँ सुलभ हैं और दूसरी तरफ अट्टालिकाओं को आकार देने वाले वे हाथ, जो ताउम्र अपनी झोपड़ी बनाने की तलाश में इंतज़ार के प्लेटफार्म पर बैठे रहते हैं।

एक तरफ़ तो स्वस्थ्य, गाड़ियों, बंगलों और भारी जमा धनराशियों वाले चेहरे हैं और दूसरी तरफ उनको निहारते गरीब, काले, भूखे, नंगे, मोहताज हैं। एक-दूसरे प्रकार की अस्पृश्यता है जो गरीबी को सबसे बड़ा अभिशाप मानती है।

स्पष्ट है कि दलित शब्द आधुनिकता का बोध कराता है परन्तु दलितपन की संज्ञा ऐतिहासिकता एवं प्राचीनता की ओर उन्मुख करती है। ऐतिहासिक दस्तावेजों की बात करें तो प्राचीनकाल में दलित शब्द के परिवर्तित रूप शूद्र, अतिशूद्र, चांडाल, अन्त्यज, अस्पृश्य चांडाल, अवर्ण, पंचम, हरिजन आदि विशेषणों-उपमानों की दुःखद ऐतिहासिक सांस्कृतिक यात्रा के बाद अपने वजूद की तलाश में है। दलित शब्द कुल मिलाकार इन सब शब्दों का पर्यायवाची माना जा सकता है।

1.2.दलित साहित्य का अर्थ एवं परिभाषाएँ :

'दलितों का साहित्य' अर्थात् दलितों की पीड़ा, व्यथा, दर्द, दुःख, अत्याचार, शोषण एवं आकांक्षाएँ आदि को लेकर लिखा गया साहित्य और दलित साहित्य का अर्थ दलितों को केन्द्र में रखकर लिखित साहित्य ही है।

'दलित साहित्य' को हम दो रूपों में देख सकते हैं। एक तो दलितों के द्वारा, दलितों के बारे में, दलितों के लिए लिखा गया साहित्य और दूसरा दलितों के बारे में गैर दलित लेखकों का साहित्य। इस पर विभिन्न विद्वानों के बीच विवाद का जन्म भी हुआ, किन्तु जो भी हो जिस साहित्य में दलित-जीवन की संवेदना को प्रखरता से पकड़ा जाता है, वही दलित साहित्य है।

डॉ. गजानन चव्हाण के अनुसार "दलित साहित्य दलितों की मुक्ति के लिए दलित लेखकों द्वारा दलितों पर लिखा गया साहित्य है।" [1]

इस परिभाषा के तीन आयाम हैं। दलितों पर लिखे हुए होने से दलित साहित्य उत्थान और नव विकास के लिए प्रेरित करता है, दलितों की मुक्ति का उद्देश्य उसे मुक्ति आन्दोलन की प्रक्रिया के साथ जोड़ देता है और दलितों द्वारा लिखे होने से उसके अनुभवजन्य लेखकीय साझेदारी का आयाम प्राप्त होता है। सुप्रसिध्द मार्क्सवादी विचारक, डॉ.मैनेजर पाण्डेय ने अपने एक साक्षात्कार में अनूप शुक्ल द्वारा पूछे गये प्रश्नों का उत्तर देते हुए दलित साहित्य को परिभाषित किया। उन्हीं के शब्दों में "दलितों का अपने बारे में लिखा साहित्य ही दलित साहित्य है।"[2]

डॉ. एन. सिंह ने दलित साहित्य को परिभाषित करते हुए कहा है कि "दलित साहित्य की शक्ति, 'कला' नहीं 'सत्य' है। इसलिए दलितों द्वारा दलितों के लिए लिखे गए साहित्य को दलित साहित्य कहूँगा।"[3]

इसी क्रम को आगे बढ़ाते हुए डॉ.गंगाधर पान्तावणे ने एक साहित्यिक सम्मेलन के उद्घाटन भाषण में कहा था "भाइयों हमारे साहित्य की प्रेरणा केवल डॉ. बाबा साहेब अम्बेडकर और उनकी

---

[1]. भाषा,मार्च-अप्रैल,1993,पृ.24

[2]. युध्दरत आम आदमी, दलित चेतना कविता विशेषांक-31,पृ.181

[3]. युध्दरत आम आदमी, दलित चेतना कविता विशेषांक-31,पृ.204

क्रांतिकारी विचार-धारा है। इसमें कोई संदेह नहीं कि समालोचक दलित साहित्य का रिश्ता कभी मार्क्सवाद से तो कभी हिन्दुत्ववाद से या सभी नीग्रो साहित्य से जोड़ते हैं। मैं इस अम्बेडकर विचार मंच पर फिर एक बार दोहराता हूँ कि हमारे दलित साहित्य की प्रेरणा, न मार्क्सवाद है न हिन्दुत्ववाद, न नीग्रो साहित्य है--अछूत नहीं था और नहीं है।"[1]

इस परिभाषा से स्पष्ट होता है कि मार्क्सवाद और हीन्दुत्व वाद की बजाय बाबा साहेब की क्रांतिकारी विचार-धारा से प्रभावित होकर दलितों द्वारा दलितों के लिए दलित जीवन की अभिव्यक्ति ही दलित साहित्य है।

'दलित साहित्य की अवधारणा और प्रेमचन्द' विषयक राष्ट्रीय संगोष्ठी में अध्यक्षीय वक्तव्य देते हुए मोहनदास नैमिशराय ने दलित साहित्य को परिभाषित करते हुए कहा कि "दलित साहित्य दलितों का ही हो सकता है। क्योंकि उन्होंने जो नारकीय उपेक्षा पूर्ण जीवन जिया है। वह कल्पना की चीज नहीं है। दलित साहित्य ज़ख्मी लोगों का दस्तावेज़ है।"[2]

डॉ. वानखेड़े के शब्दों में "दलित लेखकों द्वारा दलितों के विषय में लिखा साहित्य दलित साहित्य है।" [3]

हिन्दी दलित साहित्य के सबसे अधिक समर्थ समझे जाने वाले रचनाकार ओमप्रकाश वाल्मीकि ने भी दलित साहित्य की परिभाषा दी है। उनके अनुसार - "वर्ण व्यवस्था से उपजी घोर अमानवीय स्वतंत्रता-समता विरोधी सामाजिक अलगाव की पक्षधर सोच को परिवर्तित कर बदलाव की प्रक्रिया को तेज करना साहित्य की मूल-भूत संवेदना है।"[4]

जाहिर है कि दलित साहित्य की लोक प्रियता इन दिनों बढ़ती जा रही है। आज हिन्दी में जो दलित साहित्य दलितों द्वारा रचित है। आज दलित लेखक विशिष्ट जाति या समूह द्वारा जो साहित्य लिखा जा रहा है उसे दलित साहित्य के अंतर्गत रखने का विरोध करते हैं। इन के विरोध से साहित्य का फ़लक सीमित होने की संभावना है। अतः कुछ लोग मानते हैं कि गैर दलित लेखन को भी दलित

---

[1]. युध्दरत आम आदमी, दलित चेतना-सोच विशेषांक-36,पृ.26

[2]. युद्धरत आम आदमी, दलित चेतना-सोच विशेषांक-36,पृ.233

[3]. हंस, अक्टूबर-1992,पृ.23

[4].प्रज्ञा साहित्य, अंक-मार्च-जून-1995, पृ.8

साहित्य के अंतर्गत स्थान दिया जाना चाहिए। मस्तान कपूर का मत है कि "मेरे विचार से दलित साहित्य को दलित लेखकों द्वारा अपने घरके चिथड़े बिखेरने तक ही सीमित नहीं रखा जाना चाहिए यह अत्यंत शक्ति शाली धारा है और इस की संभावनाएँ हैं। गैर दलितों को भी पूरी गंभीरता के साथ इसमें प्रवृत्त होना चाहिए।"[1]

साहित्यिक एवं सांस्कृतिक मंच, द्वारा आयोजित हिन्दी दलित साहित्य लेखन और चिंतन फिर चर्चा विषय के सम्बंध में डॉ. राजनारायण राय द्वारा पूछे गये प्रश्नों का उत्तर देते हुए श्री माता प्रसाद ने भी कहा है कि "दलित साहित्य केवल दलितों का लेखन नहीं है बल्कि जिन्होंने भी उसकी पीड़ा का अनुभव करके उन पर साहित्य सृजन किया है वह सृजन दलित साहित्य की श्रेणी में आता है।"[2] दलित साहित्य की लोकप्रियता देखने से अब यह आवश्यक नहीं लगता कि दलित साहित्य वही हो जो दलितों द्वारा दलितों के लिए लिखा गया हो। दलित साहित्य वह भी है जिसमें दलित संवेदनाओं का विवेचन हो, दलितों की भावनाओं, उनके दुःख दर्द का समावेश हो।

सुप्रसिद्ध हिन्दी दलित साहित्यकार कंवल भारती के विचार इस संदर्भ में उल्लेखनीय है "दलित साहित्य दलितों के लिए ही नहीं है, पूरे समाज के लिए है। दलित, गैर दलित, प्रगतिशील लेखकों के लक्ष्य एक हैं। हम जातिवाद खत्म करना चाहते हैं, वे वर्गवाद खत्म करना चाहते हैं। बहस गाँधी, मार्क्स, अम्बेडकर पर एक साथ चलनी चाहिए और देखना चाहिए कि दलितों की जीवन स्थिति के बारे में उनका आकलन क्या है।"[3]

दलित साहित्य दलितों की स्थितियों सीमाओं और संभावनाओं को सामाजिक परिप्रेक्ष्य में चित्रित करता है। डॉ. सोहनपाल सुमनाक्षर का कथन हैं कि "दलित साहित्य का मूल आधार दलितोत्थान है। अतः किसी भी साहित्यकार द्वारा दलितोत्थान हेतु लिखा गया साहित्य दलित साहित्य की सीमा में आता है।" [4]

---

[1]. कलके लिए -दिसम्बर-1994,पृ.12

[2]. युद्धरत आम आदमी, दलित चेतना-साहित्य विशेषांक-34-35,पृ.47

[3]. युद्धरत आम आदमी, दलित चेतना-सोच विशेषांक-36, पृ.235

[4]. आजकल-अक्टूबर-1992, पृ.16

उपर्युक्त मंतव्यों से स्पष्ट होता है कि कुछ आलोचक दलित साहित्य को आर्थिक दृष्टि से दलित शोषित समाज का दर्पण मानते हैं और कुछ उसे अस्पृश्य समझे जाने वाले मानव-समूह की दुःखद गाथा समझते हैं। इस प्रकार हमारे सामने दो भिन्न मत दिखाई पड़ते हैं।

आरंभिक मत के अनुसार दलित साहित्य के अंतर्गत सामाजिक और आर्थिक रूप से शोषित सभी समुदायों का समावेश कर दलित साहित्य को एक व्यापक रूप देना चाहिए। लेकिन इसे व्यापक रूप देने से दलित साहित्य अर्थवत्ता का अतिक्रमण करके अस्पृश्यता के मूलभूत सामाजिक प्रश्नों से अलग हट जाता है। इस संदर्भ में राजा ढाले का साफ़ कहना है कि "हमारा साहित्य आज दलित साहित्य के नाम से पहचाना जाता है। कुछ लोग दलित शब्द से ध्वनित होने वाली अस्पृश्यता को भूलकर आर्थिक रूप से शोषित दशा को ही अपनी वेदना समझकर व्याख्या कर रहे हैं। अस्पृश्यता नष्ट करने का इससे सरल रास्ता और कौन सा हो सकता है कि अस्पृश्यता को हम खुद ही भूल जाएँ। अपना दुःख भूलकर जो दूसरों का दुःख अपनाकर सीने पर बोझ की तरह ढो रहे हैं वे अपनी अस्मिता को भूल गये हैं। जो अपनी अस्मिता को समझ नहीं पाये है वहीं अस्पृश्यता के बदले आर्थिक दशा को महत्वपूर्ण समझ रहे हैं। वे यह भूलते हैं कि बद त्तर आर्थिक दशा का मूल भी अस्पृश्यता के निर्मित कटघरे में ही है।"[1] राजा ढाले उन साहित्यकारों का विरोध करते हैं जो अस्पृश्यता के बदले आर्थिक दशा में दलित साहित्य के स्रोत ढूंढ रहे हैं।

दलित साहित्य के पक्ष में यह कहना ग़लत नहीं होगा कि अनुभूति की प्रामाणिकता साहित्य में अपेक्षाकृत अधिक है। क्योंकि दलित लेखक घटना-परिघटनाओं का स्वयं साक्षी है। गैर दलितों ने दलित जीवत विषयक साहित्य रचा है। लेकिन यह सहानुभूति और संवेदना के विस्तार का प्रश्न है। गैर दलितों के विपुल साहित्य-भंडार में दलितों पर नगण्य सामग्री है वह भी ज्यादातर काल्पनिक एवं अप्रामाणिक। अनुभूति की प्रामाणिकता तो स्वयं दलितों द्वारा रचित साहित्य में है और दलितों में चेतना जगाने की शक्ति जिस लेखन में है वही दलित साहित्य है।

---

[1]. अस्मितादर्श-दिवाली-अंक-1976, पृ.14

1.3.दलित साहित्य की पृष्ठभूमि :

किसी भी युग का सम्वेदन जब साहित्य एवं उसकी रचनात्मकता में अभिव्यक्त होता है तो वह अपने समस्त और समग्र जीवन के सन्दर्भों और सम्बन्धों से जुड़ जाता है। साहित्य रूपी लोकतंत्र वह प्रणाली है,जो लोगों को स्वतंत्रता प्रदान करती है, मूलतः लोकतंत्र व्यक्ति स्वातंत्र्य की अभिव्यक्ति है। रचना की भांती आलोचना भी एक स्वायत्त वैचारिक संघटना है। इसी वैचारिक स्वायत्तता की दृष्टि से दलित साहित्य की अवधारणा पर विचार करें तो वर्तमान समय में दलित साहित्य दो खेमों में बंटा नज़र आता हैं यही नहीं समाज एवं राजनीतिक में भी इसने अपनी दस्तक दी है। विद्वानों की दृष्टि में जहाँ एक ओर 'दलित साहित्य' उत्कृष्ट साहित्य है वहीं दूसरी ओर कुछ दलित साहित्य का वजूद ही नहीं है। दोनों पक्षों के अपने-अपने प्रबल तर्क एवं अवधारणाएँ भी हैं, परन्तु यहाँ पर हम इतना कहना चाहेंगे कि आज दलित साहित्य ने अपनी पहचान स्थापित कर ली है और अब यह नवोन्मेष की प्रक्रिया से गुज़र कर अपनी प्रौढ़ावस्था में प्रवेश कर चुका है। दलित साहित्य के माध्यम से वर्तमान में दलित अपनी अस्मिता को पहचानने का भरसक प्रयास कर रहा है। वह अपने आप एवं समाज के तथाकथित पहलूओं से प्रश्न पूछ रहा है कि आखिर दलित कौन है, उसकी स्थिति क्या है, क्या थी? और उसकी इस स्थिति के लिए वास्तव में कौन उत्तरदायी है, उसकी संस्कृति एवं पूर्वजों की पहचान क्या है? इस चिंतन एवं अभिव्यक्ति को क्या दलित साहित्य कहते हैं? दलित समुदाय के बीस से पच्चीस करोड़ लोग अपने आपको आर्य हिन्दुओं से सामाजिक समरसता एवं न्याय की गुहार लगा रहे हैं कि आखिर हममें ऐसी कौन-सी शारीरिक एवं मानसिक रूप से कमी है कि आप हमें धर्मान्धता एवं असमानता की बेड़ियों में सदियों से कसते चले आ रहे हैं?

आज दलित साहित्य को समझने के लिए देश, राजनीति और समाज की पृष्ठभूमि को एक व्यापक फलक पर समझने, परखने और देखने की आवश्यकता है। 19 वीं सदी के शुरुआती दौर में पनपी दलित चेतना का चरमोत्कर्ष महात्मा ज्योतिबाराव गोविन्दराव फुले के साहित्य और सामाजिक कार्यों में दिखाई देता है। सत्य शोधक डॉ.भीमराव अम्बेडकर तक का लम्बा रास्ता ही दलित, शोषित, उत्पीड़ित वर्ग की चिन्ताओं और संघर्षों का इतिहास है और यही दलित साहित्य की प्रेरणा का स्रोत भी। दलित साहित्य जिन चुनौतियों का सामना आजादी के 63-64 वर्ष बाद भी कर रहा है, वह वस्तुतः हमारी राजनीतिक और सामाजिक-आर्थिक विकास के असंतुलन की उपज है। ये स्थितियाँ हज़ारों साल

पुरानी संस्कृति की देन कही जा सकती हैं।

दलित साहित्य की पृष्ठभूमि को यदि हम तलाश करें तो यह सर्वप्रथम महाराष्ट्र की पावन भूमि में उपजी, क्योंकि मराठी क्षेत्र के दलितों के लिये शिक्षा के दरवाजे बहुत पहले खुल गये थे। यही नहीं इससे भी महत्वपूर्ण एक तथ्य यह है कि महाराष्ट्र प्रान्त की शोषित, पीड़ित, दीन हीन, दलित मानवता को ऐसे महापुरुषों का साहित्य मिला जिसके द्वारा इनका उद्धार हुआ इन महापुरूषों में महात्म ज्योतिबा फुले, डॉ.अम्बेडकर एवं राजर्षि शाहू जैसे शूरवीर एवं क्रांतिकारी जननायक जिनकी प्रेरणा इन्हें मिली। ऐसी प्रेरणा हिन्दी भाषी प्रदेश के दलित-वर्ग एवं दलित मानवता को किसी से नहीं मिली। "वास्तव में मराठी का दलित साहित्य आंदोलन फूले और अम्बेडकर की प्रेरणा से निकली चिनगारी का ही भड़का हुआ विद्रोह रूपी अग्निकांड है।"[1] स्पष्ट है कि दलित साहित्य की भावभूमि फुले, अम्बेडकर एवं शाहू के विचार-चिंतन तथा इनके द्वारा किये गये परिवर्तनों के संघर्षों से उपजी है। इनका स्पष्ट नज़रिया ईश्वर के अस्तित्व को नकारते हुए वर्ण व्यवस्ता को पूरी तरह समाप्त कर मानव को मानव की समानता तक लाने का है। इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए डॉ.भीमराव अम्बेडकर ने लिखा है कि- "भारतीय समाज का तानाबाना अभी भी जाति व्यवस्था पर आधारित है। और भारतीय समाज के विभिन्न स्तरों में परिवर्तन का निर्धारण भी जाति के आधार पर होता है। प्रत्येक हिन्दू (यहाँइसका प्रयोग व्यापक अर्थ में किया जा रहा है) जिस जाति में जन्म लेता है उसकी वह जाति ही उसके धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक और पारिवारिक जीवन का निर्धारण करती है। यह स्थिति माँ की गोद से लेकर मृत्यु की गोद तक रहती है।"[2]

डॉ.अम्बेडकर की इस धारणा के पीछे उनका अपना जीवन अनुभव था क्योंकि तत्कालीन समय में दलितों का आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक शोषण एवं दलन जारी था। इस सामाजिक व्यवस्था की पृष्ठभूमि में भारतीय वर्ण व्यवस्था, चातुर्वर्ण्य व्यवस्था मुख्य कारण थी। जातियाँ हर जगह थीं और ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर इनके अपने अलग-अलग कार्यों का निर्धारण होता था। अध्यापन करने वाला अध्यापक एवं लोहे का काम करने वाला लोहार, घड़ा बनाने वाला कुम्हार

---

[1]. हिन्दी साहित्य में दलित चेतना- डॉ.आनन्द कुमार वास्कर, पृ.8

[2]. डॉ.अम्बेडकर वाड़मय, खण्ड-6, पृ.21,22

एवं चर्म का कार्य करने वाला चर्मकार होता था। पेशे के आधार पर इन जातियों के लिये कोई सख़्त नियम नहीं था और एक बार में कोई भी किसी भी पेशे से जुड़ सकता था परन्तु कुछ दिन बाद यह जातियाँ रूढ़ि हो गयीं और कार्यों के आधार पर इनमें असमानता की भावना घर कर गई। यह स्थिति आगे चलकर इतनी विस्फोटक हो गई कि यदि धोके से या वास्तव में चर्मकार का लड़का पढ़कर अध्यापन करने लगा हो तो उसे पंडित कदापि नहीं कहा जा सकता है वहीं दूसरी ओर ब्राह्मण वर्ग का द्विवेदी, त्रिवेदी, चतुर्वेदी, जिनकी संतानों ने वेदों को कभी आंखों से भी न देखा हो यही नहीं उसे चाहे अक्षर ज्ञान भी न हो तब भी वह कहलायेगा द्विवेदी, त्रिवेदी, चतुर्वेदी ही। इसी विषम परिस्थितियों को लेकर अपनी चिन्ता से डॉ.अम्बेडकर ने बहुत पहले ही अवगत करा दिया था। यहाँ मूल प्रश्न यह है कि आखिर साहित्य-साहित्य होता है और इसे किसी खण्डों या जाति विशेष के ढांचे में बांधना संकीर्णता का द्योतक माना जाता है।

दलित साहित्य वर्तमान में लिखा जा रहा है वह सामाजिक परिवर्तन के साथ-साथ एक विशाल समुदाय के शोषण अधिकार संघर्ष तथा अस्मिता को दिलाने वाला साहित्य है। आक्रोश में बोले गये वाक्य की भाषा वही व्यक्ति समझ सकता है जो अपमानित, प्रताड़ित, शोषित तथा सामाजिक अधिकरों से वंचित रहा हो। इसमें कोई दो राय नहीं है। कि यह भाषा सामने वाले साहित्यिक मानदण्डों के अनुरूप लगे और इसमें आनन्द एवं रस की अनुभूति हो। परन्तु इस भाषा में बिम्बों, प्रतीकों, मिथको एवं मुहावरों का प्रयोग भले न हो परन्तु सदियों के संताप को एवं यथार्थ को कोई भी भोक्ता इसे पढ़कर समझ सकता है क्योंकि दलित साहित्य किसी भी समस्या से वाक़िफ़ होने के लिये उसके मूल वस्तुगत यथार्थ को परखता है। छिपी हुई वस्तु एवं मानदण्डों का कोई अस्तित्व नही होता है। जो सामने है वह दिखेगा ही बस आँख एवं चश्मे का सन्तुलन होना अनिवार्य है अर्थात् लेखक का महत्वपूर्ण दायित्व यह है कि वह तत्कालीन वस्तु को गहराई से विश्लेषित करके उसकी जटिलता की तह तक जाकर उसके सत्य को उद्घाटित करे। डॉ.अम्बेडकर के शब्दों में कहें तो "हमारे जीवन, कर्तव्य, संस्कृति की ओर हमारा ध्यान नहीं है। अन्तर्मुख होकर विचार करने से हमारे सामने वह भयावह स्थिति स्पष्ट हो जायेगी कि हमारे जीवन-मूल्य और सांस्कृतिक मूल्यों को बचाने के लिये दलित साहित्यकारों को जागरूक और प्रयत्नशील हो जाना चाहिए। तुम्हारे उपन्यास, कथाओं की सीता लक्ष्मण रेखा पार करके आगे जा चुकी है। दुर्योदन के दरबार में द्रौपदी का वस्त्र हरण हो रहा है। शकुन्तला को दुष्यन्त अपना सही परिचय

नहीं दे रहा है, इसलिए शकुन्तला को बनवास हो रहा है। ऐसी स्थितियों में साहित्यकारों का मैं आह्वान करता हूँ कि वे विभिन्न साहित्यिक विधाओं के द्वारा उदात्त जीवन-मूल्यों और सांस्कृतिक मूल्यों को रेखांकित करें। अपने लक्ष्य को मर्यादा से मत बांधो, उसे और अधिक विशाल बनने दो। वाणी का विस्तार करो, अपनी लेखनी को केवल अपने प्रश्नों तक सीमित मत रखो। उसे तेजस्वी बनाओ जिसे गाँव में फैला अंधकार दूर हो सके। यह मत भूलो कि इस भारत देश में उपेक्षित दलितों का बहुत बड़ा विश्व है। अपनी रचनाओं के द्वारा उनकी वेदना को समझकर उनके जीवन को उज्ज्वल बनाने की कोशिश करो। यही मानवता की सच्चाई है।"[1] यह शताब्दी दलितों के वर्चस्व की होगी, जिसमें दलित और साहित्य, दोनों की भूमिका अति महत्वपूर्ण होगी। अब इस उपेक्षित एवं बहिष्कृत दलित समुदाय ने स्वयं ही अपने सुख-दुःख निवारण के लिए साहित्य के स्तर पर प्रयास आरम्भ कर दिया है, क्योंकि दलित साहित्यकार इससे प्रेरणा ग्रहण कर सामाजिक समरसता और राष्ट्रीय एकता को ध्यान में रखकर दलित साहित्य को उँचाइयाँ प्रदान करने की कोशिश में शिद्दत के साथ जुटा हुआ है।

1.4.दलित साहित्य का विकास :

आज़ादी के पूर्व के समय एवं परिवेश और आज के समय एवं परिवेश में बहुत अधिक में बदलाव आया है। आज़ादी के पूर्व के दलितों एवं आज के दलितों की मानसिकता में जमीं -आसमान का अंतर नजर आता है। दलित वर्ग की हिस्सेदारी ने समकालीन दलित आन्दोलन को नई दिशा एवं गति प्रदान की है। प्रगतिशील दलित वर्ग ने आज यह सिद्ध कर दिया है कि वह केवल शोषित अथवा शासित होने के लिए अभिशप्त नहीं है, बल्कि लोकतांत्रिक प्रक्रिया में भाग लेकर राष्ट्र को दिशा देने की क्षमता उसमें भी विद्यमान है। प्रवहमान काल से चले आ रहे शोषण का अंत करने हेतु वह आज स्वयं कटिबद्ध हो विकास की लगाम थाम चुका है। यह सदियों से चली आ रही मनुवादी एवं सामंती व्यवस्था को तहस-नहस करने के विस्फोट का परिणाम नहीं है बल्कि उसके पीछे सदियों से चली आ रही दलित मुक्ति आंदोलन का इतिहास मौजूद है।

---

[1]. दलित विमर्श के विविध आयाम - डॉ.वीरेन्द्र सिंह यादव, पृ.110

स्वतंत्रता संग्राम के दौरान ही भारत के दलितों में सामाजिक और सांस्कृतिक परिवर्तन के प्रयास शुरू हो गये थे। दलितों के लिए समान मानवाधिकारों की लड़ाई 19 वीं शताब्दी में महात्मा ज्योतिबा फुले ने लड़ी। किन्तु, उसे सफलता के सोपान तक 20 वीं शताब्दी में भारतरत्न डॉ.बाबा साहब अम्बेडकर ने पहुँचाया। इसके अतिरिक्त छत्रपति शाहु महाराज, पेरियर रामस्वामी नायर, नारायण गुरु, बिरमा मुंडा एवं जयपाल सिंह आदि चिंतकों द्वारा ब्राह्मणवादी संस्कृति के विरुद्ध चलाए गए आन्दोलन ने दलितों के जीवन में एक नई चेतना का संचार किया। यही नई चेतना आगे चलकर दलित समाज में परिवर्तन का आधार बनी। दलितों में आए इस नवजागरण ने उनके जीवन के कई पहलुओं को प्रभावित किया। इसी नवजागरण के चलते दलित समाज सामाजिक बुराइयों से मुक्ति के साथ-साथ सांसकृतिक गुलामी से मुक्ति की ओर अग्रसर हुआ।

दलित साहित्य के विकास में कविता, कहानी, उपन्यास और आत्मकथाओं का योगदान भी मिलता है। ओमप्रकाश वाल्मीकि की 'जूठन' व कुसुम वियोगी की 'चार इंच की कलम' रचनायें मील का पत्थर साबित हुई हैं।

आधुनिक काल में दलित कविता का प्रारम्भ 1914 में सरस्वती में प्रकाशित हीराडोम की भोजपुरी कविता 'अछूत की शिकायत' से हुआ है। दलित कवि जिस मार्मिक संवेदना व पीड़ा के साथ अपनी रचना स्रोत की चर्चा करते हैं वह यही भारतीय समाज व उसकी जाति व्यवस्था है। जाति व्यवस्था ही व्यक्ति को व्यक्ति से दूर करती है उनके बीच ऊँच-नीच का भाव पैदा करती है इसी वर्ण व्यवस्था और अस्पृश्यता के कारण भारत का विकास अवरूद्ध हुआ है, सामाजिकता कमज़ोर हुइ है और लोगों में भावना भर गई है कि आदमी की भी किस्में हुआ करती हैं यदी समतावादी समाज की स्थापना करनी है तो सबसे पहले वर्ण व्यवस्था व जाति व्यवस्था को जड़ से समाप्त करना होगा। दलित कविता में यही बात गूंजती है। ओमप्रकाश वाल्मीकि के शब्दों में-

"जाति आदिम सभ्यता का नुकीला औजार है
जो सड़क चलते आदमी को कर देता है छलनी
न जाने किस हरामजादे ने डाल दिया जाति का फंदा

जो न हमें जीने देता है न तुम्हें।"[1]

लक्ष्मी नारायण सुधाकर की कविता 'उत्पीड़न की यात्रा' पहली कविता है जिसमें दलितों के साथ किये जाने वाले षड़यन्त्र को बताया गया है। कुछ तर्क वाकई विचारणीय हैं लेकिन कुल मिलाकर कवि की मंशा यही है कि एक समतावादी समाज की स्थापना हो वास्तव में धर्म तो जोड़ता है आदमी को, आदमी से फिर ये तोड़ने की बात कहाँ से आयी। सुधाकर जी लिखते हैं कि-

"धर्म आदमी को आदमी से जोड़ता है
अज्ञानता, असमानता, अन्याय को तोड़ता है
स्वतन्त्रता, समता और भ्रातृत्व धर्म की धुरी है
अस्पृश्यता धर्म की गर्दन पर छुरी है।"[2]

वर्ण व्यवस्था और अस्पृश्यता को धिक्कारते हुये कवि एकलव्य के स्थान पर स्वयं को रखकर उसके साथ हुये अन्याय का अहसास करते हुये उस आक्रोश को व्यक्त करता है:

"धिक्कार है
उस समाज और संस्कृति को
जो गुरू शब्द को
कपटी द्रोणाचार्य से कलंकित करती है
कराती है
और एकलव्य की मूर्खता को
गुरु भक्ति बतलाती है
काश
कि मैं एकलव्य होता
तो गुरुदक्षिणा में
अंगूठा मांगने वाले

[1]. इक्कीसवीं सदी का दलित आन्दोलन, डॉ.वीरेन्द्र सिंह यादव, पृ.122
[2]. इक्कीसवीं सदी का दलित आन्दोलन, डॉ.वीरेंद्र सिंह यादव, पृ.123

गुरु की ज़ुबान काट लेता।"[1]

अस्पृश्यता धर्म को गढ्ढ़े में धकेल व तोड़ रही है दलित कविता जाति धर्म की जंजीरों को तोड़कर स्वतंत्रता व समता की बात कहती है। ये समता कैसे आयेगी कवि लक्ष्मी नारायण सुधाकर इसका उपाय बताते हैं।

"जाति धर्म की तोड़ श्रृंखला खुली हवा में आओ
दुनिया के शोषित मिलकर अब एक सभी हो जाओ
पूंजीवाद मिटा दो समता तभी विश्व में होगी
मनुष्वाद मिटा दो दुनिया से तो मानवता पनपेगी" [2]

कवि कहता है कि यदि सभी में एक ही ईश्वर का अंश है तो फिर असमानता क्यों?-

"यदि घट-घट में
तो एक उच्च
एक नीच क्यों" [3]

वर्ण व्यवस्था एवं अस्पृश्यता के औजारों से दलितों का बहुत शोषण किया है और आज भी किया जा रहा है ब्राह्मणवाद इस शोषण की धुरी रही है। एन.आर.सागर ब्राह्मण को गालियों से सुसज्जित करते हुये उसका गुणगान करते हैं।

"तेरी ओछी जात कुजात कमीने ब्राह्मण बेईमान
तू ढोंगी कपटी पाखंडी,
क्रूर कुकर्मी कुटिल शिखंडी,
शीलहीन बदचलन बने तू फिर भी श्रेष्ठ महान।।
स्वर्ग नरक की रचकर माया
पाप पुण्य का स्वांग रचाया

---

[1]. इक्कीसवीं सदी का दलित आन्दोलन, डॉ.वीरेंद्र सिंह यादव, पृ.123-124
[2]. इक्कीसवीं सदी का दलित आन्दोलन, डॉ.वीरेंद्र सिंह यादव, पृ.123
[3]. इक्कीसवीं सदी का दलित आन्दोलन, डॉ.वीरेंद्र सिंह यादव, पृ.123

माल मुफ्त का खाये हरामी कहे दक्षिणा दान।।"[1]

कंवल भारती वर्ण-व्यवस्था के पोषकों से पूछते हुए कहते हैं कि मेरी जगह अपने आप को रखकर देखो तब सोचो कि तुम्हारी निष्ठा क्या होती कुछ नहीं ये शोषण करने की तरकीबे है और

अपने देश में उल्लू के पठ्ठों ने
बना दी है आदमियों की जातियाँ
जिससे एक प्रतिष्ठा पाता रहे
दूसरा अन्दर ही अन्दर तिलमिलाता व सकुचाता रहे
एक को सुख सुविधायें मिले
दूसरा भूख से बिलबिलाता रहे"[2]

वर्ण व्यवस्था की नींव रखने वाले मनु के प्रति आक्रोशित कवि सी.बी.भारती लिखता है कि-

एक न एक दिन
घर के आगे
नीम की शाखा पे
लटका दूँगा तुझको मनु!
तेरी रंगों को चीर फाड़कर देखूँगा
तूने पिया है कितना लहू
मेरे बुजुर्गों का!
एक न एक दिन तेरी खाल उधेड़ूंगा
हमें तो सिर्फ
ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य की
सेवा करना तूने लिखा था
चमार भंगी और चांडाल का तूने लिखा

---

[1]. इक्कीसवीं सदी का दलित आन्दोलन, डॉ.वीरेंद्र सिंह यादव, पृ.124

[2]. दलित निर्वाचित कविताएँ, कंवल भारती, पृ.206

गाँव के बाहर रहना और

टूटे बर्तन में खाना"[1]

दलित कवि कहते हैं कि दलित को दलित बनाये रखने में उसकी मानसिकता के दो तत्व महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। (1) अंध विश्वास (2) भाग्यवाद। आधुनिक हिन्दी कविता में दलित वर्ग की मानसिकता को बदलने का प्रयास किया गया है दलित वर्ग भाग्यवादी बनता हुआ यह सोचकर ही निराश हो जाता है कि हमें तो भगवान ने ही निम्न वर्ण में पैदा करके असमर्थ बना दिया है। इस संदर्भ में डॉ.सोहनलाल सुमनाक्षर की कविता 'शोषण, अंध समाज और बहरे लोग' में लिखते हैं कि-

"यही सोचकर वह हताश एवं निराश हो जाता है।

इस पर नियति ने भेजा है

असमर्थ बना कितना किसको"[2]

डॉ. कुसुम वियोगी दलित से अपनी मानसिकता परिवर्तित करने के लिये प्रेरित करते हुये कहती हैं कि-

"अब मैं तुम्हें जानता ही नहीं

वरन

समझने लगा हूँ तुम्हारी मानसिकता

सदियों से मैला ढोते-ढोते

वसिया गई है

गन्दगी तुम्हारे भेजे में

इसीलिए इत्र की सुगन्ध से तुम्हें

एलर्जी है।"[3]

आज का दलित कवि दलित समाज में सकारात्मक मानसिकता संचार करने का प्रयास कर

---

[1]. दलित निर्वाचित कविताएँ, कंवल भारती, पृ.128

[2]. इक्कीसवीं सदी का दलित आन्दोलन, डॉ. वीरेंद्र सिंह याद, पृ.125

[3]. इक्कीसवीं सदी का दलित आन्दोलन, डॉ. वीरेंद्र सिंह याद, पृ.125

रहा है। आज का कवि समतावादी समाज की स्थापना करके देश की एकता और अखंडता को मज़बूत करना चाहता है। आज दलित कवियों की प्रेरणा के फलस्वरुप दलित वर्ग चेतना सम्पन्न हो रहा है। आज का दलित सारी रुढ़ियों को और वर्ण व्यवस्था को तोड़ना चाह रहा है कुछ वह भी अपने ऊपर थोपना नहीं चाहता जो उसे बांधने की कोशिश करता है। अब उसने स्वयं कलम उठा ली है और लिखता है कि-

"मैंने अब उठा ली है कलम
झाड़ू के बदले
करेंगे साफ तुम्हारी सारी गन्दगी
बचाएँगे हम
देश की टूटती एकता को।"[1]

उसकी सोच पूर्णतः सफल होती हुई सिद्ध हो रही हैं। दलित वर्ग जिस दल-दल में फंसा है उस दल-दल से निकालने और उनमें चेतना फूकने के कार्य में दलित कवियों की एक पूरी जमात खड़ी है जो समतावादी समाज की मंज़िल पाने के लिये अपनी लेखनी निरन्तर पूरे सामर्थ्य के साथ चला रहे हैं।

दलित साहित्यकार इस सामाजिक परिवर्तन को तल्खी से महसूस कर रहे हैं। इस प्रक्रिया में वे खुद को अपने आसपास के परिवेश से जोड़ते हैं और अपने अनुभवों को व्यापक और गहरा बनाते हैं इस दृष्टि से मोहनदास नैमिशराय, जयप्रकाश कर्दम, आदी की महत्वपूर्ण कहानियाँ हैं।

निजी अनुभवों के आधार पर दलित समाज की नयी-पुरानी पीढ़ी में हो रहे परिवर्तन की प्रक्रिया को जातीय चेतना में बदलकर रेखांकित करने की रचनाकारों ने अपनी कहानियों में ईमानदारी से कोशिश की है। यहाँ जातीय चेतना का अर्थ जातिवाद के विरुद्ध दलित समाज की एकता के विस्तार से है। दलित समाज जातीय चेतना के आधार पर ही परम्परावादी-सामन्तवादी ताकतों के खिलाफ एकताबद्ध होकर संघर्ष करके इन प्रतिक्रियावादियों को परास्त कर सकता है।

---

[1]. इक्कीसवीं सदी का दलित आन्दोलन, डॉ. वीरेंद्र सिंह याद, पृ.126

मोहनदास नैमिशराय ने दलित समाज को नया विकल्प अपने पात्रों के माध्यम से दिया कि सवर्ण जातियों के अत्याचारों-जुल्मों और उत्पीड़न से बचने का एक ही रास्ता है कि वे अलग से दलित समाज का निर्माण करें और वह अलग अपना गाँव बसाकर ही हो सकता है। हरिया इस नव चेतना का प्रतिनिधित्व करता हुआ दलितों की नयी-पुरानी पीढ़ी को 'संघर्ष की राहें' दिखाता है, 'जो अस्सी साल से सारी परंपराओं को किसी न किसी तरह मानता था।' आज का दलित पुरानी परम्पराओं और रूढ़ियों को तोड़कर नयी संस्कृति और नये समाज के निर्माण के लिए प्रतिबद्ध दिखाई देता है।

इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता है कि मोहनदास नैमिशराय की अधिकांश कहानियाँ उनके जीवानुभवों पर आधारित हैं जिनमें देश के विभिन्न क्षेत्रों में घटित ज्वलंत घटनाओं को आधार बनाया गया है। 'अधिकार चेतना' कहानी मेरठ शहर में बाबा साहेब की मूर्ति की स्थापना को लेकर हुए जातीय दंगों के आधार पर लिखी गयी है। लेखक जगह-जगह पर दलित होने की पीड़ा की यातना को झोलता है। 'ट्रक ड्राईवर और पुलिस हवालदार उसके सामने ही उसकी जाति के लोगों को गालियाँ देते हैं पर वह चुप रहता है। सवर्ण जाति के लोग उसकी जातीय अस्मिता को जख्मी कर रहे हैं तब भी वह विवश है लेकिन उसके भीतर हाहाकार मचा था, परन्तु बाहर से वह बर्फ बना था।' सवर्ण जाति के लोग उसकी जाति के ख़िलाफ़ अपनी कुंठाएँ बांट रहे थे, तब भी वह चुप था। पर उसे इस बात पर सन्तोष था कि उसकी जाति के लोग 'मेरठ में कहाँ चुप थे। उनके बीच अधिकार चेतना जन्म ले चुकी थी।' उनकी लड़ाई दुहरी थी। एक ओर वे मनु के वंशज सवर्णों से जूझ रहे थे तो दूसरी ओर सरकारी तन्त्र-पुलिस-प्रशासन से। उनके भीतर बाबा साहेब का संघर्ष उभर आया था जिससे दलित आन्दोलन तेजी से चारों ओर फैला और दलितों की बस्तियाँ भट्टियाँ बनने लगीं। लेखक इस सामाजिक आन्दोलन को 'भीतर-बाहर से महसूस करते हुए उसमें और अधिक तपने लगा था।' उसका जातीय स्वाभिमान जाग उठा था और वह पहले की तरह अब 'चुप न था।' डॉ.तुलसीराम के अनुसार "दलित साहित्य के विकास का सवाल सीधे तौर पर शिक्षा के विकास से जुड़ा है। अम्बेडकर सिर्फ राजनेता ही नहीं थे, बल्कि दलितों को साक्षर बनाने में उन्होंने एक बड़ी भूमिका निभाई, आज दलित साहित्य

यदि साहित्य की केन्द्रीय धारा है तो उसका सबसे बड़ा कारण अम्बेडकर जैसे विचारक ही हैं।"[1]

'भीड़ में वह' काहानी एक ऐसी स्त्री की व्यथा-कथा है जो वेश्या है- और वह अपनी इस स्थिति और परिस्थितियों से अपने बेटे को निकालना चाहती है। कहानी में लालबाई संकल्प लेती है कि अपने बेटे बाबू को ज़रूर पढ़ाएगी। वह जानती है कि इस बस्ती का कोई भी बच्चा जवान होकर जज, कलैक्टर और मुन्सिफ मजिस्ट्रेट न हुआ था। बस सभी वासना के इस भयानक जंगल में खो गए। वह बाबू को दलाल बनाना नही चाहती थी। उसे पढ़ा-लिखाकर अच्छा इंसान बनाने के हक में थी। इसलिए वह स्कूल के मास्टरों की बदतमीज़ी भी सहन कर लेती थी बहुत बार काम न होते हुए भी स्कूल के एक-दो मास्टरों ने उसे बुलाया था। बाबू की खातिर "उसे जाना ही पड़ा, मन न चाहते हुए भी वह बात सुननी पड़ी थी जिसे कोई भी औरत सुनना पसन्द नहीं करती। पर वह न सुने तो बाबू का क्या होगा।" स्कूल में बाबू को वेश्या का बेटा होने का अपमान झेलना पड़ता है! यहाँ तक कि उसकी बस्ती के लोग उसे मास्टरजी कहकर चिढ़ाया करते हैं। बाबू भी अपनी माँ की तरह बुरा नहीं मानता था। लालबाई की आशाओं और आकांक्षाओं का केन्द्र बाबू ही था। वह अपने संकल्प को सपने में पूरा होते देखती है कि "बाबू ने बारहवीं कक्षा पास कर ली है। फिर कॉलेज में उसका दाखिला हो जाता है। बाबू ख़ूब पढ़ता है। कोठे पर पहले जो लोग बाबू को गालियाँ देते थे, मज़ाक उड़ाते थे, अब उसे प्यार करने लगे हैं। कोठे के अन्य बच्चे भी धीरे-धीरे पढ़ने लगे हैं। कॉलेज से लौटकर बाबू उन्हें पढ़ाता है।"[2] यह समाज में सबसे ज़्यादा अपमानित, तिरस्कृत और उपेक्षत स्त्री लालबाई का सपना है जिसे एक-न-एक दिन पूरा होना ही है। शिक्षित और संगठित होकर दलित अपनी अस्मिता की लड़ाई लड़कर समाज में समानता पा सकता है। यह दिवास्वप्न नहीं है बल्कि एक सच्चाई है। जो परम्परा के प्रतिमानों को तेजी से बदल रहा है! क्योंकि अब लालबाईयों में जड़ समाज के ख़िलाफ़ ब ग़ावत की हिम्मत आ गयी है।

सूरजपाल चौहान हिन्दी दलित साहित्य के उज्ज्वल हस्ताक्षर हैं। समय-समय पर दलितों पर होनेवाले अत्याचार, उनके विरुद्ध सुनियोजित साजिश और फिर धैर्य के साथ मुकाबला करना, संकुचित

---

[1].साक्षात्कार-डॉ.तुलसीराम से रीना चंदेल की बातचीत, हंस, दिसम्बर-2007

[2].दलित विमर्श के विविध आयाम, डॉ.वीरेन्द्र सिंह यादव, पृ.197

मानसिकता दूर करना, व्यवस्था परिवर्तन केलिए संघर्ष, अपनी अस्मिता को बचाने के लिए मरने-मारने जैसे ज्वलंत सामयिक विषयों की अभिव्यक्ति करने में उन्होंने सफलता पाई है। सूरजपाल चौहान की कहानियों के पात्र अंबेडकर से भी प्रभावित है जिनका कहना था कि- "अन्याय को सहना अन्याय को बढ़ावा देना है।"[1] ये पात्र ज्यादती सहने को कतई तैयार नहीं है।

परम्परा के बदलते प्रतिमानों के तहत दलितों में मूलभूत परिवर्तन परिलक्षित हो रहे हैं यही परिवर्तन दलितों की ताकत बन गये है और वह अपनी इस ताकत को पहचानने लगे हैं। अपनी ताकत पर ऐसा विश्वास सूरजपाल चौहान की कहानी 'परिवर्तन की बात' में नये आयाम और नये सन्दर्भों में उभर कर सामने आता है। सामाजिक-परिवर्तन के नये उभार में दलितों ने समय के अनुसार अपने आपको बदलना शुरू कर दिया है। इसी प्रक्रिया में वे अपने परम्परागत पेशों का परित्याग करने लगे हैं जैसा कि सवर्ण जातियाँ आधुनिक समय के अनुसार नये-नये पेशे अपना कर अपना जीवन स्तर ऊपर उठा रही हैं, लेकिन वे दलितों को ऐसा करने से रोकना चाहते हैं। ताकि 'वे समय के साथ' न बदलें। किसना ने दृढ़ता का परिचय देते हुए यह कह दिया कि वे ठाकुर रघु की मरी हुई गाय को नहीं उठायेगा, 'जो करना है सो करो।' रघु ठाकुर ने थानेदार के सहारे यह काम करवाना चाहा पर दलित उनकी धमकियो की परवाह न करके अपने फैसले पर अडिग रहकर एकता का परिचय देते हुए थानेदार से कहते हैं, "क्या आप यही चाहते हैं कि हम जीवन भर गाँव के मरे जानवर ही उठाते रहें। अब समय बदल रहा है लोग अपना पुशतैनी धंधा छोड़कर दूसरे कार्य करने लगे हैं। हम दूसरा अन्य कोई भी काम कर अपना पेट भर लेंगे, लेकिन मरा जानवर नहीं उठाएंगे।"[2] इससे ठाकुर और थानेदार को गाँव की व्यवस्था बिगड़ने का खतरा नजर आता है। अन्त में ठाकुर गऊ माता के नाम पर उठाने की दुआई देता है तो किसना एक शर्त पर गाय उठाने केलिए तैयार होता है कि "...क्या तुम अपनी माँ के मरने के बाद हमें उसी तरह से उठाने दोगे जैसे हम मरी गाय को उठाते हैं।"[3] पहली बार दलितों में सवर्ण जातियों के सामने अपनी शर्त रखने की ताकत आई है। अपनी इसी ताकत के बल पर समाज में बराबरी

---

[1].भारतीय दलित साहित्य, सं.मनोज कुमार आर.पटेल, पृ.234

[2].हैरी कब आएगा, सूरजपाल चौहान, प.20

[3].हैरी कब आएगा, सूरजपाल चौहान, प.22

का दर्जा हासिल करना चाहते हैं, जबकि भारतीय समाज की बुनियाद ही गैर-बराबरी पर टिकी हुई है। डॉ.रमणिका गुप्ता इस पर टिप्पणी करती हुई लिखती हैं कि- "आज का दलित मूलधारा में, मनुष्यत्व की मानव-श्रेणी में आने के लिए कटिबद्ध है। उसके लिए धर्म, भगवान, भाग्य, परम्पराएँ, रूढ़ियाँ और अंधविश्वास सब निरर्थक हैं। वह इन सबके विरुद्ध उठ खड़ा हुआ। है। चूंकि उनकी भर्त्सना किये बिना इन्हें नष्ट करना सम्भव नहीं और इन्हें नष्ट किये बिना नए मूल्य नहीं बन सकते न ही इनसे उसकी मुक्ति सम्भव है।"[1]

डॉ.जयप्रकाश कर्दम जी ने अपनी कहानियों के माध्यम से आधुनिक युग में भी 'जाति' के नाम पर दलित को किस प्रकार सताया जाता है उसका जीत-जागता उदाहरण दिया है। आज भी हिन्दु-धर्म, सामाजिक व्यवस्था ने दलितों की छाया और वाणी को अस्पृश्य माना है। समाज का विद्रुप चेहरा, उसकी विसंगतीया तथा आपके साथ घटी यथार्थ घटनाओं को अपने लेखन में तिलमिलाहट के साथ व्यक्त किया है।

भारतीय संस्कृति की रीढ़ मनुसंहीता यानी मनुस्मृति का विधान है। इस विधान के अनुसार व्यक्ति जाति से पहचाना जाता है। उसकी बुध्दी का कोई महत्व नही होता। इस विधान के तहत वैचारिक स्वतंत्रता नाम की कोई चीज नही है। और मनूष्य अपने पूर्वजन्म के कर्मों एवं भाग्य के अनुसार इस जन्म में जीता है। इस वय्वस्था में शूद्र सवर्णों की सेवा के लिए जन्मे है अपने जन्म के पापों के कारण इस व्यवस्था में सभी पेशे जन्म से निर्धारित है और बदलना वर्जित है। यह व्यवस्था आज भी गाँव से लेकर शहर तक 'जाति' के नाम से विद्यमान दलित समाज के लोगों में उनके जीवन की समस्यों को बदल कर संघर्ष करने पर भी उन्हें दलित जाति तथा वर्ण व्यवस्था के जरिये नोंचा गया है। आज भी गाँव से शहर तक हर क्षेत्र में दलितों को उनके विकास में बाधा बनके उन्हें रोका जा रहा है ताकि उन्हें अपना ही गुलाम बनाकर रखे उनके साथ अनेक दुर्व्यवहार करें। आज के ब्राह्मण बनिया सामने से नही पिछे से वार कर रहा है।

डॉ.जयप्रकाश कर्दम जी ने इस आधुनिक भाग दौड़ी में दलितों के सामने मधुर बाते करने वाले तथा पीछे से उसे कुचल देने वाले ब्राह्मण के षडयंत्र को अपनी कहानी 'तलाश', 'जहर' में व्यक्त किया

[1].दलित चेतना : साहित्यिक एवं सामाजिक सरोकार, पृ.69

है। इनकी कहानी में जाति के कारण एक बुद्धिजीवी रामवीर सिंह को किस तरह अपने रहन सहन में बाधा आती है। और दलित स्त्री रामबती को मेहनत करके दो वक्त की रोटी कमाना तथा जाति के कारण काम करने से मना करना और 'चमार चुहडी' के नाम से संबोधित किया गया है। आज के दलित पर जाति का कलंक मिटाने के लिए तथा दलित जीवन में जाति के कारण उत्पन्न अनेक समस्याओं का प्रतिकार करने के लिए कर्दम जी ने अपने पात्रों को खडा किया है। आज के युग किस प्रकार अपने पर हो रहे अत्याचार, शोषण, अन्याय का खुल कर विरोध करते हैं कर्दम जी ने इसका चित्रण किया है। आपने अपनी लेखनी के माध्यम से हर दलित की वेदनाओं तथा आकांक्षाओं को प्रकट किया है। तथा दलित युवाओं को जागृत करने का प्रयास किया है।

जयप्रकाश कर्दम जी की 'तलाश' कहानी का नायक रामवीर सिंह एक सुशिक्षित अधिकारी है जाति के दलित होने के कारण उसमें समाज के प्रति स्वाभिमान जाग उठता है। वह गुप्ता से कहता है कि- "यदि यह बात है तो मैं आपका मकान खाली करने के लिए तैयार हूँ लेकिन जातिगत भेदभाव के आधार पर रामबती से खाना बनवाना बन्द नही करूंगा।"[1] रामवीर सिंह निश्चित रूप से मकान ख़ाली करने के लिए तैयार होता है। पर जाति के कारण रामबती से घर का काम बंद करवाना नही चाहता है। इसीलिए वह गुप्ता का घर छोड़ना चाहते हैं। और वे मन ही मन सोचते हैं कि- "जहाँ मकान की नहीं है सब में किसी प्रकार जाति को लेकर एक दूसरे के बदले तिरस्कार न होकर अपनापन हो ऐसे घर की तलाश है जहाँ अपनापन हो ऐसे समाज की तलाश है- जहाँ जाति का विभेद न हो।"[2] डॉ. कर्दम जी की 'तलाश' के जरिये हम समझ सकते है की भारतीय समाज में दलितों को बहिष्कृत कर रहे है। स्वतंत्रता के इस दौर में जाति को महत्व दिया जा रहा है। गाँव में पहले जो स्थिति थी। आज भी वही स्थिति दिखाई देती है। शहरों में भी जाति के कारण उन्हें न आवास मिलता है न रोज़गार प्राप्त होता है। ऊंचे वर्ग के लोग दलित जीवन के साथ किस प्रकार का खिलवाड़ कर रहे हैं। उनको अन्याय सह लेने की नहीं बल्की उसके विरोध अपनी प्रखर आवाज से मुहँ तोड़ जवाब देने के लिए कहते हैं।

---

[1]. तलाश,डॉ.जयप्रकाश कर्दम-पृ.28

[2].तलाश, डॉ.जयप्रकाश कर्दम, पृ.16

अनेक युग से महात्माओं ने दलितों के प्रति होने वाले अन्याय के विरोध किया वैसी 'लाठी' कहानी में फग्गन एक ऐसा व्यक्ति है वह किसी के सामने झुककर जीवन जीने वाला नहीं था। अगर कोई जाट उसे जाति के नाम से गाली दे तो वह सबक सिखाता था। फग्गन को अपनी जातिसे दलित होने पर गर्व था। जब हरिसिंह को सवर्ण बदनी खेत के पानी को लेकर पीटने की खबर सुनते ही फग्गन उसकी पत्नी भगवानदेई दोनों आकर देखते है तो हरिसिंह की पीट पर लाठी के निशान थे। इस स्थिति को देखकर सम्मन को भी समझ में नही आ रहा था की फग्गन को कैसे शांत किया जाय वह जाति के प्रति अभिमानी था। वह किसी की चापलुसी तथा किसी की ताबेदारी नहीं करता था। किसी जाट ने उसे 'चमार' जाति के नाम से 'चमट्टा' कहा तो उस जाट को इतने जोर से मारा कि उसकी हड्डी चटक गई थी। उस जाट ने ये बात किसी को नही बतायी

खेत में पानी देने के बारें में बदनी ने हरिसिंह को मारा यह बात फग्गन को पता चलने पर आक्रोश में अपनी पत्नी से कहता है - 'क्या करूंगा अभी जाकै साले की लास ना बिछा दुँ तै मेरा नाम फग्गन नही।' पत्नी से कहा कि 'लौंड पै लाठी चला दी उस का खून पी जाऊँगा साले का।' सम्मन सोचता है कि प्रकार फग्गन को गुस्से को शांत किया जाए। सम्मन एक ऐसा व्यक्ति हैं जो सवर्णों की बात मानता था। सम्मन को कोई कुछ भी कहे चुपचाप सुन लेता था और ऊपर से सवर्णों की ही चापलुसी करता था। गाँव में सम्मन जैसे ही और भी व्यक्ति थे जो सवर्णों की बात मानते थे। उनके घर दिन रात काम करते थे सवर्ण जाट जाति से गालि गलोज दे तो सह लेते थे। फग्गन इन जैसा नहीं था।

गाँव में जिस तरह सवर्णों का अधिकार है। हमें भी अधिकार रहना है अक्सर किसी ना किसी बात को लेकर झगड़ा होता रहता था जब हरिसिंह को बदनी ने मारा तब उसको लेकर गाँव के तमाम लोगों को फग्गन चेतावनी देता है कि अगर ऐसे ही अन्याय सहते रहे तो एक दिन जिंदगी नरक बन जायेगी इस नरक की खाई से बाहर उठना मुश्किल हो जाएगा सब अधिकार गंवा बैठेंगे। सम्मन जैसा व्यक्ति कि तरह दूसरे के सामने दुम हिलाना उनकी गुलामी करना फग्गन को अच्छा नही लगता और वह कहता है कि- "तैसे गाँड में पुछ दबा के रहवेंगे हम। आज एक लाठी मारी है कल कू और कुछ।

हम देखेगे कोई क्या करेगा।"[1]

इसी प्रकार डॉ.अम्बेड़कर दलितों को उनके हक़ एवं अधिकार के लिए संघर्ष करने के लिए प्रेरित करते है- " खोए हुए अधिकार भीख मांगने से नही मिलते बल्कि संघर्ष करने से प्राप्त होते हैं।"[2] उत्पादन के लिए आवश्यक सामग्री जैसी बिज, खाद, पानी, बेतहाश, में वृद्धि हो रही है। दलितों में जो सीमांत एवं कम खेती में ज्यादा काम करने वाले होते हैं। अगर थोड़े ही ज़मीन में उत्पादन हो भी जाता है तो उसकी कृषि उत्पादन के स्रोत नई समस्या की जड़ बन जाता है। कालांतर में यह अपनी ज़मीन खो बैठते है। और खेतिहार मजदूर की सैनिक कतारों में शामिल हो जाते हैं।

एक सवर्ण श्री सेठी को पढ़ी-लिखी मैट्रिक पास शूद्र लड़की से विवाह करने के प्रस्ताव को ठुकराने का साहस दलित कहानीकार सुशीला टाकभौरे की नायिका 'सिलिया' में आ गया है, क्योंकि वह नायिका किसी की दया पर जीना नहीं चाहती। अपने स्वाभिमान के साथ जीना चाहती है। उसकी स्मृति में बचपन से जवानी तक के सन्दर्भ बाईस्कोप से घूम जाते हैं। जहाँ उसे और उसके समाज को स्वर्णों के द्वारा अपमानित किया। उसकी जाति जान जाने पर पढ़ी-लिखी, अच्छी खिलाड़ी होने पर भी तुरंत उसके प्रति उनका रुख बदल गया। व्यवहार बदल गया ! कैसे सिलिया उनके घर तक अछूत बनकर अमीरी में रहना स्वीकार करे, जबकि उसका पूरा समाज वहीं है जहाँ सदियों पहले था? वह पढ़ेगी। स्वाभिमान के साथ पूरे समाज को लेकर जाएगी नई दुनिया में। यह संकल्प दूसरी दुनिया के सदियों के यथार्थ को बदलने के लिए लिया जा रहा है, जगह-जगह, हर-जगह। भले हर मन में नहीं-पर एक जमात, छोटी ही सही-प्रतिबद्ध होकर खड़ी हो रही है। यही इन कहानियों की ताकत है। ओमप्रकाश वाल्मीकि टिप्पणी करते हुए लिखते हैं कि- " दलित महिला कथाकारों ने एक नई भूमि तैयार की है। डॉ. सुशीला टाकभौरे की कहानी 'सिलिया' के मुख्य पात्र सिलिया को, जो बड़ी कठिनाइयों से मैट्रिक पास करती है, कोई भी लालच रास्ते से भटका नहीं पाता है। सुदृढ़ और पक्के इरादों वाली सिलिया ने जिस प्रकार के सामाजिक उत्पीड़न सहे हैं, वे सब उसकी स्मृति में ताजा हैं। तमाम असुविधाओं के बीच भी वह सम्मान से जीना चाहती है। यही संकल्प उसे लड़ने का हौसला देता है। यह एक अन्तर्मुखी

[1].तलाश, डॉ.जयप्रकाश कर्दम, पृ.114

[2].अस्पृश्यता एवं दलित चेतना, डॉ.पूरणमल, पृ.11

कहानी है जो सुधारवादी दृष्टिकोण से लिखी गई है।"[1]

रजतरानी मीनू की 'सुनीता' आत्मविश्वास से भरी-पूरी बड़बोली लड़की की कहानी है जो धुन की पक्की है। अनेक विरोधों के बावजूद अपना रास्ता खुद बनाती चलती है। वह अपने पिता को भी उसकी गलती का अहसास कराने से नहीं चूकती। पिता जो दलित हीन-भावना और पुरुष-दंभ दोनों का प्रतिनिधित्व करता है, भी सुनीता की सफलता पर अपना रवैया बदलता है। इस कहानी में पिता जड़ परम्परावादी है और सुनीता गतिशीलता की प्रतीक। जड़ता को झकझोरना जरूरी होता है नहीं तो बढ़ते कदमों का बंधने का खतरा हो जाता है। पिता-मां-भाई और समाज एवं लोक समाज के दबाव, लिहाज और आतंक के कारण ही तो औरत गुलामी सहती है।

सुनीता उस लिहाज के दबाव को नकारती ही नहीं, झटके से उसे तोड़ती भी है। यह औरत के लिए जरूरी है। कहानी अपने शिल्प में कमजोर और सपाट होने पर भी प्रेरणादायक है, खासकर महिलाओं के लिए। सुशीला टाकभौरे की सिलिया अन्तर्मुखी है तो रजतरानी मीनू की सुनीता बहिर्मुखी। यही दोनों के चरित्रों का अन्तर है। सुनीता जो सोचती है उसे बोलती भी है, उसके लिए डटकर मुकाबला भी करती है। अपनी बात मनवाने की धुन और जिद दोनों हैं उसमें। नेतृत्व का गुण है। ओमप्रकाश वाल्मीकि का मानना है कि- "'सुनीता' कहानी में गम्भीर सरोकारों और बदलाव की उत्कृष्ट चाह को दलित नारी की आन्तरिक शक्ति बनाया है। सुनीता में यह क्षमता है कि वह अपनी बात पर अड़कर उसे मनवा सकती है। परिवर्तन की संघर्षशील प्रवृत्ति से संस्कारिक सुनीता एक अद्‌भुत चरित्र है।"[2]

हिन्दी दलित साहित्य में पहला उपन्यास डी.पी.वरुण द्वारा लिखित 'अमर ज्योति' को माना जा सकता है जो 1982 में प्रकाशित हुआ था, इसके बाद में प्रेम कपाड़िया का 'मिट्‌टी की सौगंध' (1985), जयप्रकाश कर्दम कृत 'करुणा'(1986) एवं 'छप्पर'(1994), नैमिशराय का 'मुक्तिपर्व', सत्यप्रकाश का 'जस-तस भई सवेरा' इस परम्परा को बढ़ाते हुए लिखे गये।

प्रेम कपाड़िया ने 'मिट्‌टी की सौगन्ध' उपन्यास को दलित साहित्य का प्रतिनिधि उपन्यास कहा है। चूंकि, प्रेम कपाड़िया ने सामाजिक न्याय की पृष्ठभूमि को ध्यान में रखकर यह उपन्यास लिखा है,

---

[1].दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.115

[2].दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.115

और विषय-वस्तु के रूप में ग्रामीण जीवन को चुना है। स्वाभाविक है की, सामाजिक अन्याय का व्यवहार तो सर्वाधिक गाँवों में ही होता है। उपन्यास में गाँव की जमींदारी संस्कृति के केन्द्र में रखा गया है जो दलितों के शोषण की कारक है और सामाजिक न्याय के रास्ते में बाधक है। इसलिए लेखक ने अपने आक्रमण को इसी संस्कृति पर केन्द्रित किया है।

उपन्यास का आरम्भ गाँव के जमींदार ठाकुर मदन सिंह के अत्याचार से होता है। शीला अपनी माँ के साथ घर बैठी कुछ काम कर रही है कि ठाकुर मदन सिंह आता है और उसकी माँ के सामने ही जबर्दस्ती उसका बलात्कार करता है। दोनों चीख चिल्लाकर इसका विरोध करती हैं पर उनकी मदद करने के लिए कोई नहीं आता। शीला की इज्जत लुट जाती है और उसकी असहाय माँ कुछ नहीं कर पाती। अपनी बेटी के साथ हुई इस दुःखद घटना का उसे बड़ा आघात पहुँचता है। परिणामतः कुछ ही दिनों बाद उसकी मृत्यु हो जाती है। पिता का साया तो पहले ही उठ चुका था अब माँ भी नहीं रहीं। वह बिल्कुल अनाथ हो जाती है। उसकी दूर की मौसी उसे सहारा देती है। वही उसे आगे और जीने को प्रेरित करती है और ठाकुर मदन सिंह से बदला देने के लिए उकसाती है। "मै तेरा दर्द समझती हूँ बिटिया, लेकिन अगर तूने हिम्मत हारी तो कल को दूसरी शीला की इज्जत भी लुट जाएगी। किसी से बदला लेने के लिए अपने अंदर ताकत इकट्ठा करनी होती है। तू इस जमात तक पढ़ी है। तू टकरा सकती है उस ठाकुर रूपी कुत्ते से।"[1] शीला जमुना मौसी की बात से सहमत है। इसलिए ठाकुर से बदला लेने का मन बना लेती है। इस गाँव में शीला ही अकेली ऐसी लड़की नहीं है जिसके साथ बलात्कार हुआ है। ऐसी कितनी हि स्त्रियाँ हैं जो इस तरह के अत्याचारों से गुजरी हैं। कुछ तो अपने आपको असहाय मानकर ठाकुर के जुल्मों को सह गयीं और कुछ लोक लाज के भय से खुदकुसी कर गयीं। उन्हीं में एक रधिया थी जो सूरज की प्रेमिका थी। ऐसी ही कुछ घटना हरिया के साथ भी घटी थी। इसलिए ये सभी ठाकुर से बदला लेने की फिराक में रहते हैं।

'मिट्टी की सौगन्ध' में सामाजिक न्याय के पक्षधर और उपन्यास के नायक विजेन्द्र सिंह के साथ हरिया, सूरज, शीला और अंकुर है। मदन सिंह के अत्याचारों के खिलाफ दलित इन्सपेक्टर जगजीवनराम को शीला के साथ बलात्कार की गवाही देते और मदन सिंह के जुल्म को खत्म करने

[1].मिट्टी की सौगंध, प्रेम कपाड़िया, पृं.8

के लिए मिट्टी की सौगन्ध खाते हैं। शीला जैसी अनेक लड़कियां, गंगा, रधिया, शीला की मौसी जमुना इसी बलात्कार की शिकार हैं। उपन्यासकार ने जुल्मी ठाकुर के खिलाफ उसी के लड़के विजेन्द्र सिंह को खड़ा किया है जो दलित युवती शीला से सारे कष्ट उठाकर भी शादी करता है। इसके माध्यम से उपन्यासकार ने जाति बन्धन तोड़ने की भी बात की है, लेकिन इसमें खतरे भी होते हैं यह भी नहीं भूला। किस तरह शीला और उसके गर्भ में पल रहे बच्चे को खत्म करने की ठाकुर मदन सिंह एवं उसकी माँ-विजेन्द्र की दादी माँ प्रयास करते हैं और इन्सपेक्टर जगजीवनराम एवं विजेन्द्र सिंह पर कातिलाना हमला करते हैं, सवर्ण स्त्री माँ की शमेन्द्रसिंह द्वारा शीला के बलात्कार की पक्षधरता देखिए- "अरे जमींदार का बेटा ऐय्याशी नहीं करेगा तो क्या चाकरी करेगा?"[1] दलित इन्सपेक्टर जगजीवनराम जब मदन सिंह की गिरफ्तारी तय करता है तब एस.पी. उसे गिरफ्तारी का आदेश न देकर समझाता है - "तुम क्या समझते हो मदन सिंह को गिरफ्तार करने से अछूतों की बहन-बेटियों की इज्जत बच जायेगी। अरे इन्सपेक्टर एक मदन सिंह गिरफ्तार होगा तो दूसरा पैदा हो जाएगा। यह सदियों पुराना सिलसिला है जो ताकतवर है वह लूटता रहेगा और जो कमजोर है उसे लुटना ही है मगर किसी को लूटने से बचाना चाहते हो तो उसे ताकत और धन से सम्पन्न करो। तभी यह परम्परा बदल सकती है।"[2] उपन्यासकार एक ओर जेन्डर सम्बन्धी संकेत भी करते है। जब विजेन्द्र गर्भवती शीला से लड़का पैदा करने की इच्छा व्यक्त करता है जब शीला का जवाब देखें, " लड़के तो मां-बाप की परवाह नहीं करते, लड़की तो मां-बाप के लिए जान देती हैं और हम जब एक हुए तो एकता ही तो हुई। मैं अपने रिश्तों का प्रतीक एकता ही उसका नाम रखना चाहती हूँ। ताकि वह सदा हमारे मनों में रहे।"[3] उधर कालू पासवान की शादी गंगा से होती है तथा मदन सिंह को सजा। लेखक अन्तर्जातीय विवाह द्वारा जातिवाद खत्म करने की बात करता है और इसमें उसे सफलता भी मिलती है। इस तरह यह उपन्यास बुराई पर अच्छाई की विजय के साथ आदर्शवादी यथार्थ के रूप में सुखान्त से समाप्त होता है। जो परम्परावादी समाज में चले आ रहे ढ़कोसलों का पर्दाफाश कर नई जातीय संस्कृति की चेतना का बीज बो देता है।

---

[1].मिट्टी की सौगंध, प्रेम कपाड़िया, पृं.11

[2].मिट्टी की सौगंध, प्रेम कपाड़िया, पृं.36

[3].मिट्टी की सौगंध, प्रेम कपाड़िया, पृं.98

'छप्पर' दलित चिंतन की सामाजिक परम्परा को यथार्थ रूप में व्यक्त करने वाला जय प्रकाश कर्दम का अत्यन्त महत्वपूर्ण उपन्यास सामाजिक क्रांति के लक्ष्य को लेकर लिखा गया है, जिसमें एक दलित युवक 'चंदन' की उच्च शिक्षा के लिए संघर्ष अभिव्यक्त हुआ है, जिसके कारण उसके माँ-बाप को बहुत सी यातनाएँ सहनी पड़ती हैं और कितने हीअत्याचारों का सामना करना पड़ता है। इस उपन्यास में दलित जीवन के जितने भी पहलू हैं, लगभग सभी अपनी सम्पूर्ण भयावहता के साथ उपस्थित हैं। दलित शिक्षा के जरिये नायक चन्दन सामाजिक परिवर्तन लाता है। मातापुर गाँव के निवासी चन्दन और रजनी जिन्हें उपन्यास के नायक और नायिका कहा जा सकता है, प्रधान पात्र हैं, जिनके द्वारा सामाजिक बदलाव के नये मूल्यों की स्थापना की गई है। गाँव के सेठ दुर्गादास, काणे पंडित और ठाकुर हरनाम सिंह प्रतिगामी शक्तियों अर्थात् सारी ब्राह्मणवादी सामन्यवादी बुराईयों के वाहक हैं जिनके शोषण के शिकार हैं हरिया, कमला, सुक्खा और रमिया। सुक्खा और रमिया सामाजिक परिवर्तन में लगे अपने बेटे चन्दन का पूर्ण सहयोग करते हैं। सुक्का अपने चन्दन के भविष्य के बारे में आशान्वित है और पत्नी रमिया की शक को दूर करता है। " चुप रह पगली कोई पेट से बड़ा बनकर आता है। पढ़-लिखकर बड़े बनते हैं सब। क्या पता कल को हमारा चन्दन भी कलेक्टर या दरोगा बन जाय। अपनी चिन्ता छोड़ हमें थोड़े बहुत दुःख उठाने पड़ रहे हैं। तो क्या? दुःख के बाद ही सुख आता है। हमारे दिन कभी न कभी बहुरंगे"[1] सुक्खा और रमिया का यह सपना एक आम माता-पिता का ही सपना है जिसके सहारे ये दोनों पति-पत्नी जिए जा रहे हैं। पर भविष्य के गर्भ में क्या है? कौन जानता है? और सुक्खा की चिन्ता "क्या मेरे जीते जी मेरे इकलौते बेटे को अपनी पढ़ाई छोड़कर मेरी तरह शोषण और बर्बरता की चक्की में पिसना पड़ेगा? क्या उसे भी गुजर बसर के लिए लाला और साहूकारों के तलवे सहलाने पड़ेंगे? क्या उसे भी ठाकुर और जमींदारों के सांटे और दूध मुंहे बच्चों तक की गालियां सहन करनी पड़ेगी? क्या उसे भी गुड़ की डली या प्याज की गंठी के साथ रूखी-सूखी रोटी हलक से नीचे उतारकर दिन गुज़ारने पड़ेंगे? क्या उसे भी मेरी तरह पशुवत् जीवन जीना पड़ेगा?"[2]

---

[1].छप्पर, डॉ.जयप्रकाश कर्दम, पृ.12,13

[2].छप्पर, डॉ.जयप्रकाश कर्दम, पृ.32

हरिया चन्दन के सहयोग के लिए अपना सर्वस्व न्यौछावर कर देता। भट्टी के मालिक द्वारा बलात्कार की शिकार गर्भवती कमला तो चन्दन के लिए अपने प्राण तक दे देती है। रजनी जमींदार हरनाम सिंह की इकलौती बेटी है जो स्वतंत्रता और समानता में अपने पिता से लोहा लेकर चन्दन का साथ देती है। यहाँ तक कि जातिबन्धन को तोड़कर दलित युवक चन्दन से विवाह का मन बनाती है। किन्तु चन्दन अपना व्यक्तिगत हित त्यागकर समाज के लिए अपना सब कुछ कुर्बान कर देता है। इन स्थितियों को देखकर हरनाम सिंह का हृदय परिवर्तित होता है।

एक दिन ठाकुर हरनाम सिंह आत्मग्लानि के चरम क्षणों में आत्महत्या करने के विचार से जंगल की ओर चल पड़ते हैं। ठीक उसी समय सुक्खा भी जंगल में किसी कार्यवश गया था। सुक्खा ठाकुर हरनाम सिंह को जल्दी-जल्दी कुएं की तरफ जाते हुए देखता है तो उनके इरादे भांप जाता है और तुरंत दौड़कर उनको कुएं में कूदने से बचा लेता है, ठाकुर हरनाम सिंह अपने आप को सुक्खा की पकड़ से छुड़ाना चाहते हैं और बार-बार कुएं में कूदने के लिए छटपटाते हैं- " मैं इस धरती पर एक बोझ हूँ सुक्खा। मेरा मर जाना ही अच्छा है। मेरे कृ कर्म मुझे धिक्कारते हैं। मैंने तुम लोगों के साथ जो जुल्म, ज्यादती की है उसके अपराध बोध से कैसे उबरूँ मैं। शायद यही सजा है मेरी कि सड़कर कीड़े पड़े मेरी लाश में और चील कौए नोंच-नोंचकर खाएँ मुझे।"[1] पर सुक्खा के समझाने पर शांत हो जाते हैं- " ऐसा नहीं कहते ठाकुर साहब। गलती तो इंसान का स्वाभाविक धर्म है। दुनिया में ऐसा कोई व्यक्ति नहीं मिलेगा जिससे कभी कोई गलती नहीं हुई हो। अतीत की इन सब बातों को भूल चुके हैं हम लोग, आपके प्रति कोई मैल नहीं है हमारे मन में। आप भी सब कुछ भूल जाएं ठाकुर साहब और समानता का व्यवहार करते हुए प्यार मुहब्बत और भाईचारे के साथ रहिए सबके साथ।"[2] उपन्यासकार अहिंसक तरीके से सामाजिक शक्तियों द्वारा परम्परावादी ताकतों का हृदय परिवर्तन कर सामाजिक क्रांति लाने का संदेश छप्पर के माध्यम से देते हैं।

छप्पर के माध्यम से लेखक सोए हुए दलित समाज को वैचारिक आधार पर संगठित करके सामन्ती-ब्राह्मणी शोषण-उत्पीड़न और जातिगत भेदभाव से मुक्ति के लिए संघर्ष की प्रेरणा देते हैं। शिक्षा

---

[1].छप्पर, डॉ.जयप्रकाश कर्दम, पृ.105

[2].छप्पर, डॉ.जयप्रकाश कर्दम, पृ.12,13

के माहत्व को समझाते हुए लेखक सांस्कृतिक क्रांति पर जोर देते हैं, क्योंकि सांस्कृतिक-क्रांति सामाजिक-क्रांति की ही पूरक है और इनके बिना दलित समाज का उत्थान और विकास सम्भव नहीं है। सांस्कृतिक-क्रांति एक सतत् प्रक्रिया है जो, सामाजिक-क्रांति को एक निश्चित लक्ष्य की ओर ले जाती है।

'मुक्तिपर्व' मोहनदास नैमिशराय का प्रथम उपन्यास है जिसमें आजादी के बाद दलितों में आ रहे परिवर्तनों को नियोजित किया गया है। वे लिखते हैं कि- "हम मुक्तिपर्व किसे कहें...? जब देश आजाद हुआ उसे या जब किसी जाति या कुछ जातियों को आजादी मिली उसे। मुक्ति से आखिर तात्पर्य क्या है? एक आदमी की भुक्ति या एक विशेष जाति की। यह सवाल पाठकों के मन में बार-बार उठेगा। यही सवाल आजादी के बाद से अब तक दलितों के भीतर उठता रहा है, जो उनकी भावनाओं को समय-समय पर उद्धेलित करता है।"[1]

आजदी के बाद दलितों में स्वाभिमान एवं बदलती परम्पराओं को स्पष्ट देखा जा सकता है परिवर्तन की बयार शोषित बंशी में स्पष्ट देखी जा सकती है। बंशी नवाब को उत्तर देता है- "हाँ, हाँ जा रिया हूँ, मैं तो थुक्कूँगा नहीं हिया पर।"[2] अपना यह अंतिम फैसला सुनाकर वह हवेली से बाहर निकल जाता है, बरसों की गुलामी की जंजीरें एक ही झटके में टूट जाती हैं। " नामकर स्वयं बंशी करता है बेटे का, सुनीत और पण्डित का अपमान होता है। नवाब को भी दो टूक जवाब कि बंशी का बेटा किसी की गुलामी नहीं करेगा। वह पढ़ा-लिखाकर उसे बड़ा आदमी बनायेगा। आर्य समाजी रामलाल (सवर्ण) के स्कूल में दलित बच्चों को पढ़ाने के लिए कोई तैयार नहीं-वे सभी अध्यापक सवर्ण थे, जो सरस्वती वन्दना करते थे, सर्प को दूध पिलाते थे, कुत्तों को अपनी गोद में बिठाते थे, पर दलितों की परछाँई से दूर भागते थे। उन्हें जानवरों, कीड़ों-मकोड़ो से प्रेम था, पर वे दलितों से घृणा करते थे उनकी मानवता का दर्शन क्या था? कुछ समझ में नहीं आता था, वे ढ़ोंगी थे, पाखण्ड की केंचुली पहन समाज में अपना कारोबार चलाते थे।"[3]

---

[1].मुक्तिपर्व, मोहन दास नैमिशराय, पृ.05

[2].मुक्तिपर्व, मोहन दास नैमिशराय, पृ.28

[3].मुक्तिपर्व, मोहन दास नैमिशराय, पृ.38

किस तरह दलित बच्चों को मास्टर आगे बढ़ाने से रोकते हैं इस उपन्यास में जगह-जगह चित्रण हुआ है। सुनीत के साथ भेदभाव के कारण बंशी उसे कक्षा अध्यापक से सचेत करता है। " बेटे वह तुम्हारा शिक्षक नहीं दुश्मन है और दुश्मन से हमेशा सावधान रहना चाहिए। दुश्मन चाहे आदमी हो या खास आदमी। सवर्ण कभी नहीं चाहते कि हमारे बच्चे पढ़े-लिखें, क्योंकि अगर वे पढ़-लिख गये तो उन्हें गुलामों की फौज कहाँ से मिलेगी? उनकी सेवा टहल कौन करेगा? उनके जानवरों को चारा कौन खिलाएगा पानी कौन पिलाएगा? उनके बदन की मालिश कौन करेगा? उनकी मक्कारी से हमें बचकर रहना है। पर उनमें से ही कुछ अच्छी बातों से हमें कुछ सीखना भी है। उनमें सभी बुरे नहीं हैं, अच्छे भी हैं, हमारे हाथ की अंगुलियाँ ही देखो। सभी तो बराबर नहीं। ऐसे ही इन्सानों की भी बात है।"[1]

उपन्यास की दूसरी कथा सामाजिक व्यवस्था के परिवर्तन को लेकर है। सुनीत एवं सुमित्रा दोनों ने हाईस्कूल परीक्षा प्रथम श्रेणी में पास की और टीचर की ट्रेनिंग लेते हैं। सुनीत दलित युवक और सुमित्रा सवर्ण युवती दोनों में प्यार हो जाता है, लेकिन दोनों प्यार की जगह पुस्तकालय में गहन विषयों पर विचार करते थे ताकि सामाजिक व्यवस्था को बदला जा सके। सुनीत का सपना था समाज में क्रांति लाना जिसे वह अध्यापक बनकर ला सकता था। उसके सामाजिक बदलाव के गुरुतर दायित्व में सुमित्रा भी उसके साथ है- " सुमित्रा अभी हमें बहुत बड़ी जिम्मेदारी पूरी करनी है। क्या यह अच्छा होगा कि हम उसी जिम्मेदारी को मित्र बनकर निभाएँ। "[2] इस तरह सामाजिक बदलाव या सामाजिक परिवर्तन की आशा की ओर संकेत के साथ उपन्यास का अन्त हो जाता है। लेखक के अनुसार जब तक परम्पराएं नहीं बदल जाती, तब तक समाज में परिवर्तन नहीं होने वाला। इस प्रकार दलित मुक्ति के लिए साझी लड़ाई लड़नी होगी, जिसमें शिक्षा की महत्वपूर्ण भूमिका है। शिक्षा, संगठन एवं संघर्ष के द्वारा ही दलितों का सार्वभौमिक विकास हो सकता है। बाबा साहब के द्वारा बताए गए इन सूत्रों के साथ उपन्यास समाप्त होता है।

'जस-तस भई सवेर' उपन्यास सत्य प्रकाश द्वारा लिखित सन 1998 में प्रकाशित हुआ। सदियों से चली आ रही वर्णाश्रम व्यवस्था दलितों के जीवन को जो आकार प्रदान कर गयी या कर रही या

---

[1].मुक्तिपर्व, मोहन दास नैमिशराय, पृ.77,78

[2].मुक्तिपर्व, मोहन दास नैमिशराय, पृ.139

यूँ कहें कि उनके विचारों और मनः स्थितियों को जिस तरह निर्मित कर गयी, आज बदली हुई परिस्थितियों से उसकी क्रिया, प्रतिक्रिया और अन्तः क्रिया किस रूप में हो रही है। जस-तस भई सवेर उपन्यास में लेखक ने ईमानदारी के साथ रेखांकित करने की कोशिश की है। स्वतन्त्र भारत में दलित परिवारों एवं समाज पर सरकार एवं सामाजिक परिवर्तन के दौर में कितना स्थान यह वर्ग पा रहा है, प्रस्तुत उपन्यास के माध्यम से लेखक ने इस यथार्थ को उजागर किया है।

उपन्यास का प्रमुख कथ्य जमींदार, पुजारी, प्रशासन आदि सभी दलितों में फैली हुई असमानता, अन्धविश्वास और जाति व्यवस्था का लाभ उठाकर किस तरह दलितों में फैली अमानवियता एवं विसंगती स्पष्ट होती है। जस-तस भई सवेर उपन्यास मुख्य रूप से धर्म के कर्मकाण्ड को लेकर है और इस धर्म की आड़ में कितने ऐसे सफेद नकाबपोश लोग छिपे रहते हैं। इसका लेखक खुलासा करता है। चौधरी देवीपाल की वासना की शिकार रामरती, घुसिया और सन्नो ही नहीं होती हैं, बल्कि गाँव की अन्य महिलाओं पर भी उसकी नजर रहती है। हाँ इस बात का उत्तर जरूर था कि कुछ के साथ अवसर मिल गया और कुछ के साथ नहीं। इसी श्रेणी में हंसा की पत्नी सुनहरी थी। चौधरी देवीपाल और हरसन्ना भगत बहुत पहले से ही उस पर अपनी निगाहें गड़ाए हुए थे, पर उनको अवसर नहीं मिलता था। एक दिन अवसर आ ही जाता है। सुनहरी का लड़का बीमार रहता है इसलिए उसके रक्षार्थ पूजा अर्चना के बहाने हरसन्ना सुनहरी को अपने यहाँ बुलाने का षड़यन्त्र करता है- " मैं तेरे पुत्र के कल्याण के लिए देवता का आवाहन कर रहा हूँ। यज्ञवेदी पर बैठा ही था कि आवश्यक कारण याद आ गया। इसलिए तुरन्त हौड़ा चला गया। सुन तुझे इस बीच बड़ी सावधानी बरतनी होगी। कायकष्ट भी हो सकता है, पर तेरा पुत्र बिल्कुल ठीक हो जायेगा"[1] इसके लिए सुनहरी तैयार भी हो जाती है और इसके प्रतिफल के रूप में दोनों ढ़ोंगी सुनहरी को पूजा के बहाने नशीला पदार्थ खिलाकर बेहोशी की हालत में उसके साथ शारीरिक सम्पर्क स्थापित करते हैं। होश आने की स्थिति में सुनहरी सब समझ जाती है। वहीं दूसरी स्थिति में चौधरी एवं भगत भी आपसी बातचीन में किसी भी देवता के अस्तित्व को नकारते हैं- " असल बात तो तुम भी जानते हो कि ये देवता बगैर कुछ नहीं है भैया ! सब खाली पड़े, बिना कमाए मौज उड़ाने का तरीका है शैतान-वैतान तो मैं नहीं जानता। किसी भूत-प्रेत जिन-विन को मैं नहीं जानता न मैं यह जानता हूँ कि ये हैं भी या नहीं और किसमें अर्थात् देवता और शैतान में किसकी शक्ति अधिक

[1].जस-तस भई सवेर, सत्यप्रकाश, पृ.144,115

है... लोग साले खाने को बरसते हैं, यहाँ असली घी देवता के प्रसाद में आ जाता है। मेरा पेट हमेशा नाक तक भरा रहता है ! सारा गाँव मुझे पूजता है।"[1] यह है वर्ण व्यवस्था का असली चेहरा, जो छिपकर आड़ में रहते हुए दलित शोषित एवं अज्ञानी लोगों का मानसिक शोषण करते हैं।

इस उपन्यास का दूसरा महत्वपूर्ण पहलू आरक्षण की समस्या को लेकर है। शिवदास एक सरकारी कर्मचारी है और दलित मिशन से जुड़कर जरूरतमंद लोगों की मदद् करता है। चौधरी देवीपाल एवं भगत उसके खिलाफ षड़यन्त्र के चक्कर में रहते हैं, क्योंकि एक बार महिलाओं की छेड़खानी (सन्नो) करने के आरोप में शिवदास उन्हें जेल भिजवा देता है और ऐसी स्थिति में ये दोनों उसके शत्रु हो जाते हैं। भाषणबाजी के समय जब शिवदास की बारी आती है तो खुलकर आरक्षण के समर्थन में बोलता है। जब वह अपनी बात समाप्त कर ही रहा था तो चौधरी एवं भगत के उकसाने पर उसकी खूब पिटाई होती है। अध्यक्षता कर रहे लोग भी उसकी रक्षा नहीं कर पाते हैं। प्रधान समस्या को उजागर करता हुआ - जस-तस भई सवेर कथ्य की दृष्टि से दलित परम्परा की श्रेणी में आने वाला अपने किस्म का अलग उपन्यास है। क्योंकि आरक्षण एवं अन्धविश्वास के विषय को केन्द्र में रखकर इसकी रचना की गयी है। हकीकत भी है कि वर्तमान समय में आरक्षण जहाँ एक ओर दलितों की राजनीतिक समस्या से जुड़ा हआ मुद्दा है। वहीं अन्धविश्वास सामाजिक समस्या से सम्बन्धित ज्वलंत प्रश्न भी है, ये दोनों ही समस्याएं दलित वर्ग के लिए आज भी अस्मिता से जुड़ी हुई हैं। महत्वपूर्ण यह है कि ये दोनों समस्याएं जहाँ दलित समाज में फैले हुए रूढ़िवाद, अन्धविश्वास से जुड़ी होकर उनके मानसिक शोषण के साथ-साथ सामाजिक एवं आर्थिक शोषण से जुड़ती हैं, वहीं आरक्षण की समस्या राजनीति से जुड़कर भी उनको उनका वाजिब हक दिलाने में कामयाब नहीं हो पाती है। दलित चिन्तन की परम्परा के परिवर्तन बिन्दु में यह उपन्यास एक मील का पत्थर साबित हो सकता है।

1.5. ओमप्रकाश वाल्मीकि का व्यक्तित्व

1.5.1.जन्म:

ओमप्रकाश वाल्मीकि का जन्म जनपद मुज़फ़्फ़र नगर (उ.प्र) के बरला गाँव में 30 जून, 1950 को दलित समाज की सर्वाधिक उपेक्षित जाति में हुआ।

[1].जस-तस भई सवेर, सत्यप्रकाश, पृ.114,115

1.5.2.शिक्षा:

आपने एम.ए.(हिन्दी) तक शिक्षा प्राप्त किया है । कवि ओमप्रकाश वाल्मीकि ने अपने परिवेश को बड़ी संवेदनशीलता से अनुभव किया है, और उसे साहित्य की विभिन्न विधाओं जैसे कविताओं, कहानियों, आत्मकथा, नाटकों व संस्मरणों में व्यक्त किया है।

ओमप्रकाश वाल्मीकि की कविता स्वांतःसुखाय नहीं अपितु जन हिताय की व्यापक सामाजिक जीवन परिवेश की परिचायक है। ये यथार्थ दुःखों, संतापों के प्रामाणिक व खुले दस्तावेज़ भी हैं। उनकी कुछ रचनाएँ मराठी, अंग्रेज़ी व चायनीज में भी अनूदित हुई हैं। नागपुर में हुए अखिल भारतीय हिंदी दलित साहित्यकार सम्मेलन में दिया गया उनका अध्यक्षीय भाषण ऐतिहासिक था।

1.5.3.परिवार :

ओमप्रकाश वाल्मीकि के परदादा का नाम 'जाहरिया' था। उन के दो पुत्र थे। बड़े का नाम था 'बुद्ध' जिसे सब बुद्ध कहते थे, छोटे का नाम था- 'कुंदन'। 'बुद्ध' के भी दो ही बेटे थे, बड़े 'सुगनचंद' और छोटे का नाम था 'छोटन लाल' यानी ओमप्रकाश वाल्मीकि के पिता। सुगन की सिर्फ एक बेटी थी, जो रुड़ी के पास पनियाले ब्याही थी। उनका पति घरजँवाई बनकर रहता था।

'छोटन लाल' के पाँच लड़के, दो लड़कियाँ थीं। सबसे छोटी लड़की 'सोमती' दो-तीन साल की थी तभी गुजर गई थी। 'सुखबीर' सबसे बड़े पुत्र थे, उसके बाद 'जगदीश' (जो अठारह वर्ष की आयु में ही गुजर गए थे), उससे छोटे 'जसबीर' फ़िर 'जनेसर' और उनसे छोटा 'ओमप्रकाश वाल्मीकि' और उनसे छोटी 'माया' थी।

'कुंदन' के तीन पुत्र हुए थे- 'मोल्हड़', 'सोल्हड़' और 'श्यामलाल'। दो बेटियाँ थीं। सबसे बड़ी का नाम था 'चोटी' और सबसे छोटी 'श्यामो'।

छोटनलाल (पिता) और ओमप्रकाश वाल्मीकि के ताऊजी की शक्लें परस्पर मिलती थीं। एक-सा कद, काठी, रंग, मूँछें, यहाँ तक कि चलना भी एक ही जैसा था। दोनों परिवारों की अनबन के बावजूद पिताजी और ताऊजी कभी नहीं लड़ते थे।

माया की शादी में दोनों परिवार एक बार फिर मिल गए। इस मिलाप में ओमप्रकाश वाल्मीकि ने काफ़ी जद्दोजहद की थी। दोनों परिवारों का यह मेल सुखद था। छोटी बुआजी चुड़ियाले गाँव में ब्याही थीं। जब भी आती थीं, घर भरा-भरा दिखता था। वे सबकी चहेती थी। पिताजी अपनी चचेरी बहनों पर जान छिड़कते थे। फूफाजी और पिताजी में बेहद घनिष्ठ रिश्ता था।

छोटनलाल (पिताजी) ने अपने चचेरे भाई-बहनों को कभी अलग नहीं समझा। छोटी बुआजी की शादी का खर्च छोटनलाल (पिताजी) ने ही किया था। बाद में श्यामो बुआजी के गोने का खर्च भी (छोटनलाल) पिताजी ने ही किया था।

1.5.4.व्यवसाय : संप्रति रक्षा मंत्रालय, भारत सरकार के अधीन ऑर्डिनेंस फैक्ट्री देहरादून में कार्यरत हैं।

1.5.5.प्रकाशित कृतियाँ :

कविता संग्रह : सदियों का सन्ताप-1989, बस्स! बहुत हो चुका-1997, अब और नहीं-2009.

आत्मकथा : जूठन-1997, (पंजाबी, मलयालम, तमिल, कन्नड, तेलुगु, अंग्रेजी, जर्मनी, स्वीडिश भाषाओं में अनूदित हुई है।)

कहानी संग्रह : सलाम-2000, घुसपैठिए-2003, (Amma and Other Stories अंग्रेजी में अनुदित हुई है।)

अन्य साहित्य : दलित साहित्य का सौन्दर्य शास्त्र-2001(आलोचना), मुख्यधारा और दलित साहित्य-2009 (आलोचना), सफाई देवता-2008 (समाजशास्त्रीय अध्ययन)।

अनुवाद : Why I am not a Hindu (Kancha Ilaiah) का हिन्दी में 'क्यों मैं हिन्दू नहीं हूँ' और मराठी से हिन्दी में 'साडरन का शहर' का अनुवाद सराहनीय है।

1.5.6.सम्पादन : दलित हस्तक्षेप (रमणिका गुप्ता), प्रज्ञा साहित्य (अतिथि सम्पादन), तीसरा पक्ष (सलाहकार सम्पादन)।

1.5.7.अन्य : 1.लगभग 60 नाटकों में अभिनय एवं निर्देशन कर चुके हैं।, 2.अनेक पाठ्यक्रमों में रचनाएँ शामिल, 3.प्रथम हिन्दी दलित लेखक साहित्य सम्मेलन, नागपुर,1993 के अध्यक्ष, 4.28 वें अस्मिता दर्श साहित्य

सम्मेलन, चन्द्रपुर (महाराष्ट्र), 2008 के अध्यक्ष।

1.5.8.पुरस्कार : डॉ.अम्बेडकर राष्ट्रीय पुरस्कार(1993), परिवेश सम्मान(1995), जयश्री सम्मान, कथाक्रम सम्मान (2001), न्यू इंडिया बुक पुरस्कार (2004), 8 वाँ विश्व हिन्दी सम्मेलन (2007), न्यूयॉर्क, अमेरिका सम्मान, साहित्य भूषण सम्मान (2008)।

1.5.9.सृजन की प्रेरणा :

ओमप्रकाश वाल्मीकि जी ने बचपन में अपनी माँ से अनेक कहानियाँ सुनी थीं। वे लम्बी-लम्बी कहानियाँ सुनाया करती थीं। जो कई रातों तक धारावाहिक के रूप में चलत रहती थी। वहीं से कहानियों के प्रति जो लगाव बना, वह आज तक जारी है। माँ से सीखी कला का इस्तेमाल उस वक्त हुआ जब राजेंन्द्र यादव जी ने दिल्ली की दलित और मज़दूर बस्तियों में कहानी-पाठ के कार्यक्रम चलाये थे। उसमें ओमप्रकाश वाल्मीकिजी ने उस तकनीक का इस्तेमाल किया था। यह 1994 के मई, जून की बात है। उसी वर्ष हंस का वार्षिक कार्यक्रम इसी विधा पर हुआ था। उस कार्यक्रम में ओमप्रकाश वाल्मीकिजी ने 'पच्चीस चौका डेढ़ सौ' कहानी का पाठ किया था।

ओमप्रकाश वाल्मीकि अपने लेख 'मेरी रचना प्रक्रिया : अस्मिता की तलाश' में लिखते है कि

"अपने स्कूली जीवन से ही मैंने कविताएं, कहानियां लिखना शुरू कर दिया था। बरला से देहरादून आया था, आगे पढ़ाई करने के लिए। लेकिन हालात ने पढाई छुड़ाकर तकनीकी शिक्षा की ओर प्रवृत्त कर दिया। फिर भी देहरादून से जबलपुर, बंबई, चंद्रपुर तक मेरी साहित्यिक यात्रा थमी नहीं थी। कविताएं और कहानियाँ ही नहीं रंगमंच भी इस यात्रा में साथ-साथ चल रहा था। डॉ.अम्बेडकर के जीवन-संघर्ष से परिचय देहरादून में रहते हुए हो चुका था। यह परिचय बंबई प्रवास में और ज्यादा प्रगाढ़ हुआ। दलित आंदोलन से जुड़े लेखकों, कवियों, रंगकर्मियों को करीब से देखने का मौका मिला। उनकी जद्दोजहद और संघर्ष की अटूट भावना ने मुझे लिखने की प्रेरणा दी।"[1]

ओमप्रकाश वाल्मीकि मराठी के बाबूराव बागुल और रूसी कहानीकार चेखव से सर्वाधिक प्रभावित है। बाबूराव बागुल की कहानियों में दलित अस्मिता और दलित चेतना का जो क्रांतिकारी रूप

[1].मुख्यधारा और दलित साहित्य- ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.17

है वह वालमीकिजी को पसंद है। चेखव की कहानी कला में जो बारीकियां हैं, वे अन्यत्र दुर्लभ हैं।

कहानियों के क्षेत्र में दलित जीवन के संदर्भों को लेकर लिखी गई ऐसी बहुत-सी कहानियाँ हैं जो कहानी के रचना विधान की किसी भी कसौटी पर, अंतर्वस्तु, संवेदना और शिल्प के हर आयाम पर कहानी की यथार्थवादी परंपरा को नई संवृद्धि प्रदान करती है। इन कहानियों के ज़रिये दलित जीवन के कुछ ऐसे पहलू पहली बार उजागर हुए हैं जो अब तक नितांत अनदेखे और अनछुए थे। अल्प अवधि के इस दलित लेखन में जिन कुछ लोगों ने दलित रचना शीलता और हिंदी की बृहत्तर सर्जना में अपनी खास पहचान बनाई है, उनमें ओमप्रकाश वाल्मीकि का स्थान सहज ही सबसे ऊपर है।

1.6.ओमप्रकाश वाल्मीकि की कृतित्व :

दलित साहित्यकारों में ओमप्रकाश वाल्मीकि का नाम उनकी प्रगल्भता के कारण बड़ी तेजी के साथ उभरता है। उनके साहित्य में मनुष्य की चिन्ता व्यक्त हुई है। दलित जीवन का सच्चा और प्रमाणिक चित्रण उनकी कहानियों में, कविताओं में, आत्मकथा में और अन्य साहित्य में हुआ है।

1.6.1.कहानियों का संक्षिप्त परिचय :

ओमप्रकाश वाल्मीकि ने अपनी पहचान मात्र अपने रचनात्मक लेखन के ज़रिये ही नहीं बनाई, जिसमें उनकी आत्मकथा, उनकी कहानियाँ और उनकी कविताएँ शामिल हैं बल्कि अपने विचारात्मक लेखन के ज़रिये भी बनाई है जिसमें उनके दलित लेखन को लेकर दूसरे लेखकों से हुए आलोचना की भी महत्वपूर्ण भूमिका है। इस विमर्श में उनकी हिस्सेदारी का वैशिष्ट्य इस बात में है कि विचार की अपनी ज़मीन पर मजबूती के साथ खड़े रहकर भी उनमें प्रतिपक्ष के विचारों को सुनने ओर तर्क की ज़मीन पर उचित को स्वीकार करने का मद (अभिमान) भी है। वे प्रतिपक्ष से संवाद करते हैं, वितंडा नहीं। वस्तुतः संवाद की सही ज़मीन भी यही है।

विमर्श के समय के तेवरों से काफ़ी हटे हुए रचना के धरातल पर ओमप्रकाश वाल्मीकि ने दृष्टि के खुलेपन का जो परिचय दिया है वह अपने ढंग से बेहद महत्वपूर्ण है। अपनी एकाधिक कहानियों में वे गैर दलित पात्रों को भी अपने दलित पात्रों के साथ साझा संघर्ष को सामने लाए हैं। ऐसे उदाहरण अपवाद ही हों, पर वे वास्तविक जीवन का यथार्थ हैं। महत्वपूर्ण है एक सही लक्ष्य के लिये दलित और दलित का साझा संघर्ष और सही सोच।

ओमप्रकाश वाल्मीकि की कहानियाँ हमें सहज तो करती ही हैं, साथ ही अनुभव के एक ऐसे संसार में भी, जहाँ वर्ग, वर्ण, धर्म और संप्रदाय के भेदों से अलग हम आदमी और आदमियत से मुख़ातिब होते हैं। ये कहानियाँ अपने रचनात्मक कौशल, संवेदना और शिल्प हर आयाम पर दलित कहानियाँ होते हुए भी हिंदी की यथार्थवादी कहानी परंपरा की एक मज़बूत कड़ी है।

कहानीकार काशीनाथ सिंह ने दलित कहानीकार ओमप्रकाश वाल्मीकि जी की कहानियों में मुखरित नए तेवर और नए स्वर की चर्चा करते हुए कहा है कि "सहानुभूति भी एक मूल्य है। यह चेतना अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर फैली रही है - यह खुशी की बात है। हम तब तक लिख रहे हैं, जब तक आप हमें अप्रासंगिक न सिद्ध कर दें, हाँ यह मेरी हसरत है कि आप मुझे ख़ारिज कर दें।"[1]

दलित कहानियों के संदर्भ में प्रकाश मनु का कहना है कि "हिंदी के इन सहज कथाकारों में दलित कथाकार का उल्लेख किया जाना चाहिए। ओमप्रकाश वाल्मीकि, श्यौराजसिंह बेचैन, प्रेम कुमार मणि, चंद्रशेखर कर्, आदि की कहानियों ने भारतीय समाज के एक ऐसे रोंगटे खड़े कर देनेवाले यथार्थ की ओर हमारा ध्यान खींचा है। जिसे पहले चादर की ओट कर दिया जाता था।' इस संदर्भ में वे आगे लिखते हैं कि ओमप्रकाश वाल्मीकि की प्रमोशन, प्रेम कुमार मणि की जुगाड़ और चन्द्रशेखर कर्ण की सुरंग से गुज़रते हुए कहानियों में अप्रमानों की गहरी कचोट है जो सीधे दिल में उतरती है और हक्का-बक्का कर जाती है। दलित साहित्य सच में सभ्यता के नक़ली मुखौटों की चिंदी-चिंदी कर देने वाला साहित्य है।"[2]

रमणिका गुप्ता का कहना है कि "ये कहानियाँ सामाजिक बदलाव लाने का आह्वान करती हैं। इन कहानियों में आक्रोश है, आग है, गुस्सा है तो साथ साथ संवेदना, मानवीयता और सब भी है। न्याय की उत्कर लालसा है, समानता की तीव्र ललक है। भाईचारे की भावना है, आदर पाने की इच्छा भी बलवती है।"[3]

---

[1]. वसुधा, 2000-पृ.307

[2]. दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.116

[3]. दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.117

1.6.1.सलाम कहानी संग्रह :

ओमप्रकाश वाल्मीकि की कहानियाँ दलित जीवन की संवेदनशीलता और अनुभवों की कहानियाँ हैं, जो एक ऐसे यथार्थ से साक्षात्कार कराती हैं, जहाँ हजारों साल की पीड़ा अँधेरे कोनों में दुबकी पड़ी है। ओमप्रकाश वाल्मीकि के इस संग्रह की कहानियाँ दलितों के जीवन-संघर्ष और उनकी बेचैनी के जीवन्त दस्तावेज हैं, दलित जीवन की व्यथा, छटपटाहट, सरोकार इन कहानियों में साफ़- साफ़ दिखायी पड़ते हैं। वाल्मीकि ने जहाँ साहित्य में वर्चस्व की सत्ता को चुनौती दी है, वहीं दबे-कुचले, शोषित-पीड़ित जन समूह को मुखरता देकर उनके इर्द-गिर्द फैली विसंगतियों पर भी चोट की है। जो दलित विमर्श को सार्थक और गुणात्मक बनाता है।

समकालीन हिंदी कहानी में दलित चेतना की दस्तक देने वाले कथाकार ओमप्रकाश वाल्मीकि की ये कहानियाँ अपने आप में विशिष्ट हैं। इन कहानियों में वस्तु जगत का आनन्द नहीं, दारूण दुःख भोगते मनुष्यों की बेचैनी है। इस कहानी संग्रह में से कुछ कहानियों के मूल विषय को निम्न रूप से हम देख सकते हैं।

1.6.1.1.वास्तविकता का एक नया पहलू : सलाम :

इस कहानी में ओमप्रकाश वाल्मीकि मुख्यतः यह दिखाना चाहते है कि सवर्णों के गाँव में पहुँची दलितों की एक बारात के निहायत स्वाभाविक और यथार्थ वातावरण में सवर्ण मानसिकता के टुच्चेपन को प्रसंगतः उभारते हुए, समय के बदले हुए संदर्भ में नई पीढ़ी के शिक्षित और प्रबुद्ध नवयुवक किस प्रकार अपने बीच सदियों से चली आ रही रूढ़ प्रथाओं के न केवल खिलाफ़ हैं अपने इन संकल्पों की ख़ातिर जोखिम उठाने को भी तैयार हैं।

कहानी का मुख्य पात्र हरीश बड़े बुजुर्गों की नसीहत, आसन्न विपत्ति की संभावनाओं और दुष्परिणामों के बावजूद विवाह के अवसर पर सवर्णों के घर जा कर सलामी देने और बख्शीश पाने की सदियों से चली आ रही प्रथा की खिलाफ़त करता है और अंत तक अपने निर्णय पर दृढ़ रहता है।

दलितों की अपनी अस्मिता और स्वाभिमान के इस बदलाव को बिना किसी आरोपण के, बड़े सहज ढंग से स्थितियों के बीच ओमप्रकाश वाल्मीकि वस्तुगत यथार्थ की संगति में जिन रचनात्मक कौशल के साथ कहानी को इस बिंदु तक लाए हैं, वह उनके कहानीकार की ताकत और समझ का

साक्ष्य है। दलित जीवन संदर्भों का अतिक्रमण करते हुए आदमीयत के एक बड़े दायरे में पहुँच कर हमारी समूची मानसिकता आज भी हमारी आदमियत पर सवाल उठाती है। क्या हो गया है हमारी सोच को, कौन-सा ग्रहण लग गया है उस पर कि हम आदमी को आदमी के रूप में न देखकर उसे छूत-अछूत, हिन्दू-मुसलमान, ब्राह्मण-ठाकुर न जाने किन-किन रूपों में देखते और पहचानते हैं और यही संस्कार और सोच जन्म से ही अपनी संतानों को भी देती है। वर्ग, वर्ण, धर्म, नस्ल, संप्रदाय से परे आदमी, केवल आदमी हमें क्यों नहीं दिखाई देता? कहानी का यह अप्रत्याशित नया विधान उसे एक बड़े सवाल से, आदमियत की शिनाख्त के सवाल से जोड़ते हुए न केवल उसे एक नई अर्थवत्ता और बड़ा आशय देता है, बल्कि ओमप्रकाश वाल्मीकि की अपनी सोच के एक खूबसूरत पहलू से भी हमें मुख़ातिब करता है।

दृष्टव्य है कि 'जिस समय वर-वधू पक्ष इस चिंता में हैं कि जल्द से जल्द बारात विदा होकर गाँव के बाहर हो जाय, बारात के एक बुजुर्ग अपने बच्चे से शीघ्र खाना खाने का आग्रह करते है और मासूम सा वह बच्चा हठपूर्वक खाने से यह कहते हुए इंकार करता है कि वह मुसलमान के हाथ से बनाई रोटी नहीं खाएगा। यह समझने के बावजूद कि रोटी हिन्दू की बनाई हुई है, वह बराबर अपनी जिद पर अड़ा रहता है।' "मैं नी खाऊँगा उसके हाथ की बनी रोट्टी...मैं नहीं खाऊँगा।"[1] कहानी इसी बिन्दु पर यह कहते हुए खत्म की है कि कमल और हरीश फटी फटी आँखों से उस लड़के को देख रहे थे। कुछ देर पहले जागा आत्मविश्वास लड़के की आवाज़ में दबने लगा था। कमल और हरीश दोनों ख़मोशी के अंधेरे में जंगल में भटक गए थे।

कहानी की व्यंजना यही है कि आदमियत की सही मंजिल तक की यात्रा सचमुच कितनी कठिन है। न जाने कितने अवरोध है जिन्हें पार करना होगा। सदियों के संस्कार, सदियों की रूढ़ सोच, इन सबका गलना, टूटना बड़े धैर्य, संयम ओर कठिन संकल्प की अपेक्षा रखता है। कहानी का यह अंत हताशा या निराशा का सूचक नहीं, एक बेचैनी जरूर उपजाता है। संजीदगी के साथ संघर्ष को जारी रखने की ज़रूरत पर बल देता है।

---

[1]. सलाम, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.19

कमल ने ब्राह्मण होकर भी हरीश से बचपन की अपनी दोस्ती निभाई थी, अपने घर परिवार के विरोध के बावजूद। हरीश ने भी उसके साथ भाईचारा जोड़ा था। एक अप्रत्याशित प्रसंग दोनों के उपजे आत्मविश्वास को कँपा देता है और वास्तविकता का एक नया पहलू उनके सामने चुनौती के रूप में पेश कर लेता है। इसी नाते यह कहानी एक महत्वपूर्ण कहानी का दर्जा पा जाती है।

1.6.1.2. मानवीय संवेदना की अभिव्यक्ति : भय :

इस कहानी में दिनेश अपनी जाति छिपाकर सवर्णों की कॉलोनी में कई वर्षों से रह रहा है। दिनेश की माँ पूजा में सुअर को चढ़ाने की इच्छा उसके सामने रखती है। दिनेश बहुत देर तक उसकी माँ को समझाता है, वह नहीं मानती । आखिर दिनेश हार कर एक सुअर को खरीदता है। हालत ऐसी है कि उस बच्चे को मारने की जिम्मेदारी उस पर पढ़ती है। सुअर की गोरत को बोरे में लेकर दिनेश घर पहुँचता है।

उसके लिए चिंता का कारण रामप्रसाद तिवारी था। उसका रोज ही आना जाना था। वह कभी कभी उसके साथ ही खाना खा लेता था। जिस दिन वह उनके घर खाने के लिए रुकता था, उस दिन माँ सब्जी में लहसन तक नहीं डालती थी। मांस तो यदा कदा ही बनता था। वह भी तब, जब यह पता चलता कि तिवारी नहीं आएगा या कहीं बाहर गया हुआ है। इतने वर्षों से राम प्रसाद तिवारी भी नहीं जान पाया कि वह एस.सी. है।

कई बार आरक्षण के विरोध में राम प्रसाद तिवारी ने गाली-गलौज की भाषा इस्तेमाल की थी। साथ ही भद्दी ज़बान में बाबा साहब और बापू के लिए अपशब्द कहे थे।

पूजा की जैसे जैसे तैयारी हो रही थी, उसके हृदय की धड़कने भी बढ़ रही थी। पूजा ख़त्म होने ही वाली थी, दरवाज़े की घंटी बजी। घंटी की आवाज़ के साथ ही दिनेश का दिल धड़क उठा। उसे लगा जैसे भूचाल आ गया है। माँ ने दरवाज़ा थोड़ा-सा खोला। सामने तिवारी ही खड़ा था।

"दिनेश कहाँ गया है...?" तिवारी ने पूछा।

"बताकर तो नहीं गया..." माँ ने टालने की कोशिश की।

"आज सुबह से वह है कहाँ?... दिन में मैंने उसे सहस्त्रधारा रोड की मलिन बस्ती से निकलते देखा

था। उसके स्कूटर में एक बोरा भी था। मैंने आवाज दी थी। फिर भी वह रुका ही नहीं।"[1]

तिवारी ने हैरत से कहा।

माँ को चुप देखकर तिवारी बोला "अच्छा, एक गिलास पानी पिला दो फिर चलता हूँ..."[2]

पानी पीकर गिलास को लौटाते हुए तिवारी बोला कुछ अजीब सी गंध आ रही है, अच्छा चलता हूँ। वह तेजी से बाहर निकल गया. मनोवैज्ञानिक धरातल पर यह दिनेश की दोहरी मानसिकता में फँसी कहानी है। सवर्ण कॉलोनी में चुपके से रहने वाले नायक में जाति के प्रकट हो जाने के भय के साथ ही एक अबोध शिगू की हत्या से उपजा भय भी है। हीनता बोध और हिंसा बोध को केंद्र में रख कर मानवीय संवेदना की अभिव्यक्ति की कहानी है, भय।

इन कहानियों के बारे में जानकी प्रसाद शर्मा लिखते हैं कि "ओमप्रकाश वाल्मीकि की 'भय' कहानी काबिले जिक्र है - यह कहानी वर्ण और वर्ग के अंतर्विरोधों को बड़ी ही बारीकी के साथ उद्घाटित कर देती है। यहाँ दलितों की समस्या का एक विशिष्ट आभास मौजूद है। वह यह कि एक ओर मझोले नौकरी पेशा वर्ग की कृत्रिम सम्भ्रान्तता है। यह सम्भ्रान्तता की ग्रन्थि इतनी प्रबल हो जाती है कि व्यक्ति वर्ण को लेकर अतिरिक्त रूप से सजग और ऊँची जातियों से मिलने वाले अपमान के कारण वह अपनी वर्णगत पहचान से जुड़ना बल्कि एक मिथ्या चेतना से मुक्त होकर दूसरी मिथ्या चेतना से जुड़ जाता है। दूसरी ओर अपनी जाति के रीति रिवाज प्रेत की तरह उसके पीछे लगे रहते हैं। 'भय' कहानी का दिनेश इन्ही अंतर्विरोधों की गिरफ्त में कसमसाता रहता है। उसे माई मदारन की पूजा के लिए सूअर के बच्चे का ताज़ा मांस भी चाहिए और उसे इस बात का भय भी है कि कहीं पड़ोसी ब्राह्मण को उसकी जाति का पता न चल जाए। कथाकार का निरीक्षण अद्भुत है।

1.6.1.3.अमानवीय व्यवहार पर चोट : कहाँ जाएँ सतीश? :

इस कहानी में मि. सुदर्शन पंत और उनकी पत्नी को जब तक सतीश की जाति का पता नहीं चलता, सतीश उनके घर-परिवार के सदस्य के रूप में रहता है। उनकी बेटी उसके हाथ पर राखी बाँधती है। परंतु जैसे ही उन्हें सतीश के दलित होने की असलियत का पता चलता है, उसे घर से बाहर फेंक

---

[1]. सलाम, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.36

[2]. सलाम, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.46

दिया जाता है। पढ़ाई के साथ साथ वह जिस बल्ब फैक्ट्री में काम करता है, ओर जिसके मालिक एजाज अहमद उसे फरिशते के समान लगते हैं, वे भी उसे एक रात के लिए फैक्ट्री में जगह देने से मना कर देते हैं।

सतीश की इस विडंबना को केंद्र में लाकर ओमप्रकाश वाल्मीकि ने दलितों के साथ किये जाने वाले सदियों के इस अमानवीय व्यवहार पर चोट की है। कहानी इस नाते प्रभाव डालती है कि मनोकांक्षा के बजाय इसमें कहानिकार ने वास्तविक जीवन के यथार्थ को ही रूपायित किया है। आवेश, आक्रोश, लफ्फाजी, बयान बाज़ी, भाषण आदि, कहानी का मुख्य पात्र सतीश अपने अनिश्चित भविष्य के सवाल को दरपेश करते हुए हमसे मुख़ातिब होता है। यही नहीं हमारे तथा समाज के कर्णधारों को अपने आचरण पर सोचने के लिए भी मजबूर करता है।

जब सुदर्शन पंत ने आंगन में स्कूटर खड़ा करते हुए पूछा, ये बाहर दरवाजे के पास कौन बैठे हैं?

"सतीश के मम्मी-पापा..."

"यह तो कोई छोटी जात के लग रहे हैं? सतीश कहाँ है?" सुदर्शन पंत ने आश्चर्य से कहा।

"अभी तक लौटा नहीं है।"

"कब से बाहर बैठे हैं?"

"दोपहर से।"

"इस तरह...गली में। अंदर आँगन में तो बैठा सकती थी !" सुदर्शन पंत ने क्रूर आश्चर्य मिश्रित तल्खी से कहा।

"हाँ...अब यही तो बचा है, बाप-दादों की परंपरा खत्म कर दी। एक डोम को घर में रख लिया। सोनू तो उसका जूठा तक खा गई ...मेरी तो समझ में नहीं आ रहा है, प्रायश्चित कैसे होगा...मिसेज गुप्ता के कान में भनक भी लग गई तो वह पूरे शहर में ढिंढोरा पीट देगी...मिसेज पंत ने एक डोम को घर में रखा, किराएदार बनाकर। अगर मुझे पता होता तो घर में घुसने भी न देती उसे। जैसे वह वापस अएगा उसका सामान उठाकर बाहर फेंको। मुझे तो उसके कपड़ों से भी बदबू आने लगी है।"[1]

[1]. सलाम,ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.51

1.6.1.4.मानवीय संवेदनाओं की नई त्रासदि अहसास : जिनावर :

इस कहानी के केंद्र में एक कुलीन ग्रामीण परिवार की बहू है, बहु का ससुर चौधरी हमेशा बहु को अपनी वासना का शिकार बनाना चाहता है। बहु उससे उसकी हवस का शिकार बनने से लगातार इनकार करती है। जिसके कारण उसे उसका ससुर सदा के लिए अपने घर से निष्कासित कर उसके मायके भेजने का निर्णय करता है। चौधरी अपने बँधुआ जगेसर को, जो दलित है, बहू को उसके मायके ले जाने का आदेश देता है और जगेसर और निष्कासित बहू की यात्रा शुरू होती है।

जगेसर बार-बार बहू से जल्दी-जल्दी कदम बढ़ाने का आग्रह करता है। उसे चौधरी के निर्देश के अनुसार शाम तक वापस भी लौटना था। परंतु बहु उसी मंद गति से आगे बढ़ती है। जगेसर उसकी स्थिति के प्रति संवेदनशील होता है। उसके लिए पानी लाता है। और उससे कुछ देर विश्राम करने को कहता है ताकि आगे यात्रा में गति आ सके। सारी यात्रा के दौर में वह बहू से संवाद करता है, जानना चाहता है कि आखिर मायके जा रही बहू क्यों इतनी उदास है, परंतु सारी यात्रा में बहु का मौन उसे परेशान करता है।

विश्राम के बाद यात्रा फिर शुरू होती है। इस बार जगेसर के उकसाने पर बहू बोलती है और अपने अंतस का सब कुछ उसके सामने उढ़ेल देती है। जगेसर विश्वास नहीं कर पाता कि बहू जो कुछ कह रही है वह वाक़ई सच है। बहू उसे विश्वास दिलाती है और कहती है कि वह किस नाते ससुराल से निष्कासित की गई है। जगेसर के सामने पहली बार अपने उस मालिक का चेहरा बेनक़ाब होता है, जिसके कहने पर उसने निरापराधों पर न जाने कितने ज़ुल्म किए थे। वह काँप उठता है और अपराध बोध से भर उठता है। वह बहू को मायके जाने की सलाह देता है, परंतु जिस जानवर के शिकंजे से छूट कर वह ससुराल से बाहर आई थी वैसा ही एक जानवर उसका मामा उसके मायके में था, जिसने बचपन में ही उसे अपनी हवस का शिकार बनाया था।

बहू मायके जाने से इन्कार करती है। और जगेसर से आग्रह करती है कि ‘ वह उसे वही रास्ते पर छोड़ कर वापस लौट जाए। आदमी के वेश में औरत की देह के सूखे जानवरों की हवस का शिकार बनने से बेहतर है कि वह रास्ते के जंगली जानवरों की भेंट चढ़ जाए।’

जगेसर के भीतर का मनुष्य अब तक जाग उठा था। वह बहू को ऐसी हालत में निराश्रित छोड़ देने के लिए कतई राज़ी नहीं होता। वह कहता है कि "ना...बहू जी...मैं लछमन ना हूँ जो सीता कू बियाबान जंगल में छोड़ कर वापस चला जाऊँ।"[1] जगेसर के चेहरे पर आत्मविश्वास और संकल्प की दृढतता थी। वह बहू से चलने को कहता है। बहू उसके चेहरे को पढ़कर उसके पीछे चल देती है। कहानी इसी बिंदु पर बिना कुछ कहे समाप्त हो जाती है। यही कहानी की खूबी है।

1.6.2.'घुसपैठिये' कहानी संग्रह :

'घुसपैठिये' कहानी संग्रह की तमाम कहानियाँ दलित संदर्भों से जुड़ी हुई हैं। यह दलित जीवन का यथार्थ है जिसे कहानीकार अपनी कहानियों में यथार्थ के प्रति वस्तुनिष्ठ रहते हुए, कहानी के रचना-विधान की संगती में दृष्टिकोण के समूचे खुलेपन के साथ चित्रित किया है।

व्यवस्था के प्रति गहरा आक्रोश, कथा-विन्यास के अनुरूप तर्क और विचार, अनुभवजन्य ये कहानियाँ दलितों के सुख-दुःख, उनकी मुखरता और संघर्ष की कहानियाँ हैं। वस्तुगत यथार्थ की संगति में जिस रचनात्मक कौशल के साथ इन कहानियों को ओमप्रकाश वाल्मीकि केन्द्रित बिन्दु तक लाए हैं वह उनके कहानीकार की ताक़त का साक्ष्य है। इन कहानियों में दलित और स्त्री की पीड़ाएँ मिलकर एक हो गई हैं। ये कहानियाँ सिर्फ दलित लेखन के दायरे की ही कहानियाँ नहीं हैं बल्कि उनमें उनकी रचना-सामर्थ्य और उनकी सोच के जो पहलू उभरे हैं वे उन्हें हिन्दी की यथार्थवादी कहानी की परम्परा का कहानीकार सिद्ध करते हैं।

1.6.2.1.अपमान और यातना की चक्की : घुस पैठिए :

इस कहानी में दलित मेडिकल कॉलेज में पढ़ते हुए जिन मुश्किलों का सामना करते हैं उनका वर्णन किया है। राकेश मेडिकल कॉलेज में काम करते थे। वे स्वयं दलित थे लेकिन उनकी पत्नी इन्दु यह नहीं चाहती कि सब को मालूम पड़े कि वे दलित हैं। मेडिकल कॉलेज के कुछ लड़के राकेश के घर रमेश चौधरी के साथ मिल कर आते हैं। रमेश चौधरी सामाजिक कार्यकर्ता है। रमेश चौधरी के बोलने का अंदाज कुछ ऐसा था कि सामने वाला व्यक्ति सहज ही नहीं रह पाता।

---

[1]. सलाम, ओमप्रकाश वाल्मीकि,पृ.102

तुम लोग अपने आपको समझते क्या हो ? तुम लोगों को सिर्फ़ एड्मिशन भी कोटे से ही चाहिए। लेकिन इस कोटे को बचायो रखने के लिए जब कुछ करने की नौबत आती है तो तुम लोगों को ज़रूरी काम निकल आते हैं या फिर दफ़्तर से छुट्टी नहीं मिलती। तब रमेश चौधरी ही बनेगा बलि का बकरा। गालियाँ भी वही खाएगा। देखो साहब...अगर भीड़ का हिस्सा बनने में आप लोगों को ख़तरा दिखाई देता तो ऐसी संस्थाओं को चंदा दो जो तुम्हारे हितों के लिए काम करती है ...तुम लोग इसी तरह उदासीन बने रहे तो वह दिन दूर नहीं जब आरक्षण को ये लोग हज़म कर जाएँगे...बाबा साहब तो हैं नहीं और बाबा साहब के नुमाइदे बनेने का जो ढोंग कर रहे हैं वे भी संसद में पहुँचते ही गीदड़ बन कर उनकी गोद में बैठे जाते हैं जो आरक्षण विरोधी हैं और तरह तरह की नौकरियाँ करने में माहिर है। न्यायाधीशों से फैसले दिलवाएँगे कि अब मेडिकल और इंजीनियरिंग में आरक्षण से दाख़िला नहीं मिलेगा। इससे प्रतिभाएँ नष्ट होती हैं.. जैसे प्रतिभाएँ इनके ग़ुलाम है और सिर्फ़ इनके घरों में ही जन्मती है... "अरे इतने ही प्रतिभावान थे तो देश की यह हालत कैसे हो गई..."[1]

दलित छात्रों पर मार-पीट होती थी और गैर दलितों के कमरे में दलित का दाख़िल नहीं होता था। डीन का कहना था कि आरक्षण से आए हो थोड़ा बहुत सहना ही होगा।

रमेश चौधरी ने अख़बारों को भी रपट भेजी थी जिससे दलित छात्रों के उत्पीड़न को मुख्य मुद्दा बनाया था। लेकिन अख़बारों ने इसे रैगिंग कहकर छापा। दलित छात्रों के साथ होने वाली ज़्यादतियों का कहीं ज़िक्र नहीं था।

सोनकर को पहली परीक्षा में फ़ेल कर दिया गया था क्योंकि उसने प्रणव मिश्रा के ख़िलाफ़ पुलिस के नामज़द रपट लिखने का दुस्साहस किया था, डीन और अन्य प्रोफ़ेसरों तक शिकायत पहुँचाने की हिमाक़त की थी, यह भूल कर कि वह इस चक्रव्यूह में अकेला फस रहा है। कई महारथियों ने निहत्थे सोनकर की हत्या कर दी थी। जिसे आत्महत्या कह कर प्रचलित किया गया था।

मरने से पहले सोनकर रपट लिखाने के लिए पुलिस थाने गया था। इंस्पेक्टर ने रिपोर्ट लिखने से साफ़ मना कर दिया था- "यह तुम लोगों का अन्दरुनी मामला है। पुलिस को क्यों घसीटते हो.. अब आप ही बताइए आख़िर हम जाएँ तो कहाँ जाएँ। इन स्थितियों में ठीक से पढ़ाई में भी एकाग्र होना मुश्किल

[1]. घुस पैठिए, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.14

हो जाता है।"[1] इस कहानी में दलित छात्रों पर किस तरह सवर्ण शोषण करते हैं, इसका मार्मिक वर्णन किया गया है।

1.6.2.2.दलित स्त्री अस्मिता का संघर्ष : यह अंत नहीं :

ग्रामीण जीवन में दलित स्त्री पर अत्याचार की घटनाओं की संख्या को देखकर लगता नहीं कि हम किसी सभ्य समाज में रह रहे हैं। जातिवादी समाज की बर्बरता जाति श्रेष्ठता को दर्शाने का पर्याय बनी है।

भारतीय अभिजात्यवादी सभ्यता, संस्कृति और वर्णवर्चस्व की यह न खत्म होने वाली प्रवृति है। यह 'बिरमा' के साहस और उसके आत्मसम्मान के संघर्ष की कहानी है। बिरमा का भूमिहीन मज़दूर परिवार है। माँ-बाप कठोर परिश्रम करके पेट पालते हैं। उनके साथ बिरमा भी हर प्रकार के कठिन परिश्रम द्वारा अपने परिवार का हाथ बाँटती है। एक भाई है - किसन जो शहर में कॉलेज की पढ़ाई कर रहा है। जब वह गाँव लोटता है तो उसके साथ उसके शहर के दोस्त भी आते हैं। उनके बीच होती बहसों को सुनकर बिरमा हैरत में पड़ जाती है कि ये इतना क्यों लड़ते हैं ? लेकिन वह नहीं समझ पाती कि किसन और उसके मित्रों में शिक्षा से नई परिवर्तनवादी सोच का विकास हुआ है। चेतना के विकास एवं विस्तार के कारण स्वाभिमान, आत्मसम्मान के लिए संघर्ष करने का किसन में आत्मविश्वास है। बिरमा की जिज्ञासाओं को सुलझाने का किसन प्रयास भी करता है, ऐसे समय बिरमा महसूस करती है कि- "उसे भी पढ़ने का मौक़ा दिया जाता तो शिक्षित हो कर किसन की तरह वो भी बहस में हिस्सा ले सकती।"[2]

मंगलू, सरबती (बिरमा के माता-पिता) और बिरमा सवर्ण जमींदारों के खेतों में मज़दूरी पर गए हैं, शाम को माँ, पिता के कहने पर बिरमा धान का एक गट्ठर सरपर उठा कर तेज कदम उठाती घर की ओर चल पड़ती है। तेजभान का बिगडैल लड़का सचीन्दर बिरमा का पीछा करके रास्ते में उसे घेर कर उसकी इज़्ज़त लूटने की कोशिश करता है। अचानक हुए हमले और डर से आतंकित बिरमा

---

[1]. घुस पैठिए, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.18

[2]. घुस पैठिए,ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.18

गिर पडती है, लेकिन अपने आत्म सम्मान पर होते हमले को वह सह नहीं पाती। निड़रता और साहस से वह दुश्मन पर प्रहार करके अपने को बचा लेती है।

पंचायत में बिरमा को न्याय नहीं मिलता। सचीन्दर को पाँच रुपए के जुर्माने पर छोड दिया जाता है। इस फैसले से उदास होने के बावजूद बिरमा सबको ढाँढस बाँधते हुए कहती है कि- "इस हार पर मुँह क्यों लटका रहे हो। ये अंत ना है... तुम लोग ने मेरे विश्वास को जगाया है इसे मरने मत देणा।"[1]

इस कहानी के माध्यम से लेखक ने सवर्ण हिन्दू समाज के दलितों के प्रति अन्याय पूर्ण रवैये को प्रस्तुत किया है। एक ओर दलितों के प्रति विशेष कर दलित स्त्री के प्रति भोगवादी दृष्टि रखने वाले सवर्णों की दमनकारी, निरंकुश व्यवस्था को उजागर किया गया है तो- दूसरी ओर दलित समुदाय के अपने अंतर्विरोधों को चित्रित किया गया है। दलितों में अपने आत्म सम्मान के लिए संघर्ष करने की चेतना का विकास भी इस कहानी के माध्यम से दृष्टिगत हुआ है।

दलितों में भी आत्मसम्मान की भावना है। वे अपनी अस्मिता की लड़ाई खुद लड़ेंगे और सामान्य मानवीय जीवन जीने की इच्छा उनमें नए परिवर्तन को खोज लाने का साहस पैदा करती है। 'यह अंत नहीं' कहानी मानवीय अधिकारों के संघर्ष और दलित मुक्ति की चाहने की अभिव्यक्ति है।

1.6.2.3.अमानवीयता का चरम : शवयात्रा :

वर्ण-व्यवस्था बनी ही ऐसी है कि इसमें हर कोई यह नहीं देखता कि मेरे सिर पैर कितने है, हर कोई यह देखता है कि मेरे पैर तले कितने हैं। अतः अस्पृश्यों में भी अलगाव पैदा हो जाता है। ओमप्रकाश वाल्मीकि की एक चर्चित कहानी है 'शवयात्रा' अपने विषय के कारण इस कहानी पर काफ़ी बहस हुई है। किसी सवर्णों के गाँव में चमारों को जो यातनायें सहनी पड़ती हैं वे ही यातनायें चमारों के गाँव में अस्पृश्यों में अस्पृश्य बल्हार परिवार को भोगनी पड़ती है। गाँव में बल्हारों का एक ही घर है। कहानी का नायक गाँव में पक्का घर बनाने का निर्णय लेता है तो सारा गाँव उसका दुश्मन हो जाता है। उसकी नन्हीं बीमार बेटी सलोनी का उपचार करने से गाँव का डॉक्टर मना कर देता है। शहर जाने के लिए कोई गाड़ी नहीं मिलती। नायक बेटी को कंधे पर डालकर पैदल ही शहर की ओर दौड़ता है। पर रास्ते

[1]. घुस पैठिए,ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.28

में ही सलोनी दम तोड़ देती है। दुर्गति तब और होती है जब सलोनी की लाश को चमारों के श्मशान में जलाने की इजाज़त नहीं मिलती। गाँव से तीन-चार मील दूर जाकर शव को जलाना पड़ा। इन परिस्थितियों में नायक को शहर में रेलवे कालोनी में अंबेडकर जयंती पर सुने भाषण बेमतलब लगे हों तो आश्चर्य नहीं होना चाहिए। क्योंकि इसमें एक दलित हि दलित का दमन करता दिखाई देता है जब वह खुद अस्पृश्य है तो दूसरा उससे छोटी जाती का अस्पृश्य कैसे हो गया। यह बडी सोचनीय बात है कि दलित ही दलित को दबाते है।

1.6.2.4.पाखंडो से मुक्त : 'मैं ब्राह्मण नहीं हूँ' :

इस कहानी में गुलजारी लाल शर्मा की बेटी और मोहन लाल शर्मा के बेटे अमित के साथ रिश्ता तय किया जाता है। मोहन लाल शर्मा बीस साल से तिलक रोड में मकान में रहते थे। उनका शांत स्वभाव था। गुलजारी लाल उनके पास ही रहते थे। दोनों में गहरी मित्रता थी। अमित तेल विभाग में अफ़सर था। सुनीता बैंक में नौकरी करती थी।

शादी में शामिल होने के लिए एक औरत अपने परिवार के साथ स्टेशन में इंतजार कर रही थी। आटो चलाने वाले गुलजारी ने उनके पास जा कर पता लगाया कि वे लोग तिलक रोड में शर्मा जी से मिलना चाहते हैं। पूछताछ के बाद पता चला कि औरत मोहन लाल की बहन है। वे लोग मिरासी हैं सुनते ही गुलाटी चुपचाप हो गया।

गुलाटी गुलजारी लाल के घर जा कर यह बताता कि मोहन लाल शर्मा ब्राह्मण नहीं हैं, मिरासी हैं। सुनते ही गुलजारी लाल को यक़ीन नहीं होता। बाद में वे मोहन लाल को बुलाकर बात करने के बाद पता चला कि वे ब्राह्मण नहीं, मिरासी हैं। गुलजारी लाल ने पूछा, "गुलाटी के आटो से जो अभी आई, वह क्या तुम्हारी सगी बहन है।"[1]

मोहन लाल ऊपर शांत से दिखाई दे रहा था लेकिन उसके अंदर यह सवाल छेद रहा था कि जब तक उसकी जाति का पता नहीं तब तक कुछ नहीं, जाति पता चलने के बाद उसको गाली दी जा रही थी। गुलजारी लाल चीख पुकार के बाद ख़ामोश हो गया। उसे लग रहा था कि जैसे वह किसी साज़िश में फँस गया है। जिससे बाहर आने का कोई रास्ता उसे दिखाई नहीं पड़ रहा था। सुनीता समूचे

[1]. घुस पैठिए,ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.64

प्रकरण में अभी तक ख़ामोश थी। वह घर के अँधेरे कोने में गुमसुम बैठी थी। उसके चारों ओर उबटन की गंध रचबस गई थी। मोहन लाल को अपमानित किए जाने पर वह तमाम रास्तों को तोड़ कर बाहर आँगन में आ गई थी।

गुलजारी लाल ने शर्मा की केंचुल धारण कर लेने के बाद यह भूल गया था कि वह ब्राह्मण नहीं है। लगातार झूठ बोलते बोलते उसने अपना अतीत भुला दिया था। आज जब उसे यह पता चला कि मोहन लाल 'शर्मा' नहीं मिरासी है तो भावनाओं की उत्तेजना में वे अपनी सच्चाई को ही भूल गया था। सुनीता ने उन्हें इस सच्चाई से रूबरू करा दिया था। 'जाती' के खेल में उन्हें यह पहली राह पड़ी थी।

सुनीता के सवाल ने समूचे घटना-क्रम की दिशा ही बदल दी थी। गुलजारी लाल ने राह से बचने के लिए एक कमज़ोर स्त्री चाल चली। उसके भीतर परसा झूठ एक बार फिर फुंकार उठा था, "हाँ, मैं ब्राह्मण नहीं हूँ, लेकिन मिरासी भी नहीं हूँ।" [1]

"बढ़ाई तो हो....ब्राह्मणों की दृष्टि में शूद्र, पिछड़े तरखाण...."[2] गुलजारी लाल के तर्क को तेज धार वाले चाकू से सुनीता ने चिंदी चिंदी कर दिया था।

सभी हक्के-बक्के रह गए थे। किसी को अंदाज़ा भी नहीं था, सुनीता इस तरह का कोई क़दम नहीं उठाएगी। माँ ने रोकना चाहा, लेकिन तब तक सुनीता देहरी लाँघ कर अमित के आँगन में पहुँच चुकी थी। उसके चेहरे पर गहरा आत्मविश्वास दमक रहा था। "अमित....मैं ब्राह्मण नहीं हूँ।"[3]

1.6.2.5.दलितों को अपनी जाति छुपाने की मानसिकता :'दिनेशपाल जाटव उर्फ़ दिग्दर्शन':

इस कहानी में दिनेशपाल जाटव को अपना नाम बदल कर दिग्दर्शन रखना पड़ता है। दिग्दर्शन के नाम पर उन्होंने खूब नाम कमाया। एक बड़े अख़बार में नौकरी मिल गई। उस रोज़ संपादक शिव नारायण जोशी ने जाते समय कहा कि- "मेन स्टोरी तो लग गई है। फिर भी मुखपृष्ठ भी देख लेना

---

[1]. घुस पैठिए,ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.66

[2]. घुस पैठिए,ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.66

[3]. घुसपैठिए,ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.66

प्रूफ़ गलती न रह जाए। आज आपको ही सब देखना है।"[1]

अचानक नज़र उस समाचार पर पड़ी। समाचार एक पाठक ने भेजा था, तार द्वारा, जिसे ज़्यादा देर अनदेखा करने का हौसला दिग्दर्शन नहीं कर पा रहा था। आदिम युगीन सभ्यता और संस्कृति वन मानुष की शक्ल में शब्दों का रूप धारण कर आ गई थी। उसने समाचार उठा कर हैड लाइन दी राहत कर्मियों ने दलितों की सड़ी लाशों को छूने से इन्कार किया। अंतिम हेडलाइन और समाचार का प्रूफ़ देखकर ओ.के .करते हुए उसने समूचे पृष्ठ शर्मा की ओर सरका दिया। शर्मा ने हेडलाइन हैरत से देखा। सवालिय नज़रों से उसकी ओर देखते हुए कहा 'जोगी ने देखा है यह मैटर?' काग़ज़ पर उभरे काले स्याह अक्षर शर्मा की आँखों में काँटों की तरह चुब रहे थे। अक्षरों की बुनावट ने संदेह की रेखाएँ गहरी कर दी थी। "एप्रव करा ले तो ठीक रहता। यह ख़बर उनके ही क्षेत्र से है....हो सकता है वे पसंद न करें"[2] शर्मा का काग़ज़ हवा में लहराया।

उखीमठ, जोगी मठ आदि अनेक रचनाओं पर आई इस प्राकृतिक विपदा को सभी समाचार पत्रों ने प्रमुखता से छापा था। लेकिन रोन लेख की उखीमठ की घटना पर सभी ने चुप्पी साध ली थी। यहाँ तक कि जिलार मैजिस्ट्रेट के बमान को भी तरजीह नहीं दी थी। यानी राहत कर्मियों के इस कुकृत्य पर उनकी मौन सहमति थी। विपदा में मारे गए लोगों की लाशें भी घेरों में बँधी हुई थीं।

सुबह जब वह दफ़्तर पहुँचा, दफ़्तर में ख़ामोशी थी जैसे अभी अभी आकर कोई तूफ़ान गुज़रा है। सभी अपने अपने काम में कुछ ज़्यादा ही व्यस्त थे। मेज़ पर लिफ़ाफ़े में उसे नौकरी से निकाल दिया गया था।

ओमप्रकाश वाल्मीकि इस कहानी में दलितेतर की मानसिकता का वर्णन किया। दलितों पर जो हमला चल रहा है, लोगों को उनकी स्थिति के बारे में बताने केलिए दलितेतर तैयार नहीं होते।

---

[1].घुस पैठिए,ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.70

[2]. घुस पैठिए, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.67

1.6.2.6. दलितेतर अत्याचार की शिकार : जंगल की रानी :

यह कहानी ओमप्रकाश वाल्मीकि जी की पहली प्रकाशित कहानी है। यह एक आदिवासी कमली की कहानी है। शहर के डिप्टी साहब की बुरी नज़र उस पर पड़ती है। अपने सम्मान और आत्म रक्षा करते हुए वह अपनी जान दे देती है। लेकिन समाज के दरिन्दों के सामने घुटना नहीं टेकती।

सोमनाथ अस्पताल में अंतिम साँस गिन रहा था। आँखों के सामने धुँधली छाया में उसने अभी तक कमली की स्मृति को बचा कर रख था। शायद कमली का चेहरा ही उसे मौत से जूझने का संकल्प दे रहा था। पिछले दो दिन की घटनाएँ उसकी आँखों के सामने तेज़ी से गुज़रने लगीं।

जब तक वह सँभल पाता, वे लोग भूखे लकड़बग्घे की तरह उस पर टूट पड़े। उनके हाथों में चेन थीं, डंडे थे। वह एक चेहरे को पहचानता था। वह ज़रूर पुलिस वाला था। इस एहसास ने उसकी आँखों में घोर पीड़ा भर दी। एक जंगल-सा उग आया था उसके आसपास। ऐसा जंगल जहाँ ताक़त का कानून चलता हो।

सूर्य की रश्मियों के साथ पूरे शहर में फैल गई थी रेलवे लाइन के पास पड़ी आदिवासी युवती की लाश को देखने के लिए समूचा शहर उमड़ पड़ा। भीड़ में सभी अपने अपने स्तर पर प्रतिक्रिया व्यक्त कर रहे थे। आदिवासी युवती का शरीर एक क़ीमती साड़ी में लिपटा हुआ पड़ा था। जाँघों व शरीर के अन्य अंगों पर खरोंच के निशान भीड़ की मानसिकता को झनझना देने के लिए काफ़ी थे। लाश को पोस्टमार्टम के लिए अस्पताल भेज दिया गया था।

कल ही तो उसने इस युवती को जीते जागते देखा था। जंगल की रानी ...सहसा उसके मुँह से निकल पड़ा था। वह अपने कार्य में व्यस्त थी। सोमनाथ को लगा था कि जंगल का फूल... सभ्य समाज में आकर भी अपनी महक बिखेर रहा है। लाश के पास बैठे एक बूढ़े आदिवासी पर सोमनाथ की नज़र पड़ी। सोमनाथ ने 'ग्रामीण महिला प्रशिक्षण शिविर' के उद्घाटन के अवसर पर ही तो देखा था कमली को। वह 'नया सवेरा' के लिए रिपोर्ट कवर करने गया था। शिक्षा विभाग की ओर से डिप्टी साहब दौरे पर, स्कूल का मुआयना करने आये थे। कमली को देख कर काफ़ी प्रभावित हुए थे।

कमली ने आत्महत्या की है, जैसा कि पुलिस और पोस्टमार्टम के डॉक्टर का कहना है, वह मानने को तैयार नहीं था। सोमनाथ सीधा डिप्टी साहब के बंगले पर पहुँचा। सोमनाथ ने कमली की

मौत का समाचार देते हुए पूछा कि आप इस विषय पर कुछ बता सकेंगे ? "डिप्टी साहब का चेहरा क्रोध में विद्रूप हो गया था। सोमनाथ ने उन्हें संयत करना चाहा- "डिप्टी साहब केस बलात्कार का लगता है पुलिस मामले को रफ़ा दफ़ा करना चाहती हैं। इसीलिए आत्महत्या का केस बना रहे हैं। डिप्टी साहब कृद्ध मुद्रा में चीखे " हू आर यू ब्लडी फूल? यहाँ आने की हिम्मत कैसे की ?"[1] सोमनाथ ने कहा कि मैं 'नया सवेरा' दैनिक का संपादक हूँ। आपकी मदद लेने आया था क्योंकि कमली आपके निमंत्रण पर शहर आई थी। महिला प्रशिक्षण शिविर के आयोजक भी आप ही हैं। डिप्टी साहब का गला सूखने लगा। साँस तेज हो गई थी और बोले कि- "मैं कुछ नहीं कहना चाहता। लड़की ज़रूर बदचलन रही होगी। आप पुलिस स्टेशन जाइए। जो कुछ पूछना हो, पुलिस से पूछिए।" [2] उन्होंने दरवाज़ा भडाक से बंद कर लिया था। सोमनाथ दिन भर के अपने अनुभवों को 'नया सवेरा' के पृष्ठों पर उड़ेल देते हैं। इस तथ्यपरक कांड की रिपोर्ट पढ़ कर शहर में खलबली मच गई थी। सभ्य समाज में छुपे कई जंगली तेंदुओं के मुखौटे उतार देने की कोशिश की गई थी।

डिप्टी साहब ने एस.पी. साहिब और एम.एल.ए साहिब को फ़ोन किया। एम.एल.ए. और एस.पी. ने सोमनाथ को सबक़ सिखाने की ज़िम्मेदारी भी अपने ऊपर ले ली थी।

डिप्टी साहब के मन में खापरी गाँव घूमने लगा। कमली को देखते ही डिप्टी साहब की आँखों में चमक पैदा हुई थी। उन्होंने षड्यंत्र रचकर कमली को फसा दिया। कमली जंगली जानवरों से अपनी सुरक्षा के लिए संघर्ष कर रही थी। विधायक, एस.पी और डिप्टी साहब तीनों ने उस पर वार किया था। क्षण भर में कमली लाश में बदल चुकी थी। जंगल की रानी अपराजेय थी।

अस्पताल में सोमनाथ ने दम तोड़ दिया। शहर में पुलिस पत्रकार के हत्यारों की तलाश कर रही थी। विधायक जी गाँधी चौक में आयोजित सभा में चिल्ला कर हत्यारों को सजा दिलाने की शपथ ले रहे थे। पूरा शहर मूक बना देख रहा था।

---

[1]. घुस पैठिए, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.98

[2]. घुस पैठिए, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.98

ओमप्रकाश वाल्मीकि की कहानियाँ यथार्थ परक कहानियाँ हैं। इन कहानियों के साथ दलित विमर्श के वे आयाम भी उद्‌घाटित हैं जिन्हें जीवन अनुभवों से जोड़कर देख जाने की ज़रूरत है। ये कहानियाँ दलित साहित्य में अपनी पहचान को लेकर एक सार्थक और रचनात्मक उपलब्धि हैं।

1.6.3.कविता संग्रहओं के परिचय :

काव्यात्मक रचना (कवि की कृती)। 'काव्य' से जहाँ रचना के भावपक्ष और अन्तः सौन्दर्य का अधिक बोध होता है, वहाँ कविता शब्द के प्रयोग से प्रायः उसके कलापक्ष और रूपात्मक सौन्दर्य को प्रधानता मिलती है। 'कविता' शब्द का प्रयोग अपेक्षाकृत आकार में छोटे, ऐसे पद्य-विशेष के लिए किया जाता है।

दलित कविता हमेशा परिवर्तन की माँग करती है। दलित कविता ने युगों-युगों से शोषित समाज को दलित पिछड़ों के प्रति झकजोर दिया है। दलित कविता समता, स्वतंत्रता, बंधुता की स्थापना चाहती है और टूटे पिछड़े लोगों को उठाना चाहती है। दलित कविता समाज में जागृति लाने की कोशिश में लगी हुई है।

1.6.3.1. सदियों का सन्ताप :

हिन्दी दलित साहित्य की चर्चित एवं बहुप्रशंसित कृति 'सदियों का सन्ताप' में दलित जीवन के दाहक-अनुभवों, संघर्षों की सशक्त अभिव्यक्ति है। ओमप्रकाश वाल्मीकि की कविताएँ आवेग, आवेश, लफ्फाजी और कोरी प्रतिक्रिया से अलग, अनुभूति की बुनियाद पर रची गई कविताएँ हैं। स्फीत न होकर वे भाव संकुल है।

यह संग्रह 'सदियों का सन्ताप' काव्य बहुत छोटा है, परन्तु गुणात्मक दृष्टि से अभिव्यक्ति में बेहद सशक्त है। सचमुच संग्रह की कविताएँ ज्वालामुखी बनकर नयी सोच को जन्म दे रही हैं। ओमप्रकाश वाल्मीकी की कविताओं में भावाकुलता है और शब्द तथा भावना को एकाकार कर सकने की दुर्धर्ष जिजीविषा है। संग्रह की प्रत्येक कविता सामाजिक परिवर्तन की जिजीविषा को सशक्त अभिव्यक्ति देती है। इन कविताओं में बड़ी आग है। आग चूल्हे की हो या कविता की, ऊष्मा ही नहीं ऊर्जा भी देती है। और संग्रह की कविताएँ दलितों की सदियों की संतप्तता को उसकी तिक्तता के साथ कभी सीधे

और कभी प्रतीकात्मक रूप से संप्रेषित करती हैं। सामाजिक सरोकारों की एक शृंखला इस संग्रह की कविताओं में अभिव्यक्त हुई है।

1.5.3.2. बस! बहुत हो चुका :

स्त्री के कई रूप हैं- माँ, बहन, पत्नी, बेटी, विधवा आदि। यह सभी रूप इस संग्रह की कविताओं में दिखाई देते हैं। पुरुष प्रधान समाज ने स्त्री का बहुत ही निर्ममता से शोषण किया है। उसे कभी मनुष्य माना ही नहीं। स्त्री हमेशा गुलामी की जिन्दगी जीती आ रही है। दहेज प्रथा के कारण ही आज स्त्रीयों पर ज्यादा अन्याय हो रहा है। इतना ही नहीं इसी कारण बहुत सारी स्त्रियाँ रोज पीटी और जलायी जाती हैं। दहेज प्रथा के कारण ही लड़की माता-पिता की बोझ बनती है। कोई भी व्यक्ति लड़की पैदा होने पर संतुष्ट नहीं रहता यहाँ तक कि उस लड़की की माँ भी। आर्थिक परिस्थिति से कमजोर परिवार की लड़कियाँ दहेज के कारण कई साल तक घर में पड़ी रहती हैं।

ओमप्रकाश वाल्मीकि ने प्रकृति को भी अपनी कविता का विषय बनाया है। प्रकृति के माध्यम से अपनी पीड़ा, दुःख, दर्द और भावों को व्यक्त किया है। कहीं-कहीं पर प्रकृति को बिम्ब के रूप में प्रयोग किया है। वर्ण व्यवस्था के कारण ही मनुष्य-मनुष्य में भेद है यही नहीं बल्कि सवर्ण दलितों को मनुष्य मानने केलिए भी तैयार नहीं है। दलित जिस किसी वस्तु को बनाता है वह सवर्णों के घर में पहुँचने तक कोई समस्या नहीं होती किन्तु वह वस्तु घर में जाते ही पवित्र हो जाती है। तभी तो इसे छुओ मत, उसे छुओ मत कहा जाता है।

भारतीय संस्कृति सबकी न होकर कुछ ही वर्गों की हो गई। और दलितों पर मार्क्सवादी विचारधारा का प्रभाव दिखाई देता हैं। ओमप्रकाश वाल्मीकि व्यंग्य का भी सहारा लेकर समाज में स्थित बुराइयों, त्रुटियों, बाह्यडंबर, मिथ्याचार और विसंगति का पर्दाफाश करते है। घृणा के कारण ही दलितों पर अन्याय, अत्याचार करते आ रहे हैं। इस संग्रह की कविताओं में वर्तमान व्यवस्था के विरूद्ध आक्रोश और संवेदनाओं को भी सीधे-सीधे अभिव्यक्त किया है।

1.6.3.3..यथार्थ का गहरा भावबोध : अब और नहीं... :

हिन्दी दलित कविता की विकास-यात्रा में ओमप्रकाश वाल्मीकि की कविताओं का एक विशिष्ट और महत्वपूर्ण स्थान है। आक्रोशजनित गम्भीर अभिव्यक्ति में जहाँ अतीत के गहरे दंश हैं, वहीं वर्तमान

की विषमतापूर्ण, मोहभंग कर देनेवाली स्थितियों को इन कविताओं में गहनता और सूक्ष्मता के साथ चित्रित किया गया है। दलित कविता के आन्तरिक भावबोध और दलित चेतना के व्यापक स्वरूप को इस संग्रह 'अब और नहीं...' कविताओं में वैचारिक प्रतिबद्धता और प्रभावोत्पादक अभिव्यंजना के साथ देखी जा सकता है।

दलित कवि का मानवीय दृष्टिकोण ही दलित कविता को सामाजिकता से जोड़ता है। इस संग्रह 'अब और नहीं...' कविताओं में दलित कविता के मानवीय पक्ष को प्रभावशाली ढंग से उभारा गया है। दलित कवि जीवन से असम्पृक्त नहीं रह सकता। वह घृणा में नहीं, प्रेम में विश्वास करता है-

''हज़ारों साल की यातना को भूलकर
निकल आए हैं शब्द कूड़ेदान से बाहर
खड़े हो गए हैं
उनके पक्ष में
जो फँसे हुए हैं अभी तक
अतीत की दलदल में।''[1]

'अब और नहीं...' संग्रह की कविताओं में ऐतिहासिक सन्दर्भों को वर्तमान से जोड़ मिथकों को नए अर्थों में प्रस्तुत किया गया है। दलित कविता में पारम्परिक प्रतीकों, मिथकों को नए अर्थ और सन्दर्भो से जोड़कर देखे जाने की प्रवृत्ति दिखाई देती है, जो दलित कविता की विशिष्ट पहचान बनाती है। इस संग्रह की कविताओं में 'किष्किंध' शीर्षक कविता में 'बाली' का आक्रोश दलित कवि के आक्रोश में रूपान्तरित होकर कविता के एक विशिष्ट और प्रभावशाली आयाम को स्थापित करता है-

''मेरा अँधेरा तब्दील हो रहा है कविताओं में
याद आ रही है मुझे
बाली की गुफ़ा
और उसका क्रोध।''[1]

[1]. अब और नहीं, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.54

इस संग्रह की कविताओं का यथार्थ गहरे भावबोध के साथ सामाजिक शोषण के विभिन्न आयामों से टकराता है और मानवीय मूल्यों की पक्षधरता में खड़ा दिखाई देता है। ओमप्रकाश वाल्मीकि की प्रवाहमयी भावाभिव्यक्ति इन कविताओं को विशिष्ट और बहुआयामी बनाती है।

1.6.4.यथार्थ अनुभवों की पीड़ा : जूठन :

सामाजिक सड़ाँध को उजागर करनेवाले दलित लेखक ओमप्रकाश वाल्मीकि की आत्मकथा 'जूठन' है। इस आत्मकथा में कुलीन और सुविधा संपन्न जीवन के रंग, रस और रोमांस नहीं, उनसे जुड़ा उल्लास अवसाद भी नहीं, एक पूरी की पूरी नरक यात्रा तथा उससे जुड़ी अनुभूतियाँ और उसके वे पडाव हैं जिन्हें पार करते हुए वे उम्र की इस यात्रा में पहुँचे हैं। उनका यह कहना सच है कि इसे लिखने में उन्हें एक बार फिर से उन सारे कष्टों, यातनाओं, प्रताड़नाओं को जीना पड़ा जो उनके अपने जीवन का हिस्सा थी। सचमुच यदि वे इन अनुभवों को लिपिबद्ध न करते तो शायद वे अनबाँचे ही रह जाते। विडंबना यह है कि यह नरक यात्रा उनकी या उन जैसे करोड़ों-करोड़ के अपने किए धरे का प्रतिफल न होकर एक निहायत संकीर्ण मानसिकता के तहत, एक नियति के रूप में उन सब के लिए लिखी गई वह नरक यात्रा रही है, और है। अभिजात, सवर्ण मानसिकता उसके धर्म और धर्मशास्त्र जिसे सही मानते हैं और जिसे सनातन बनाए रखना चाहते हैं। आदमी और आदमी में भेद करने वाली यह मानसिकता सचमुच कितनी क्रूर, अमानवीय, बर्बर और ग़लीज़ है, ओमप्रकाश वाल्मीकि की आत्मकथा उसका खुलासा करती है।

दलित-जीवन की पीड़ाएँ असहनीय और अनुभव-दग्ध हैं। ऐसे अनुभव जो साहित्यिक अभिव्यक्तियों में स्थान नहीं पा सके एक ऐसी समाज-व्यवस्था में हमने साँसें ली हैं, जो बेहद क्रूर और अमानवीय है। दलितों के प्रति असंवेदनशील भी...। इसी समाज की क्रूरताओं का परिचय एक नए कोण से हमें इस आत्मकथा में मिलता है।

1.6.5.समाजशास्त्रीय अध्ययन : सफाई देवता :

ओमप्रकाश वाल्मीकि जी ने इस पुस्तक में देश-समाज के सबसे उपेक्षित तबक़े भंगी या वाल्मीकि की ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य के साथ, मौजूदा वास्तविक स्थिति का सप्रमाण वर्णन करने का प्रयास

---

[1]. अब और नहीं, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ. 23

किया है।

'भंगी' शब्द सुनकर ही लोगों की भौहें तन जाती हैं। समाज की उपेक्षा और प्रताड़ना ने उनमें इस हद तक हीनताबोध भर दिया है कि वाल्मीकि समाज के उच्च शिक्षित लोग भी अपनी पहचान छुपाते फिरते हैं। दलितों में दलित यह आदमियों का समूह आर्थिक विपन्नता के दलदल में फँसा है। पुनर्वसन की राजनीति करनेवाले इस तंत्र में इन सफाई कर्मचारियों के पुनर्वसन की ज़रूरत कभी किसी ने महसूस नहीं की। उच्चवर्गीय, ब्राह्मणवादी मानसिकता और सामन्ती सोच-विचार के लोग इन्हें कोई भी सामाजिक अधिकार देने के पक्ष में नहीं हैं।

इस पुस्तक 'सफाई देवता' में ओमप्रकाश वाल्मीकि जी ने ऐतिहासिक उत्पीड़न, शोषण और दमन का विश्लेषण किया है। उसकी ऐतिहासिक और सांस्कृतिक पुष्ठभूमि का आकलन किया है, और उसके सामने खड़ी समस्याओं का विवेचन किया है। इसके लिए ऐतिहासिक विवरण ही काफ़ी नहीं हैं, वर्तमान का मूल्यांकन भी उतना ही आवश्यक है। ओमप्रकाश वाल्मीकि का उद्देश्य लम्बे भीषण, नारकीय दौर में वाल्मीकि समाज की उलब्धियों, संघर्षों की खोज कर, ऐसी मिसाल पेश करना है जो भविष्य के अन्धकार से उसे बाहर निकलने की प्रेरणा दे सके।

1.5.6.आलोचना : दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र :

किसी वस्तु या कृति की सम्यक् व्याख्या, उसका मूल्यांकन आदि करना ही आलोचना है। आलोचना कवि या लेखक और पाठक के बीचकी श्रृंखला है। आलोचना का उद्देश्य है कि कवि या लेखक की कृति में मानव हृदय कितना और किस सुन्दरता के साथ चित्रित हुआ है, इस तथ्य का उद्घाटन करना। वास्तव में साहित्य में बिखरी हुई अनन्त विभूतियों की सुन्दरता बिना आलोचना के नजर नहीं आती।

वर्ण-व्यवस्था के अमानवीय बन्धनों ने शताब्दियों से दलितों के भीतर हीनता भाव को पुख़्ता किया है। धर्म और संस्कृति की आड़ में साहित्य ने भी इस भावना की नींव सुदृढ़ की है। ऐसे सौन्दर्यशास्त्र का निर्माण किया है जो अपनी सोच और स्थापनाओं में दलित विरोधी है और समाज के अनिवार्य अन्तर्सम्बन्धों को खंड़ित करने वाला भी।

जनवादी, प्रगतिशील और जनतांत्रिक साहित्य द्वारा भारत में जन्मना दाति के सन्दर्भ में केवल वर्ग की ही बातें करने से उपजी एकांगी दृष्टि के विपरीत दलित साहित्य सामाजिक समानता और राजनीतिक भागीदारी को भी साहित्य का विषय बनाकर आर्थिक समानता की मुहिम को पूरा करता है- ऐसी समानता जिसके बगैर मनुष्य पूर्ण समानता नहीं पा सकता।

दलित चिन्तन के नए आयाम का यह विस्तार साहित्य की मूल भावना का ही विस्तार है जो पारम्परिक और स्थापित साहित्य को आत्मविश्लेषण के लिए बाध्य करता है और झूठी और आतार्किक मान्यताओं का विरोध। अपने पूर्व साहित्यकारों के प्रति आस्थावान रहकर नहीं, बल्कि आलोचनात्मक दृष्टि रखकर दलित साहित्यकारों ने नई जद्दोजहद शुरू की है, जिससे जड़ता टूटी है और साहित्य आधुनिकता और समकालीनता की ओर अग्रसर हुआ है।

यह पुस्तक 'दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र' दलित साहित्यान्दोलन की एक बड़ी कमी को पूरा करती हुई दलित-रचनात्मकता की कुछ मूलभूत आस्थाओं और प्रस्थान बिन्दुओं की खोज भी करती है, और साहित्य के स्थापित तथा वर्चस्वशाली गढ़ों को उन आस्थाओं के बल पर चुनौती भी देती है। दलित साहित्य और उसकी सोच एवं दृष्टि को व्याख्यायित करने का प्रयास किया गया है।

1.6.7.लेख-आलेख : मुख्यधारा और दलित साहित्य :

पिछले करीब तीन दशकों से दलित साहित्य और चिंतन हिन्दी विचार-विमर्श के केंद्र में रहा है। इस बीच यह विमर्श अनेक दौरों से गुजरते हुए आज वहां खड़ा है, जहाँ पीछे मुड़कर देखने और तब आगे बढ़ने की स्थिति पैदा हुई है। ऐसे में प्रतिष्ठित दलित लेखक-आलोचक ओमप्रकाश वाल्मीकि की कृति 'मुख्यधारा और दलित साहित्य' यह पुस्तक ओमप्रकाश वाल्मीकि के छोटे-बड़े करीब बीस लेखों-आलेखों का संग्रह है। मुख्यधारा यानी वर्चस्ववादी शक्तियों द्वारा निर्मित धारा या फिर समय के साथ चलनेवाली धारा या समय से कटी धारा या सत्ता शिखर पर बैठे समूह विशेष की धारा। साहित्य के संदर्भ में उस साहित्य की धारा, जिसका प्रयोजन आनंद, अर्थ, काम और मोक्ष है? या ऐसे लोगों की धारा, जिन्होंने 'वर्ण-व्यवस्था' का इस्तेमाल कर एक विशेष समूह को दासता की गिरफ्त में जकड़कर धारा से बाहर धकेल दिया...क्या इसे मुख्यधार कहा जाए? प्रश्न की मुद्रा से ही पाठक

को उत्तर की दिशा के संकेत भी मिल जाते हैं।

भारतीय वर्णवादी व्यवस्था में 'वर्चस्वादी शक्तियों द्वारा निर्मित धारा' ही लेखक की दृष्टि में मुख्यधारा है और दलित साहित्य...तथाकथित इस मुख्यधारा के विपरीत ध्रुवों पर खड़ा है। विपरीत ध्रुवों पर खड़ी दलित साहित्य-धारा के संबंध में लेखक का कहना है कि 'यह एक लंबी संघर्ष यात्रा है, जो बुद्ध, फुले और अंबेडकर से होती हुई यहाँपहुंची है। यह धारा बुद्ध की मानवीय चिंताओं को अपने भीतर संजोए हुए है। घृण करनेवालों को भी घृण नहीं करने की सीख देती है।

जिसे आज मुख्यधारा कहा जा सकता है, वह हिन्दू वर्ण-व्यवस्था, सामंतवाद, ब्राह्मणवाद की धारा है, जहां दलित और स्त्री के लिए कोई स्थान नहीं है, जिसका उद्देश्य वर्चस्व को स्थापित करना है। यही मुख्यधारा का यथार्थ है।

निष्कर्ष :

दलित साहित्य दलित समाज की वास्तविकता की पहचान कराने वाला साहित्य है। वह अगड़े लोगों के वर्चस्व के विरुद्ध दलित चेतना का प्रचार-प्रसार करता है। समता अस्मिता के उन्नायक दलित साहित्य ने वर्तमान परिवेश में परिवर्तन की लहर पैदा करते हुए सत्ता की सहयोगिता हेतु जन अभियान छेड़ दिया है।

ओमप्रकाश वाल्मीकि ने अपनी पहचान मात्र अपने रचनात्मक लेखन के ज़रिये ही नहीं बनाई, बल्कि उनके भोगे हुए यथार्थ को अपनी रचनाओं जैसे आत्मकथा, उनकी कहानियाँ और उनकी कविता में शामिल किया है।

कहानियों के क्षेत्र में दलित जीवन के संदर्भों को लेकर लिखी गई ऐसी बहुत-सी कहानियाँ हैं जो कहानी के रचना विधान की किसी भी कसौटी पर, अंतर्वस्तु, संवेदना और शिल्प के हर आयाम पर कहानी की यथार्थवादी परंपरा को नई संवृद्धि प्रदान करती है। इन कहानियों के ज़रिये दलित जीवन के कुछ ऐसे पहलू पहली बार उजागर हुए हैं जो अब तक नितांत अनदेखे और अनछुए थे। अल्प अवधि के इस दलित लेखन में जिन कुछ लोगों ने दलित रचना शीलता और हिंदी की बृहत्तर सर्जना में अपनी खास पहचान बनाई है, उनमें ओमप्रकाश वाल्मीकि का नाम सहज ही सबसे ऊपर है। मजबूती के साथ खड़े रहकर भी उनमें प्रतिपक्ष के विचारों को सुनने और तर्क की ज़मीन पर उचित को स्वीकार करने

का मद (अभिमान) भी है। वे प्रतिपक्ष से संवाद करते हैं, वितंडा नहीं। वस्तुतः संवाद की सही ज़मीन भी यही है।

ओमप्रकाश वाल्मीकि भले अपने को दलित लेखन के दायरे में रखे, उनकी कहानियों में उनका रचना सामर्थ्य और उनकी सोच के जो पहलू उभरे हैं वे उन्हें हिंदी की यथार्थवादी कहानी परंपरा के दायरे के एक समता वान लेखक के रूप में हम से मुख़ाबित हैं। वाल्मीकि जी की कहानियाँ पहले के प्रति हमें सहज तो करती ही हैं, वे अनुभव के एक ऐसे संसार में भी, जहाँ वर्ग, वर्ण, धर्म और संप्रदाय के भेदों से अलग हमें आदमी और आदमियत से मुख़ातिब कराते हैं।

*****

द्वितीय अध्याय

हिन्दी का दलित साहित्य और ओमप्रकाश वाल्मीकि की कहानियाँ

प्रस्तावना :

2.1.दलित कहानियों का विकास

2.2.ओमप्रकाश वाल्मीकि की कहानियों में सामाजिक चित्रण

2.2.1.परिवार, पारिवारिक संबंध

2.2.2.नारी के प्रति सम्मान

2.2.3.मानवीय संबंध

2.2.4.ऊँच नीच की अमानवीयता

2.2.5.समानता के लिए छटपटाहट

2.2.6.सामंती परिवेश व रूढ़िवादी मानसिकता

2.2.7.दलित बनाम वस्तु

2.2.8.दलित की हीन ग्रंथि

2.2.9.मध्यवर्गीय सवर्ण मानसिकता का वर्णन

2.2.10.किराए पर मकान के लिए जाति का पता जरूरी है

2.2.11.जाति के नाम से अपमानित करना

2.3.ओमप्रकाश वाल्मीकि की कहानियों में आर्थिक चित्रण

2.3.1.असमानताएँ एवं निर्योग्यताएँ

2.3.2.दलित के जीविकोपार्जन का साधन

2.3.3.दलितेतर मानसिकता की क्रूर बुद्धि

2.3.4.जीवन संघर्ष की एक अंतहीन यात्रा

2.4.ओमप्रकाश वाल्मीकि की कहानियों में धार्मिक चित्रण

2.4.1.दलित एवं अंधविश्वास

2.4.2.मजदूर संगठनों के बीच जातिवाद

2.4.3.अंधविश्वासों की सही व्याख्या

2.5.ओमप्रकाश वाल्मीकि की कहानियों में राजनैतिक चित्रण

2.5.1.दलितों के मन में उभरा आक्रोश

2.6.ओमप्रकाश वाल्मीकि की कहानियों में सांस्कृतिक चित्रण

2.6.1.महाजनी संस्कृति

2.6.2.रीति रिवाज़

निष्कर्ष

द्वितीय अध्याय

हिन्दी का दलित साहित्य और ओमप्रकाश वाल्मीकि की कहानियाँ

प्रस्तावना :

दलित साहित्य का जन्म दलित आंदोलन से हुआ है। भारत का एकमात्र ऐसा जन आंदोलन है, जिसके मूल में यहाँ की वर्ण तथा जाति-व्यवस्था है और शास्त्रों द्वारा इसका समर्थन करने वाला 'धर्म' है। ऐसे जन आंदोलन से प्रेरणा लेकर इस साहित्य का जन्म हुआ है। दलित साहित्य में सबसे पहले 'आत्मकथा' ने जन्म लिया। पहले मराठी में दलित आत्मकथाएँ लिखी गई बाद में हिन्दी में। दलित लेखकों को जितनी भी भयावह पीड़ा से गुज़रना पड़ा था उसे उजागर करने के लिए इसका सहारा लिया गया और अपने अस्तित्व को स्थापित करने के लिए लिखा गया।

ओमप्रकाश वाल्मीकि की कहानियाँ दलित जीवन के संदर्भों से जुड़ी कहानियाँ हैं जिसमें दलित जीवन के सुख-दुःख, कपट-क्लेश, उपेक्षाएँ, प्रताड़नाएं, कुंठा, घुटन तथा कुछ सपने तथा उनके लिए किए जाने वाले संघर्ष को उजागर किया गया है। यह सब सदियों से दलित जीवन का यथार्थ रहा है जिसे ओमप्रकाश वाल्मीकि ने निहायत संजीदगी से यथार्थ के प्रति प्रायः वस्तुनिष्ठ रहते हुए, कहानी के रचना विधान की संगति में दृष्टिकोण के समूचे खुलेपन के साथ चित्रत और रूपायित किया है। वे शक्तियाँ और वे चेहरे भी उस क्रम में बेनकाब हुए हैं जो दलित जीवन की इस समूची यातना के स्रोत और निमित्त रहे हैं। ये बड़ी साफ़-सुथरी किंतु बेहद बोधक और मार्मिक कहानियाँ हैं। ऐसे अनेक पात्र भी इन कहानियों में आए हैं जो दलित न होते हुए भी दलितों के संघर्ष में उनकी दृष्टि के इस खुलेपन को कहानियों के यथार्थ की विश्वसनीयता को कथानक दी है। मानवीय जीवन के लिए दलितों का यह संघर्ष सफल हो, संघर्ष की सही ज़मीन और मानसिकता के लिए भी वाल्मीकि जी ने सही पेशकश की है।

2.1.दलित कहानियों का विकास :

कहानी साहित्य का सबसे स्वाभाविक और अत्यधिक स्वच्छन्द रूप है। कहानी के अनन्त प्रकार अलिखित रूपों में चलते हैं। दृष्टान्त, चुटकुले, हँसी-मज़ाक, साहसिक वर्णन, परियों की कथाएँ आदि

न जाने कितने रूप में कहानी हमारे जीवन के प्रत्येक क्षेत्र और प्रत्येक काल में घुली-मिली रहती है। इसके अतिरिक्त स्वयं हममें से प्रत्येक व्यक्ति प्रतिदिन सैकड़ों कहानियों के बीच से गुजरता है। कहानी प्राण-वायु की तरह अनिवार्य जान पड़ती है। इसीलिए साहित्यिक चेष्टा का अभिन्न अंग है।

समकालीन हिन्दी दलित कहानी अपनी शैशवावस्था को कब का पार कर चुकी है। दलित रचनाकार जो कुछ भी लिखता है उसके केन्द्र में प्रधानतः अम्बेडकरवादी विचारधारा ही व्याप्त रहती है। डॉ.अम्बेडकर ने इस बात को महसूस किया कि- दलित समाज की सबसे बड़ी जरूरत है उन्हें उनके खोए हुए स्वाभिमान एवं आत्मसम्मान का एहसास कराना अत्यधिक आवश्यक है, वे मनुष्य है ये समझाना। वे गुलाम बना दिये गए हैं- "इसका एहसास करवाना। इन सब चीजों के लिए जरूरी था, उन्हें शिक्षित करना, संघर्ष में उतारना और संगठित करना। उन्होंने दलित समाज के पढ़े-लिखे लोगें को जो आन्दोलन से जुड़े हुए थे, साहित्य लिखने के लिए प्रेरित किया ताकि आन्दोलन को बल मिले।"[1]

दलित लेखन पर परम्परावादियों द्वारा उठाए गये सवालों का जवाब देते हुए अजय नवारिया का कहना है कि- "दलित लेखिकाएँ और लेखक प्रत्येक विधा में लिख रहे हैं, लिख सकते हैं। उन्हें अवसरों की अनुपलब्धता तथा मार्गदर्शन के अभाव ने मंद तो किया है, पर वे कुंद नहीं हुए हैं। गैर-दलित के हर नए और युवा रचनाकारों को अपनी रचना संशोधन के लिए वरिष्ठ साहित्यकारों का सानिध्य मिल जाता है। युवा दलित रचनाकारों को अपनी सामाजिक स्थिति और आर्थिक विवशताओं के कारण यह मौका सरलता से नहीं मिल पाता। इन विपरीत परिस्थितियों के बावजूद दलित लेखक भटकने से बच रहा है। साथ ही उनकी इन रचनाओं को पढ़ते हुए हम भीतर तक जीवन के कड़वे और कठोर सच को महसूस करते हैं। ये रचनाएँ एक लेखक व्यक्ति की भी हैं और समाज की भी। इन रचनाओं में व्यक्ति के समाज होने की प्रक्रिया बहुत स्पष्ट है। गैर-दलित लेखक-लेखिकाओं ने भी यात्रा संस्मरण और डायरी अंश लिखे हैं, परन्तु वे अधिकांशतः किसी एक 'व्यक्ति' के अनुभवों और उपलब्दियों के बखान में ही अधिक सीमित रहते हैं। अपवाद छोड़ दे तो हम पाते हैं कि समाजधर्मिता के नाम पर वहाँ एक गहरा शून्य उपस्थित है। जब सारा देश और सारा विश्व जहाँ रहा हो, जब विश्व की एक-तिहाई इन्सानी जिन्दगीयाँ भूख से मर रही हों, जब दुनिया के बालक और युवा चोरी, डकैती और हत्याओं

---

[1].दलित चेतना : साहित्यिक एवं सामाजिक सरोकार, रमणिका गुप्ता, पृ.77

जैसे जघन्य कर्मों में जाने को मजबूर हों, जब विश्व की आधी जनसंख्या प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष वैश्यावृत्ति में सुलग रही हो। तब क्या हम वीरों की तरह सौन्दर्य और साहित्यशास्त्र के नियमों की बांसुरी बजाते रह सकते हैं? दलित साहित्य अन्तरराष्ट्रीय चिंताओं और समाजशास्त्रीय पड़तालों (इंटरनेशनल कंसर्न और सोशियोलॉजिकल इन्वेस्टिगेशन) का साहित्य है।"[1] दलित कहानीकार ज्यादातर अपने भोगे हुए यथार्थ को सामने लाने में विश्वास रखते हैं। वे जात-पाँत का विरोध, शोषण, अन्याय, अत्याचार आदि का प्रतिरोध तथा समतामूलक समाज की स्थापना पर बल देते हैं। सदियों से जो विकृति, विद्रूपता और विसंगति समाज में फैली हुई है उसने ही स्वर को विद्रोही बना दिया है। रमणिका गुप्त जी ने ठीक ही कहा है कि- "दलित कहानी इस व्यवस्था की सदियों के खिलाफ आवाज ही नहीं उठाती बल्कि कुछ सवाल भी पूछती है।"[2]

हिन्दी दलित कहानी में दलित समाज में हो रहे परिवर्तनों की आहट बहुत साफ सुनाई दे रही है। चाहे वह व्यक्ति के भीतर हो या बाहर। दलित कहानी का प्रभाव उसकी सच की बेखौफ़ अभिव्यक्ति में है जिसके लिए बहुत साहस की आवश्यकता है। दलित कथाकारों में यह साहस तेज़ी से उभर रहा है, यह कहने में कोई संकोच नहीं कि दलित कहानी का भविष्य बहुत उज्ज्वल है, उसके क्षेत्र में विस्तार की बहुत सम्भावनाएँ हैं। उसे पाठकों की कमी नहीं रहेगी। लेकिन उसके लिए दलित कथाकारों को अपने दायित्व को बखूबी निभाना होगा, उन्हें अपने सामाजिक सरोकारों को समझना होगा। भविष्य में यही कहानी के जीवन स्रोत होंगे। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि शुरु से ही दलित साहित्यकार इस बात पर जोर दे रहे हैं कि जातिविहीन और वर्गविहीन समाज की स्थापना लोकतांत्रिक प्रक्रिया द्वारा जाति-व्यवस्था पर आधारित पूंजीवाद समाज-संरचना को बदल कर ही की जा सकती है। क्योंकि पूंजीवादी ताकतें सामन्ती और ब्राह्मणवादी ताकतों से गठजोड़ करके जाति-व्यवस्था पर समाज-संरचना और उससे उत्पन्न शोषण-उत्पीड़न को बनाए रखने का प्रयत्न कर रही हैं। इसके विरुद्ध दलित साहित्यकार दलित समाज को एकजुट होकर संघर्ष की प्रेरणा दे रहे हैं।

---

[1]. हंस, राजेन्द्र यादव, अगस्त-2004, पृ.15

[2]. दलित चेतना : साहित्यिक एवं सामाजिक सरोकार, रमणिका गुप्ता, पृ.83

वर्तमान भारतीय समाज में जाति के बिना व्यक्ति की पहचान या परिचय अधूरा ही रहता है और यह पता चल जाने पर कि सामने वाला व्यक्ति दलित यानी निम्न जाति का है तो सवर्णों के लिए उसके सहज रूप से स्वीकार करना कठिन हो जाता है। यह बात भारत के परम्परावादी समाज पर अक्षरतः लागू होती है। भारत के आधुनिक समाज की यह विडम्बना ही कही जाएगी कि लोकतांत्रिक विचारों और मूल्यों तथा समानता और भाईचारे के प्रचार-प्रसार के बावजूद जातिगत भेदभाव और छुआछूत जैसी बीमारियाँ हमारे समाज का अपरिहार्य अंग बनी हुई हैं। ब्राह्मणवादी संस्कार जड़ों में जमाये हुए हैं। प्रगतिशील और जनवादी विचारों और मूल्यों का समर्थन करने वाले लोग भी अपने जातिवादी संस्कारों का मोह नहीं त्याग पा रहे हैं।

आज परम्पराओं एवं अंधविश्वासों का मोह दलितों में तेजी से मिट रहा है उनमें शिक्षा के प्रति ललक बढ़ी है। विषम परिस्थितियों में वे शिक्षित होने को लालायित हैं, इस दृष्टि से डॉ.कुसुम वियोगी की कहानी 'आटे सने हाथ' देखी जा सकती है। अशिक्षा की वजह से वे अनेक सामाजिक बुराइयों से ग्रस्त रहती हैं। रामकली मध्यवर्गीय परिवारों के बच्चों को स्कूल जाता देखकर तड़प उठती है, कि काश! उसके बच्चे भी टाई पहनकर स्कूल जाते। आर्थिक विषमता में जकड़ी रामकली 'इस मलकुन्ड से छुटकारा' चाहती है। पर शराबी पति उसकी इन इच्छाओं को गला घोंट देता है। इसके बावजूद वह अपनी बेटी सूरजमुखी को स्कूल भेजने में सफल हो जाती है। इस कहानी का महत्वपूर्ण पक्ष वह है जब सूरजमुखी अपनी अध्यापिका मंजुला दीदी का स्नेह और प्यार कठिन परिस्थितियों में भी पढ़ने की ललक बनाए रखता है। और देर होने की वजह से वह आटे सने हाथों से ही स्कूल के लिए चल देती है। स्कूल के गेट पर प्रिंसीपल और मंजुला दीदी की नजर उसके आटे सने हाथों पर पड़ते ही 'मंजुला दीदी का हृदय द्रवित हो उठा। क्रोध से बढ़ा प्रिंसीपल के रक्त का तापमान भी शून्य से नीचे गिर गया।' कहानी का यह अन्तिम वाक्य दलित नारियों में शिक्षा के अत्यधिक महत्व को उजागर कर देता है। डॉ.अम्बेडकर का यही सपना था कि दलित समाज को अपनी आर्थिक तंगी के बावजूद शिक्षा पर ज्यादा ध्यान देना चाहिए। इसलिए आज वे दलित साहित्यकारों के प्रेरणास्त्रोत बने हुए हैं।

जयप्रकाश कर्दम जी की लगभग सभी कहानियों के पात्र दलित हैं और उनका दलितपन तथा शोषक समाज के अगुवाओं का घिनौना बर्ताव उनके संवादों में स्पष्ट दिखाई देता है। कर्दम जी की

कहानियों में एक कहानी ऐसी है जो उनके निजी जीवन में उनके पिता के साथ घटित हुई घटना को अभिव्यक्त करती है। यह कहानी 'लाठी' शीर्षक से प्रकाशित हुई है। गौरतलब है कि कर्दम जी के पिता खेती-बाड़ी करते थे और एक बार दबंग बदनी जाट ने उनकी कमर में लाठी मारी थी, जिसके दर्द के चलते उनके पिता आजीवन कराहते रहे। लाठी कहानी इसी बात को दोहराती हुई नज़र आती है। इस कहानी का एक पात्र दलित किसान है, जो अपने वार पर अपने खेत में पानी देने जाता है, लेकिन उस समय तक गाँव के दबंग जाट किसान का खेत नहीं भर पाता। पानी चलाने को लेकर दोनों में कहासुनी हो जाती है और दबंग जाट किसान, दलित किसान को लाठी मार देता है। हांलाकि दलित किसान गाँव में अपने मुहल्ले में आकर घटना की जानकारी देता है और दलित वर्ग के लोग बदनी से बदला लेने के लिए उठ खड़े होते हैं। लेकिन कर्दम जी के पिता तथा परिवार ने कभी बदले की भावना को रोष के रूप में प्रकट नहीं किया। कर्दम जी के पिता को मारी हुई लाठी से उत्पन्न दर्द उनकी रचनाओं में कसक बनकर उभरकर आया है।

कर्दम जी की पहली कहानी 'तलाश' सीधे समाज में स्थित वर्ण-व्यवस्था को रेखांकित करने वाली कहानी है। कहानी का नायक रामबीर सिंह एक बिक्रीकर अधिकारी है। वह गुप्ता परिवार के यहाँ किराए के मकान में रहता है और रामबती चुहड़ी से खाना बनवाता है जो गुप्ता दम्पत्ति को नहीं सुहाता और वे रामबीर से कहते हैं कि वे अपनी कामवाली बदल दें और रामबती से खाना न बनवाएँ। रामबीर सिंह के यह पूछने पर कि आखिर रामबती में क्या कमी है, तो गुप्ता दम्पत्ति ने कहा कि, "आप नहीं जानते साहब, रामबती चूहड़ी है। एक चूहड़ी से खाना बनवाएँगे आप? माँस-मछली पता नहीं क्या-क्या खाती है। मुझे तो सोचकर ही घिन-सी आ रही है। और वह रसोईघर के अन्दर घुसकर सब चीज़ों को छुएगी।"[1]

रामबीर सिंह को गुप्ता के ये शब्द बड़े अटपटे लगे और उत्तर में रामबीर सिंह ने कहा –"आपकी बात कुछ जंच नहीं रही मुझको तो गुप्ता जी! हमें इस तरह की बातें नहीं सोचनी चाहिए। ये बातें बहुत पुरानी हैं और पीछे छूट चुकी हैं। हमारा संविधान, जिससे हमारा देश चलता है, उसकी नज़र में सब

[1] 'तलाश', जयप्रकाश कर्दम, पृ. 26

बराबर हैं। कोई किसी से छोटा-बड़ा या छूत-अछूत नहीं है।"[1] लेकिन गुप्ता अपनी सवर्ण मानसिकता के दम्भ के चलते यह समझने वाला नहीं था उसने फिर प्रतिवाद किया कि, "संविधान से देश चलता है साहब, समाज नहीं। समाज परम्पराओं से चलता है। इस पूरे मुहल्ले में ब्राह्मण-बनिए रहते हैं-धरम-करम से चलने वाले।"[2]

लेखक ने जिस कदर समाज में व्याप्त छुआछूत की भावना को उजागर किया इससे यही प्रतीत होता है कि आधुनिकता की चकाचौंध का असर लोगों के केवल रहन-सहन पर पड़ा है लेकिन विचारों से वे अभी भी सामंती विचारधारा से प्रेरित हैं। लोग यह भूल जाते हैं कि देश का संविधान एक दलित ने लिखा है और वही संविधान आज देश को चला रहा है। कर्दम जी की कहानियों की यह विशेषता रही है कि वे प्रकारान्तर से व्यवस्था में एक नवीनता तलाशती हैं और कथ्य के स्तर पर वह बेबाक वर्णन करती हैं। लेखक की बाहरी वस्तुओं की गहराई से समझ इस बात के लिए प्रमाण सिद्ध होती हैं कि समाज में अभी तक वह सब प्रचलन में है जो वास्तविक अर्थों में नदारद होना चाहिए था। डॉ. अम्बेडकर की लाख कोशिशों के बावजूद भी समाज की परम्परागत सोच में दरार नहीं आयी। लेकिन लेखक अपने पात्रों के जरिए उस परम्परागत दीवार में सेंध लगाने में सक्षम एवं सफल साबित हुए है। तभी तो रामबीर सिंह दो टूक कहता है –"यदि यह बात है तो मैं आपका मकान खाली करने के लिए तैयार हूँ। लेकिन जातिगत भेदभाव के आधार पर मैं रामबती से खाना बनवाना बन्द नहीं करूँगा।"[3]

'तलाश' में कुल बारह कहानियाँ संकलित हैं और हर कहानी में तलाश है एक ऐसी नवीन व्यवस्था की जहाँ पर असमानता न हो और दलित वर्ग भी सम्मानपूर्वक जीवन जी सके। 'मूवमेन्ट' कहानी का नायक प्रगतिशील विचारों का है और सामाजिक कार्यों के लिए प्रायः घर से बाहर ही रहता है। लेकिन उसकी पत्नी सुनीता अपने ही घर में चारदीवारी के भीतर घुटन सी महसुस करती है। एक ओर उसके पति समाज में व्याप्त असमानता दूर करने के लिए प्रयासरत हैं लेकिन अपने ही घर में वह पत्नी के साथ असमानता का व्यवहार करते हैं। हांलाकि पत्नी इस बात से रुष्ट है कि उसे कोई

[1] 'तलाश', जयप्रकाश कर्दम, पृ. 27
[2] 'तलाश', जयप्रकाश कर्दम, पृ. 27
[3] 'तलाश', जयप्रकाश कर्दम, पृ. 27

अवसर प्रदान नहीं किया गया। पति के यह कहने पर कि वह भी चाहते हैं कि सामाजिक आयोजनों में वह भी हिस्सा ले। इस पर भड़ककर वह कह उठती है -"सिर्फ चाहते हो न? पर रखना तो चाहते हो नौकर की तरह इस चारदीवारी के अन्दर ही। नहीं तो कितनी बार मौका दिया है तुमने मुझे घर से बाहर जाने का, कितनी बार अपने साथ ले गए हो तुम? बाहर के लिए तो सिर्फ तुम हो, मैं तुम्हारे परिवार और मेहमानों की आवभगत और सेवा के लिए हूँ। तुम बराबरी की बात करते हो न, बराबरी का मतलब है हर क्षेत्र में हर स्तर पर बराबरी। हर किसी को अवसर की स्वतंत्रता और समानता। मेरी सारी जिन्दगी तो परिवार की जिम्मेदारियाँ निभाते हुए घर की चारदीवारी की भेंट चढ़ रही है। मेरे लिए कौन-सा अवसर है इस पर नहीं सोचोगे तुम कभी। यही तो सबसे बड़ी दिक्कत है। मैं पूछती हूँ क्या यही प्रगतिशीलता है तुम्हारी कि बाहर जाकर अन्याय और असमानता के खिलाफ भाषण झाड़ो और खुद घर में असमानता का व्यवहार करो? यही मूवमेन्ट है तुम्हारा?"[1]

वास्तविक अर्थों में कर्दम जी ने इस कहानी के माध्यम से समाज मे व्याप्त नारी जीवन की कसक को अभिव्यक्ति देने की कोशिश की है। सही मायने में यदि देखा जाए तो भारत के लगभग हर घर में नारी दलित, शोषित है और उसे कभी अपने जीवन के बारे में सोचने-समझने का अवसर प्रदान नहीं किया जाता। वह चारदीवारी के भीतर ही अपनी साँसे तोड़ देती है। 21 वीं सदी में नारीवादी आंदोलनों के चलते या शिक्षा के प्रसार के चलते नारी जीवन में थोड़ा-बहुत परिवर्तन देखने को मिलता है लेकिन आज भी एक विशाल नारी समुदाय त्रासदीपूर्ण जीवन जी रहा है।

वैसे 21वीं सदी में स्त्री के सौंदर्य को भी वर्णन किया जा रहा है। लेकिन स्त्री इसे अपना उद्धार मानती हुई दिखाई दे रही है। बहरहाल वैसे यह कहानी दलित जीवन का चित्रण करने वाली कहानी नहीं है। यह तो प्रकारान्तर से नारी जीवन के यथार्थ को उजागर करने वाली कहानी है। प्राचीन काल से ही स्त्री को लोक मर्यादा और सदाचरण के नाम पर बंधक बनाकर रखा गया है। लेकिन वर्तमान समय में यह बंधकत्व स्त्री को मान्य नहीं इसके विपरित वह भी पुरुषों के कंधे से कंधा मिलाकर विकास में प्रतिभागिता करना चाहती है। कर्दम जी ने सुनीता के माध्यम से स्त्री की अभिलाषा, आकांक्षा को सधी हुई आवाज़ में अभिव्यक्ति प्रदान की है। वैसे यह कहानी दलित कार्यकर्ताओं को सिलसिले से यह

[1] 'तलाश', जयप्रकाश कर्दम, पृ. 88

समाझाने का प्रयास करती है कि परिवर्तन की बात बाहर करने से पहले वे अपने घर-परिवार में परिवर्तन करें तथा सबके साथ समानता का व्यवहार रखें। बाहर समानता की माँग करते-करते कहीं ऐसा न हो कि घर के भीतर चारदीवारी में स्त्री दलितपन के बोझ से दबी न जाए।

कर्दम जी ने जिस प्रकार स्त्री की मनोकांक्षा को परखकर 'मूवमेन्ट' कहानी का सृजन किया ठीक उसी प्रकार शिक्षा जगत में दलित अध्यापकों की दयनीय स्थिति को भी उन्होंने 'मोहरे' नामक कहानी के माध्यम से प्रस्तुत किया है।

इस कहानी में उत्तर भारत का विद्यालयी माहौल पूरी तरह प्रतिभाषित होता है। एक तो सवर्ण अध्यापक किसी दलित अध्यापक को तथाकथित विद्यामंदिर में बर्दाश्त नहीं कर पाते। यदि वह किसी तरह आ भी जाता है, तो उसके विरूद्ध विभिन्न प्रकार के षड्यंत्र रचे जाते हैं। इस कहानी का नायक सत्यप्रकाश भी इसी स्थिति का भोक्ता है। वह एक दलित अध्यापक होने के साथ-साथ यह महसूस करता है कि, "सरकारी स्कूलों में पढ़ने वाले अधिकांश बच्चे साधनहीन और निर्धन दलित परिवारों से हैं। जो लोग थोड़ा-सा भी ठीक-ठाक खाते-पीते हैं वे अपने बच्चों को पब्लिक स्कूलों में पढ़ने भेजते हैं।"[1] दरअसल वह एक दलित नेता के भाषण से इस सत्य को जान गया था कि, "गैर दलित अध्यापक दलित बच्चों को पढ़ाने के प्रति गम्भीर नहीं है। वे नहीं चाहते कि दलित बच्चे पढ़-लिखकर कामयाब हों। इसलिए वे हमारे बच्चों को पढ़ाने में रुचि नहीं लेते हैं। हमारा शिक्षित होना उनके लिए चुनौती बन सकता है, वे इस बात को अच्छी तरह समझते हैं। इसलिए पढ़ाने की बजाए वे उल्टे उन्हें हतोत्साहित करते हैं। बाबासाहब अम्बेडकर के लम्बे संघर्ष और त्याग का फल है कि आप लोग पढ़-लिखकर सरकारी नौकरी में हैं। यदि आप लोग चाहते हैं कि हमारा समाज तरक्की करे, हमारे समाज के बच्चे पढ़-लिखकर आगे बढ़ें तो आप लोगों को नौकरी की भावना से ऊपर उठकर इन बच्चों में पढ़ाने के लिए अतिरिक्त दायित्व अपने ऊपर लेना होगा।"[2]

[1] 'तलाश', जयप्रकाश कर्दम, पृ. 51-52
[2] 'तलाश', जयप्रकाश कर्दम, पृ. 52

सत्यप्रकाश अपना कार्य भली-भाँति करता है लेकिन गैर दलित अध्यापकों में सत्यप्रकाश के प्रति हीन भावना थी अतः वे उसे एक षड्यंत्र में फँसाकर स्कूल से बाहर कर देते हैं। यह लगभग भारत के सभी गाँवों का सत्य है कि दलित अध्यापक के प्रति सवर्ण अध्यापकों का रवैया कुछ उखड़ा-उखड़ा सा रहता है। कहानी में सत्यप्रकाश किसी बालक को नहीं पिटता है लेकिन रादेव त्रिपाठी उस बच्चे के पिता को उसके खिलाफ उकसाता है, "देखो, इस तरह का व्यवहार बच्चों के साथ ज्यादती है। आपको इस ज्यादती का विरोध करना चाहिए। आखिर माँ-बाप बच्चों को स्कूल में पढ़ने के लिए भेजते हैं। मास्टरों का फर्ज होता है कि वे बच्चों को पढ़ाएँ, उन्हें प्यार से समझाएँ, ज़्यादा हो तो जरूरत पड़ने पर उनको डाँट दें। लेकिन बच्चों के साथ इस तरह का हिंसक व्यवहार करना बहुत बड़ी ज्यादती है, यह मानव अधिकार का भी उल्लंघन है। इस तरह मार-पीट करने से बच्चे के मन में दहशत बैठ जाएगी, वह हमेशा डरा-सहमा-सा रहेगा। पढ़ाई में उसका मन बिल्कुल नहीं लगेगा। अच्छा बनने की बजाए उल्टे इससे तो बच्चे का भविष्य बिगड़ जाएगा। चाहे मैं ही क्यों न होऊँ बच्चों के अभिभावकों को इन बातों का विरोध जरूर करना चाहिए। आज आप चुप लगाकर बैठ जाएँगे तो कल को दूसरे बच्चे के साथ भी ऐसा हो सकता है। इससे सत्यप्रकाश को बढ़ावा मिलेगा। जुल्म को सहना जुल्म को बढ़ावा देना है। मैं यही कहूँगा कि अपने और सभी बच्चों के हित में आपको इसका विरोध करते हुए डिप्टी डायरेक्टर ऑफ़ एजुकेशन से इसकी शिकायत करनी चाहिए। ज्यादती की इस खिलाफत में हम लोग आपकी गवाही देंगे।"[1]

कर्दम जी ने एक ओर जहाँ सत्यप्रकाश के साथ किए गए षड्यंत्र का वर्णन किया है, वहीं दूसरी तरफ रामदेव त्रिपाठी जैसे समाज कंटक व्यक्तित्व का भी पर्दाफाश किया है।

भेदभाव तथा दीन दलितों के प्रति हीनता की भावना 'शीत लहर' नामक कहानी में भी दिखाई देती है। हांलाकि इस कहानी में भी दलित शब्द का प्रयोग नहीं है, लेकिन बेबस लाचार शीत लहर से ठिठुरते लोगों का जिक्र आता है। कहानी का नायक चन्द्रप्रकाश नेकनीयत आदमी है और दिल्ली के लक्ष्मीनगर में उसने एक हाउसिंग सोसायटी में घर लिया है जो वह सड़क किनारे ठण्ड से सिकुड़ते लोगों को देने की बात अपनी पत्नी के सामने छेड़ देता है औरउस पर उसकी पत्नी बिगड़कर कहती है -

[1] 'तलाश', जयप्रकाश कर्दम, पृ. 55

"तो फिर दे दो इनको रहने के लिए। लेकिन पहले सोसाइटी के पदाधिकारियों से पूछ लो, क्या वे लोग इसके लिए एलाऊ करेंगे।... ये लोग इतनी गन्दगी फैलाएँगे कि सारी सोसाइटी को गन्दा करके रख देंगे। सोसाइयी बिल्कुल एलाऊ नहीं करेगी इनको रहने के लिए।"[1] *सोसाइटी* सचिव से पूछने पर वह उन लोगों की जेन्टरी (कुलीन वर्ग) पर सवाल उठाता है। "आप अच्छी तरह जानते हैं कि सोसाइटी के सदस्य एक खास जेन्टरी के लोग हैं। इन सड़क के लोगों की क्या जेन्टरी है? सोसाइटी का कोई सदस्य इनको बर्दाश्त नहीं करेगा।"[2]

लोगों के ऐसी अभिजात्यता पर लेखक ने करारा जवाब दिया है अपने पात्रत्रत्रों के माध्यम से। 'जहर' कहानी का नायक एक दलित ताँगे वाला है। एक दिन वह एक ब्राह्मण सवारी को अपने ताँगे में बैठा लेता है। रास्ते में किसी दलित नेता का जुलुस में जाते हुए दलितों को देखकर ताँगे में बैठा हुआ ब्राह्मण भुनभुनाता है और दलितों के खिलाफ अनाप-शनाप बोलने लगता है। इस पर ताँगे वाला विशम्बर पण्डित को बीच रास्ते में ही यह कहकर ताँगे से उतार देता है कि - "पण्डत, जरा नीचे उतर ताँगे सै।"[3] ताँगेवाले का आक्रोश आवेग के साथ बाहर पड़ता है। गौरतलब है कि पण्डितों की पण्डिताई केवल इस बात में रह गयी कि वे समाज में ऊँच-नीच, श्रेष्ठ-नीच की भावना को पनपने के लिए स्थान खोज लेते हैं। लेकिन कहानी में बिश्मबर ताँगेवाले के शब्दों से पण्डित की पूरी पण्डिताई निकल जाती है।

वास्तव में प्रतिरोध का साहस ही दलितों के जीवन में बेहतरी की संभावनाएँ उत्पन्न करता है। बिशम्बर के दो टूक शब्द देखिए - "जब चमारों सै इतनी नफरत है तुझकू तै चमार के ताँगे में भी क्यूँ बैठता है। किसी और भारकस सै अइए। मेरे ताँगे में बैठकै चमारों कू गाली देवैगा, उन्हें कोसैगा तू? ऐं!... चल उतर मेरे ताँगे सै।... दो रुपए का नुकसान मुझै होएगा ना? मैं सौ रुपए का नुकसान बर्दाश्त कर लूँगा. पर तेरे जैसी अपमानजनक बातें मैं बर्दाश्त नई करूँगा। चल उतर जल्दी सै। बातों में लगा

[1] 'तलाश', जयप्रकाश कर्दम, पृ. 143
[2] 'तलाश', जयप्रकाश कर्दम, पृ. 143
[3] 'तलाश', जयप्रकाश कर्दम, पृ. 112

कै टैम खराब मत कर मेरा। नहीं तै यू सन्टर देख रा है मेरे हाथ में, इससै सूड़ दूँगा तुझै।"[1]

यदि समाज के प्रत्येक दलित में इस चेतना का विकास हो जाए तो समाज का कायापालट होने की संभावना इन संवादों से होती है। कर्दम जी के उपन्यासों के पात्र सौम्य विचारों के हैं, वे आक्रोश भी सौम्य रूप में व्यक्त करते हैं या यूँ कहें कि आक्रोश एवं प्रतिरोध का ज्वालामुखी उनकी आरम्भिक रचनाओं में अंकुरित होता है लेकिन 'तलाश' के पात्रों में आकर वही आक्रोश का ज्वालामुखी कि तरह फट पड़ता है। बर्दाश्त की भी हद होती है। इस प्रचुरता में प्रचलित वाक्यांश को यदि दलितों के जीवन पर लागू किया जाए तो हजारों सालों से दलितों ने बर्दाश्त व सहन ही किया है। बस्स अब और नहीं का रवैया या स्वर उनकी जुबा पर अब आ उठा है जो कि सामाजिक क्रांति एवं परिवर्तन के लिए सकारात्मक एवं अनिवार्य है।

कर्दम जी की एक अन्य कहानी 'साँग' जो कि नायिका प्रधान है ; दलितों के बदलते रवैये को व्यक्त करती है और सवर्ण समाज को सचेत करती है कि यदि ऐसा घटित न हुआ हो तो ऐसा होने की पूरी संभावना है, अतः वे दलितों के साथ अच्छा बर्ताव रखें।

कहानी में मुखिया भुल्लन जो कि दलित है, की खूब पिटाई करता है। भुल्लन का स्वास्थ्य ठीक न होने के कारण वह खेत में पानी नहीं लगा पाता है। इसी बात को लेकर मुखिया ताव में आकर भुल्लन की पिटाई करता है। भुल्लन दया की भीख माँगता रहा, गिड़गिड़ाया लेकिन मुखिया ने एक न सुनी, आव देखा न ताव देखा बस्स पिटता ही गया। "मुखिया निर्ममता से भुल्लन को मारे जा रहा था और भुल्लन गर्म रेत पर पड़ी मछली की मानिन्द प्राण-रक्षा में इधर से उधर फड़फड़ा रहा था।"[2] ठीक ऐसा ही बर्ताव वह चम्पा के साथ भी करता है लेकिन चम्पा भुल्लन की दशा से ही विचलित हो गयी थी और उसे भी मार पड़ी थी। इस बार वह पूरे साहस के साथ मुखिया का विरोध करती है। "इससे पहले की मुखिया का हाथ चम्पा तक पहुँचता, ओढ़ने में से गंडासा पकड़े चम्पा के हाथ बाहर निकले

[1] 'तलाश', जयप्रकाश कर्दम, पृ. 113
[2] 'तलाश', जयप्रकाश कर्दम, पृ. 34

और अगले ही क्षण मुखिया का सिर दो फाँक हो गया।"[1]

इस प्रकार कर्दम जी ने अपने पात्रों के माध्यम से प्रतिकार का स्वर अंकित किया है। इनेक वर्णन से यह पता चल जाता है कि दलितों में चेतना का विकास हो रहा है। डॉ. एन. सिंह ने लिखा है - "अब वे न तो शाब्दिक हिंसा बर्दाश्त करने को तैयार हैं और न ही शारीरिक हिंसा को। जयप्रकाश कर्दम की कहानियों में परिवर्तन की ये आहटें स्पष्ट देखी जा सकती हैं।"[2]

सिंह ने कर्दम जी की कहानियों की वकालत करते हुए लिखा है कि, "जयप्रकाश कर्दम की कहानियाँ केवल कहानियाँ ही नहीं हैं, बल्कि दलित आन्दोलन के वैचारिक दस्तावेज हैं। दलित विमर्श में एक प्रश्न बराबर उभरता रहा है कि दलित साहित्य के मार्क्सवाद के साथ क्या रिश्ते हों। इस प्रश्न का बहुत ही सुविचारित उत्तर जयप्रकाश कर्दम की कहानी 'कामरेड का घर' प्रस्तुत करती है।"[3] इस कहानी के पात्र कई मार्क्सवादी बुद्धिजीवी हैं। इनमें प्राध्यापक, पत्रकार हैं और प्रगतिशील लेखन से जुड़े रचनाकार हैं। किन्तु आचरण में जमीं-आसमाँ का अंतर है। कामरेड तिवारी कामरेड असलम के घर पर मुर्गा खाता है लेकिन अपने घर पर उसे अण्डा खाने नहीं देता। कर्दम जी ने हिन्दुओं के इस आचरणगत द्वन्द्व को कहानी के दो पात्रों के माध्यम से उभारा है। वहीं 'नो बार' कहानी में विवाह संबंधी विज्ञापन में नो बार लिखने के बाद भी एक दलित के साथ विवाह करने के लिए सोचने वाले पिता की छवि को रेखांकित किया है।

कर्दम जी की कहानियाँ दलित सन्दर्भों में दलितों और गैर-दलितों में आ रहे भावात्मक परिवर्तनों को रेखांकित करती हैं। 'जरूरत' तथा 'बिट्टन मर गई' कहानियाँ भी ऐसी ही कहानियाँ हैं जो गैर-दलितों में दलितों के प्रति उत्पन्न होने वाले सद्भाव का वर्णन करती हैं।

कर्दम जी की प्रत्येक कहानी अपने आप में अनूठा कथ्य एवं विषय-वस्तु को प्रस्तुत करती है। शोषणरहित समाज की अपेक्षा करने के लिए सर्वप्रथम कर्दम जी ने अपने घर में स्त्री पर होने वाले शोषण

---

[1] 'तलाश', जयप्रकाश कर्दम, पृ. 35
[2] 'तलाश', जयप्रकाश कर्दम, पृ. 11
[3] 'तलाश', जयप्रकाश कर्दम, पृ. 12

को रोकने के लिए कदम उठाया है। इस प्रकार इनकी प्रत्येक कहानी एक अलग विषय पर आधारित है तथा एक ऐसी व्यवस्था की तलाश है जहाँ शोषण से मुक्त समाज हो और समानता व भाईचारा हो।

2.2.ओमप्रकाश वाल्मीकि की कहानियों में सामाजिक चित्रण :

मनुष्य सामाजिक प्राणी है। वह समाज में जन्म लेता है और मृत्यु तक समाज के अंदर अपना जीवन व्यतीत करता है। इससे उस पर समाज का, समाज के अंदर की संस्थाओं और व्यवस्थाओं का प्रभाव पड़ता है। आमतौर पर देखा जाए तो बच्चे का जन्म परिवार में होता है। वह पहली शिक्षा अपने माँ-बाप से, बाद में परिवार के अन्य लोगों से, फिर अन्य रिश्तेदार, पड़ोसी, साथी, मित्र आदि से लेता है। इस तरह वह समाज तथा अपनी संस्कृति जानता है। आगर इस तरह का सामाजिक संरक्षण उसे प्राप्त न हो तो शायद वह मनुष्य नहीं बन पायेगा। इसलिए अक्सर कहा जाता हैं कि 'समाज सामाजिक रिश्तों की एक जाल है, संगठन है।'

मनुष्य के विभिन्न प्रकारों को समाजीकृत मनुष्य की क्रियाओं के आधार पर निर्धारित किया जा सकता है। क्योंकि मनुष्य अपने जीवन विकास के क्रम में विभिन्न प्रकार के संबंधों की स्थापना दूसरे व्यक्तियों से किया करता है जिनके अंतर्गत मुख्य रूप से सामाजिक-पारिवारिक, सामाजिक-आर्थिक, सामाजिक-धार्मिक, सामाजिक-राजनैतिक, सांस्कृतिक संस्थात्मक संबंध आते हैं और इसी प्रकार सामुदायिक अंतः क्रियाओं और काल को दृष्टि में रखकर समाज के भी विभिन्न प्रकारों की परिकल्पना की जा सकती है।

भारतीय समाज का निर्माण ही असमानताओं पर आधारित है। नर्म देश वर प्रसाद कहते हैं कि- "समाज में जब मनुष्य अपने को सामाजिक सहानुभूति से अलग समझने लगे और उनमें स्वार्थपरता आ जाए, तब समझना चाहिए कि उस समाज में भी किसी प्रकार का कुप्रबंध आ गया है। ऐसे समाज को प्रत्येक व्यक्ति अपने को स्वयं में ही निहित समझने लगता है और एक दूसरे के प्रति किसी प्रकार का ममत्व नहीं रखता।"[1]

[1].समाजशास्त्र के मूलतत्व,पृ.374

आज भी भारत के दलित सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों से जूझ रहे हैं। उन्हें कहीं-न-कहीं जात पात का सामना करना पड़ता है। दलितों के प्रति अपनाई जा रही नई रणनीति पर विचार करते हुए डॉ. लोहिया कहते हैं कि "अपने अप्राकृत वर्चस्व को बनाए रखने के लिए सवर्ण जातियाँ कपट का खौलता पिंड बन गई...ऊँची जातियाँ सुसंस्कृत और झूठी हैं। और बिंब जातियाँ जड़ता ग्रस्त एवं निर्जीव हैं। ऊँची जातियों की उदारता और दानशीलता संक्षेप में अपनी जाति और अपने संबंधियों के माध्यम से स्वार्थ साधना है....निष्कपट कार्य बहादुरी के बजाय तिकड़म, खुला समर्पण या गुप्त अधीनता राजनीति में सफल व्यक्ति के गुण बन जाते हैं। सामान्य वातावरण पाखंड का हो जाता है और सार्वजनिक जीवन का मूल्य गुण झूठ बन जाता है।"[1]

2.2.1.पारिवारिक संबंध :

दलित कितने भी कष्ट सहे सभी मिलकर ही रहते हैं। उनके अन्दर अपनों के प्रति हमेशा प्रेम रहता ही है। वे अपने बच्चों को पढ़ाना चाहते हैं। जिस गंदगी में वो जी रहे हैं उससे अपने बच्चों को दूर रखना चाहते हैं। इनके पारिवारिक संबंध टूटते नहीं थे। कष्टों को झेलते रहते हैं। इनमें सब मिलकर काम करते हैं। इनमें स्त्री, पुरुष का कोई भेद नहीं होता। दोनों मिलकर काम बाँटते हैं।

'बैल की खाल' कहानी में भूरे के ख़्यालों में गाँव के वे बच्चे घूम रहे थे जो बस्ता लिये किलकारियाँ मारते स्कूल जा रहे होते हैं। न जाने कितनी बार स्कूल के पास खड़े होकर उसने छोटे बच्चों को पहाड़ा रटते देखा था। जब वे एक सुर में बोलते थे तो उसे बहुत अच्छा लगता था। वह सोचता था किसी रोज उसका छुटकू भी इसी तरह बच्चों के बीच खड़ा हो कर पहाड़े रटेगा। बस दो पैसे हाथ में आ जाएँ छूटकू को इस साल स्कूल भेजना ही है।

'कहाँ जाए सतीश' कहानी में उसकी माँ मिसेज पंत से कहती है कि "बहन जी, हम आपको कोई तकलीफ देने नहीं आए हैं...छह महीने से बच्चा घर से गायब है...कहाँ-कहाँ नहीं ढूँढ़ा उसे। आपकी गली में बलेसर सफाई करने आता है। हमारे पड़ोस में ही रहता है। उसी ने बताया कि सतीश यहाँ इस लंबर के मकान में रहवे है।" आगे कहती है कि "भैन जी, आप तो औरत हैं एक माँ की पीर का अंदाज

[1]. हरिजन से दलित, राजकिशोर-पृ.110

लगा सको हो...उसके आणे तक हमें यहाँ बैठने दो...उसे साथ लेके हम चले जाँगे।"[1]

'पच्चीस चौका डेढ़ सौ' कहानी में सुदीप पिताजी से धीमें स्वर में कहता हे कि "पिता जी, ये चार जगह पच्चीस-पच्चीस रूपए हैं। अब इन्हें मिलाकर गिनते हैं...चार जगह का मतलब है पच्चीस चौका..."[2] आखिर पिताजी को विश्वास हो गया। पच्चीस चौका सौ होते हैं।

'अंधड' कहानी में मिस्टर लाल अपनों से दूर रहते हैं। वह भूल जाता है कि उसके पिताजी सुअर के गोश्त की दुकान चलाते थे। पाँच भाइयों में वह सबसे छोटे थे। सभी भाई पिताजी के काम में हाथ बाँटते थे। इसी बीच उन्हें छावनी मेस में सफाई करने का ठेका भी मिल गया था, जिससे आमदनी बढ़ गई। परिवार में किसी ने स्कूल का मुँह नहीं देखा। उन्हें छावनी निकट के गाँव की पाठशाला में भेजा गया था। एस.एस.सी पास करते ही उन्हें एक शोध संस्थान में वैज्ञानिक की नौकरी मिल गई थी। वो अपनी बेटी से कहते हैं कि "पिंकी, तुम्हें इस तरह नहीं बोलना चाहिए, ये सब तुम्हारे नाना, मामा हैं। इन्हें तुम असभ्य और गंदा कह रही हो। गलती तुम्हारी नहीं है, बेटी...मेरी है। मैं अपनी तरक्की को ही सब कुछ समझ बैठा था। इसीलिए मैं हूँ...तुम हो...उसे पाने में इनका बहुत-बहुत बड़ा हाथ है...ये न होते, तो शायद मैं भी इतना बड़ा वैज्ञानिक न बन पाता। ये खुद नरक में रहे, लेकिन मुझे नरक से निकालेने में जो त्याग इन्होंने किया...उसके बदले में इन्होंने न कुछ माँगा, न मैंने इन्हें कुछ दिया, बल्कि इन्होंने अपने से तुच्छ मानकर रिश्ते तक तोड़ बैठा...तुम लोगों को इनसे दूर रखा। सच तो यह है कि मैं मि.लाल ऐसे वृक्ष की तरह हूँ, जो अपनी जड़ों को ही अपनी छाया नहीं देता...मेरी असली पहचान तो यह 'सुक्कड़' ही है, जिसे मैंने एस. लाल में बदलकर एक झूठी जिंदगी को सच मान लेने की कोशिश की। यह असभ्य भी नहीं है, पिंकी ...तुम्हें ऐसा नहीं कहना चाहिए..."[3]

'बिरमा की बहू' कहानी में बाप की बीमारी के कारण रमेसर की पढ़ाई छूट गयी थी ऊपर से घर की जिम्मेदारी सिर पर आ पड़ थी। दिन भर की हाड़ तोड़ मेहनत के बाद जो कुछ भी मिलता वह इतना कम था कि प्राणियों का गुजारा भी मुश्किल था।

---

[1].सलाम,ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.50

[2].सलाम,ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.84

[3]. सलाम,ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.92

'जिनावर' कहानी में बहू जी एक जगह कहती है कि "चौधरी...मेरा ससुर...ससुर नहीं खसम बणना चाहवे था मेरा...मैंने विरोध करा तो मुझे मारा-पीटा गया। तरह-तरह के जुल्म किए...फिर भी मैन्ने हार नी मानी तो निकाल बाहर किया। तुझे हुकुम दिया...जा छोड़ आ इसे..."[1]

'अम्मा' कहानी में शिवचरण के बाद बिसन और उसके बाद किरण। तीनों बच्चों की माँ अब शिबु की अम्मा से 'अम्मा' बन गई थी। ननद ससुराल जा चुकी थी। घर में रह गए थे कुल दस प्राणी। सास-ससुर, देवर-देवरानी उनकी एक लड़की। सुकडू और तीन बच्चे। ससुर दिन-भर घर में पड़ा खाँसता रहता था। देवर कहने को तो एक बैंड पार्टी में बाजा बजाता था लेकिन शादी-ब्याह के दिनों को छोड़कर बाकी समय खाली ही रहता था। इधर-उधर घूमकर सारा दिन गुजार देता था। सुकडू नगरपालिका में सफाई कर्मचारी था। मामूली तनख्वाह थी। पूरे परिवार का भार सुकडू के कंधों पर था। ऊपर से सरदार प्रीतम सिंह का कर्ज जिसका सूद हर महीने चुकाना पड़ता था।

'खानाबदोश' कहानी में मानो और सुकिया ईंट की भट्टी पर काम करते थे। भट्टी के मालिक की नजर मानो पर पड़ी। उसने एक बार मानो को अपने पास बुलाया। मानो ने सुकिया की ओर देखा उसकी आँखों में भय से उत्पन्न कातरता है। सुकिया भी इस बुलावे पर हड़बड़ा गया था। वह जानता था। मछली को फंसाने के लिए जाल फेंका जा रहा है। मानो को एक सवाल खाए जा रहा था। क्या औरत होने की यह सजा है। वह जानती थी सुकिया ऐसा-वैसा कुछ नहीं होने देगा।

'यह अंत नहीं' कहानी में मंगलू, सरबती और बिरमा को एक गट्ठर धान मिला था। एक गट्ठर बिरमा के सिर पर रखते हुए मंगलू ने कहा कि "तू घर जा। साँझ हो रही है...घर जाके रोट्टी-गट्ठर बिरमा देख लियो...हमें आणे में देर हो जागी। बुग्गी में धान लादके ही आणा होगा। तू चल।" एक जगह मंगलू कहता है कि "बिरमा की माँ...किसी तरियो इसके हाथ पीले हो जा तो कुछ चैन मिलेगा।"[2]

'शवयात्रा' कहानी में सुरजा कहता है कि "तो बेट्टे, हियाँ मत आया कर...म्हारी तो कट जागी इसी तरह। बस, सन्तो की फिकर है। यो अकेल्ली रह जागी...यो टूटा-फूटा घर भी शायद अगली बारिश

[1]. सलाम,ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.99

[2]. घुसपैठिए, ओमाकाश वाल्मीकि, पृ.23

ना देख पावे। तुझे जो म्हारी चिन्ता है, तो तू इस घर कू पक्का बणवादे...”[1]

‘कूड़ाघर’ कहानी में अजबसिंह अपनी पत्नी से कहता है कि “इनसे जितना डरकरबात करोगी, ये दबाने की कोशिश करेंगे। तुम इनकी फितरत नहीं जानती। जात-पाँत के सवाल पर ये सब इकट्ठे हो जाएँगे, चाहे आपस में जितना एक-दूसरे के खिलाफ लड़ें।”[2]

‘मैं ब्राह्मण नहीं हूँ’ कहानी में अमित बुआ से कहता है कि “ना बुआ, तुम्हारा दोष नहीं है...तुमने तो हमारी आँखें खोल दी हैं। झूठ के बन्धन कितने खोखले होते हैं, यह अब हमारी समझ में आ गया है। मिरासी होना कोई अपराध नहीं है...तुम अपनी हो ...कहीं नहीं जाओगी।”[3]

‘रिहाई’ कहानी में मिट्ठन हमेशा सोचता था कि सुगमी ओर छुटकू को शहर लेकर जाए। खूब घुमाए, अच्छी, अच्छी चीजें खरीदें। लेकिन लाला का चेहरा देखते ही उसकी बोलती बन्द हो जाती थी। लाला गुस्से में ऊफन पड़ता था। गाली गलौच के साथ ऐसी दहशत पैदा कर देता था कि मिट्ठन भय से कांपने लगता था।

‘ब्रह्मास्त्र’ कहानी में अरविंद के पिताजी अरविंद से कहते हैं कि “अब तुम ही बताओ, पंडितजी ज़िद पर अड़े हैं...कह रहे हैं वह जाएगा तो मैं नहीं जाऊँगा, बेटा अगर हमने पंडित की बात नहीं रखी तो जात-बिरादरी हम पर थूकेगी।”[4]

दलित लेखकों ने अपने लेखन के लिए प्रामाणिक भाषा की नहीं बल्कि बोली का प्रयोग किया है। भाषा का एक दर्जा होता है। प्रामाणिक भाषा के इस दर्जे को दलित लेखकों ने अस्वीकार किया है। समाज में शिष्ट लोगों के द्वारा लेखक के लिए मान्य भाषा के लिए प्रामाणिक भाषा की ओर देखा जाता है। इस शिष्ट मान्यता को दलित लेखकों को प्रमाण भाषा की अपेक्षा अपनी बोली ज्यादा नज़दीक लगती है। क्योंकि प्रामाणिक भाषा में दलितों की बोली के शब्द नहीं मिलते, इसके सिवाय अपने अनुभवों को अपनी मातृभाषा में बिना प्रयास के अधिक तीव्रता से व्यक्त किया जाता है।

---

[1]. घुसपैठिए, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.37

[2]..घुसपैठिये, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.58

[3]. घुसपैठिये, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.65

[4]. घुसपैठिये, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.86

दलित साहित्य की भाषा का सीधा संबंध दलित जीवन से है। अपने दग्ध अनुभवों को दलित रचनाकार सीधे-सीधे साहित्य में प्रस्तुत करता है, बिना किसी लाग लपेट के। दलित साहित्य की भाषा सिर्फ नकार और विद्रोह की भाषा नहीं है बल्कि परिवर्तन की छटपटाहट और अंतःसंबंधों की ऊर्जा अपने भीतर संजोए हुए हैं। वह अपनी दुःखद स्थितियों पर संताप व्यक्त करता है।

दलित जिस परिवेश में जीवन जीते हैं, वहाँ गंदी गलियों मे नंग धड़ंग घूमते बच्चे हैं, दूषित वातावरण है जिसे पारस्परिक आलोचक नहीं जानते। उस परिवेश की भाषा को अश्लील कहना पूर्वाग्रह ही कहा जाएगा। दलित साहित्य की भाषा गद्यात्मक है, जिसमें नकार और विरोध का स्वर मुख्य रूप से उभरता है। दलितों के जीवन की विसंगतियाँ, उत्पीड़न, शोषण और दमन की अभिव्यक्ति के लिए यही भाषा ज्यादा सटीक लगती है। कुछ आलोचक सपाट बयानी का आरोप भी लगाते हैं।

दलित साहित्य ने संस्कृतनिष्ठ परंपरागत साहित्यिक भाषा काव्यशैली, प्रस्तुतीकरण को नकार कर सर्वग्राही भाषा का प्रयोग किया है। ऐसी भाषा जो दलितों की पीड़ा, अपमान, व्यथा की सही और यथार्थवादी अभिव्यक्ति बुन सके। दलित साहित्य की भाषा नकार और विरोध की भाषा है, जिसमें युगों की यातनाएँ साकार हो उठी हैं। मोहनदास नैमिशराय, ओमप्रकाश वाल्मीकि, श्यौराजसिंह बेचैन, जयप्रकाश कर्दम आदि रचनाकारों ने इस भाषा को विस्तार दिया। कुछ आलोचक दलित साहित्य में गंदी और अश्लील भाषा के प्रयोग की ओर संकेत करते हैं। उन्हें लगता है साहित्य का पाठ पवित्र होना चाहिए भले ही उसमें बनावटी भाषा, जो अभिजात्य संस्कारों से रची बसी हो, का प्रयोग करना पड़े। यह धारणा उचित नहीं है क्योंकि दलित साहित्य कल्पना में नहीं जीता। वह जीवन के कटु यथार्थ से रूबरू होता है।

यातनाओं से उपजी आक्रोशित भाषा एक तेज औजार की तरह भीतर तक झकझोर देती है। दलित समाज की बोली-बानी के ऐसे अनेक शब्द प्रकार होते हैं, जिससे साहित्य अनभिज्ञ था। यह दलित साहित्य यो ताजगी देता है। और भाषा की जड़ता भी टूटती है।

दलित साहित्यकारों ने वेदना, विद्रोह और आक्रोश के साथ साथ वैचारिक प्रतिबद्धता को भी अपनी भाषा में प्रधानता के साथ अपनाया है। दलित रचनाकार सामाजिक यथार्थ के प्रति सिर्फ संवेदनशील ही नहीं सजग भी है।

2.2.2. नारी के प्रति सम्मान :

भारतीय समाज में दलित स्त्री की स्थिति सामाजिक, आर्थिक, नैतिक मानदंडों के मध्य निचले पायदान पर रही एवं लगभग अपरिवर्तनीय। दलित स्त्री एक ओर पुरुष सत्ता की तो दूसरी ओर जाति व्यवस्था की शिकार बनी. उस पर लिंग भेद और जाति भेद दोनों प्रकार से अत्याचार हुए।

नारी के प्रति उच्च वर्गों की मानसिकता अलग होती है। वे नारी को भोग की वस्तु समझते हैं। 'गोहत्या' कहानी में सुक्का कई सालों से मुखिया का नौकर था। सुक्का की शादी के बाद उसमें बदलाव आ गया। उसके चेहरे पर छाई खामोशी, कोहरे-सी छँट गई थी। दुल्हन को ऐसे सहेज कर रखता था, जैसे कोई बेशकीमती हीरा अचानक उसकी झोली में आ गिरा हो। उसकी दुल्हन थी भी वैसी ही। उसने आते ही सुक्का के सोए आत्म विश्वास को जगा दिया था। अनपढ़ होते हुए भी अच्छे-बुरे की पहचान करा दी थी। सुक्का की दुल्हन के रूपरंग और स्वाभिमानी स्वभाव की चर्चा मुखिया जी के कानों तक पहुँच चुकी थी। वे उसे देख लेने को आतुर हो उठे थे। हवेली में अपनी पत्नी को लाने के लिए सुक्का इन्कार करता है तो मुखिया कहता है कि "औकात में रह सुक्का। उड़ने की कोशिश ना कर, बाप-दादों से चली आई रीत है।"[1]

'जिनावर' कहानी में चौधरी की बहु जगेसर से कहती है कि "सतवीर की किसनी...चौधरी के खेत से गायब हो गई थी। बहुत ढूँढ़ने पर भी ना मिली। तीन महीने बाद लाश मिली थी। वह भी जोहड़ में। जब बस्ती में खुसर-फुसर हुई तो लोग इकट्ठे होने लगे थे। तब तूने और रामजीवण ने चौधरी के भड़काने पर लाठियों से पीट-पीट के लहूलुहान कर दिया था...वह तुम ही थे..."आगे बहु कहती है कि "सुना तीन महीने हवेली के अंदर बंद थी। चौधरी के कब्जे में। उस मासूम-सी लड़की को बरबाद किया इसी चौधरी ने। पता नहीं और कितने दिन हवेली में रहती...अचानक सरोज के मायके आ जाने से गड़बड़ हो गई थी। जैसे ही सरोज आई, रातों रात किसनी को हवेली से हटा दिया गया। कहीं भेद ना खुल जावे...मार के जोहड़ में फेंक दिया ..."[2]

---

[1] .सलाम,ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.59

[2]. सलाम,ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.100

'अम्मा' कहानी में अम्मा मिसेज चोपड़ा के घर में काम करती थी। अम्मा अक्सर मिसेज चोपड़ा के घर में एक आदमी को देखती थी। शुरु में यही समझती रही कि घर-परिवार का ही कोई होगा। लेकिन भेद जल्दी ही खुल गया। एक दिन दोनों को जिस स्थिति में देखा, अम्मा का दिल धक से रह गया। मिसेज चोपड़ा उसे भली अच्छी लगती थी। उस दिन जो कुछ देखा, उसके बाद उसके प्रति अम्मा के मन में एक अजीब-सी नफरत पनपने लगी।

एक दिन अम्मा साफ करने के लिए मिसेज चोपड़ा के घर पहुँची तो वो बाथरूम में थी। वह आदमी बेडरूम में बैठा हुआ था। मिसेज चोपड़ा ने बाथ रूम से आवाज देकर कहा है कि "विनोद प्लीज एक बाल्टी पानी जमादारनी को दे दो...मैं सिर धो रही हूँ...देर लगेगी बाथरूम से निकलने में। बाल्टी नल के नीचे लगी है।"[1]

'यह अंत नहीं' कहानी में बिरमा जंगल से लौट रही थी तो रास्ते पर सचीन्दर उसका रास्ता रोक लेता है और कहने लगा कि "सिर पर इतना बोझ है, थक गई होगी। थोड़ा सा सुस्ता ले..." बिरमा उस पर गेहुँ का गट्ठर गिरा दी, वो डर कर भाग गया। सचीन्दर का पिता तेजभान सचीन्दर से कहता है कि "अबे ! कुछ करना ही था तो हरामजादी को खेत में ही घसीट लेता...खुद ही किसी को मुँह दिखाणे जोगी ना रहती।"[2]

'शवयात्रा' कहानी में कल्लन की बेटी मर जाती है, शवयात्रा में कोई भाग नहीं लेते। कल्लन उसके पिता, कल्लन की पत्नी, कल्लन की बहन तीनों शव को लेकर निकलते हैं कि "इस शवयात्रा को देखने के लिए चमारिनें अपनी छतों पर चढ़ गई थीं। उनकी आँखों के कोर भीगे हुए थे। लेकिन बेबस थी। अपने-अपने दायरे में कैद बल्हार तो बल्हर ही थे। अपने ही नहीं, उन्हें तो दूसरों के मुर्दे भी ढ़ोने की आदत थी..."[3]

'जंगल की रानी' कहानी में कमली जो गाँव में रहती थी, स्कूल में पढ़ाती थी। डिप्टी साहब ने ग्रामीण महिला प्रशिक्षण शिविर में कमली को बुलाया था। उस रात में कमली को बांधकर डिप्टी

---

[1]. सलाम,ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.100

[2]. घुस पैठिए,ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.27

[3]. घुस पैठिए,ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.43

साहब के पास लाया गया। डिप्टी साहब, एस.पी और विधायक जी तीनों मिलकर उस पर वार करने लगे। वह जंगली जानवरों की माँद में फँस गई थी। उनसे बचने के लिए संघर्ष करने लगी। एस.पी. ने कमली की गर्दन पूरी ताकत से मरोड़ दी थी। एक ही झटके में कमली का शरीर झूल गया था कि "कमली के भीतर जंगल जाग उठा था। वह जंगली जानवरों की माँद में फँस गई थी। उनसे बचने के लिए संघर्ष करने लगी। शरीर के कपड़े चीथड़ों में बदल गए थे।"[1]

2.2.3.मानवीय संबंध :

दलित हमेशा दूसरों के लिए काम करते हैं। इनके श्रम से सवर्णों का धन बढ़ता जाता है। इनके मन में मानवता भरी रहती है। वे लोग अपने बारे में नहीं सोचते। श्रम के अलावा कोई दूसरा काम नहीं जानते। जहाँ तक हो सके वे दूसरों की सहायता में लगे रहते हैं। इनमें लोभ की प्रवृत्ति नहीं होती। 'बैल की खाल' कहानी में काले और भूरे अनपढ़ दलित होते हुए भी अपनी मानवता को नहीं छोड़ते। जब शहर का लाला जानवरों को मारने के लिए पुड़िया ले जाने के लिए कहता तो दोनों मिलकर उसे कोसते हैं। वे दोनों बछड़ी को बचाने की कोशिश करते हैं यह मालूम होते हुए भी कि थोड़ी देर रुकेगे तो बैल की खाल खराब हो जाएगी। काले भूरे को आवाज देता हुआ कहता है कि "भूरे ! कहीं थोड़ा पानी हो तो लेकर आ...जल्दी कर ...देख कैसे तड़प रही है।" आगे कहता है कि "भूरे जल्दी आ...डॉक्टर को लेके आना है, बछड़ी को बहुत चोट लगी है.."[2]

'जिनावर' कहानी में चौधरी की बहू उसे जंगल में छोड़ कर जाने के लिए जगेसर से कहती है तो जगेसर कहता कि "नहीं बहू जी, आपकू इस हाल में छोड़के ना जा सकूँ...जंगल-बियाबान है...साँझ होते ही अँधेरा घिर आवेगा...आप जहाँ कहो वहाँ छोड़ दूँगा...कहो तो माँ के घर या..." बाबू न मानने पर आगे कहता है कि "ना... बहू जी...मैं लछमन ना हूँ जो सीता कू बियाबान जंगल में छोड़ के वापस चला जाऊँ..."[3]

---

[1]. घुस पैठिए,ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.100

[2].सलाम,ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.37

[3]. सलाम,ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.101-102

'कुचक्र' कहानी में निशिकांत और आर.बी एक ही दफ्तर में काम करते थे। निशिकान्त हमेशा आर.बी को नीचा दिखाने की कोशिश करता था। एक बार निशिकान्त के घर में शोर सुनकर वहाँ गया, कुछ लोग उसे बुरी तरह से पीट रहे थे। आर.बी ने एक के साथ से हाकी स्चिक छीन ली और उनसे भिड़ गया। अचानक हमले से वे भाग खड़े हुए। निशिकान्त को काफी चोट आ गई थी। आर.बी. ने उसे जल्दी से अस्पताल ले गया।

'अम्मा' कहानी में जब अम्मा को पता चलता है कि उसका बेटा रिश्वत लेता है तो कहती कि "शिबु, आजकल तू जो करे है ठीक ना है...जो मैंने पता होता कि तू इस तरियो पैसा कमावे है तो मैं तेरे पैसे कू हात भी ना लगाती। तैन्ने पढ़ा-लिखा दिया ! तेरी साद्दी (शादी) कर दी...मेरा काम खत्म...अच्छा इनसान न बण सकी यो मेरा कसूर। कल से तू अपना चौका-चूल्हा अलग कर ले...मन्ने ना खाणी इस कमाई की रोटी। अलग रहके चाहे किसी ने लूट या मार...मेरे से कोई मतलब नहीं।"[1]

'मुंबई काण्ड' कहानी में मुंबई में डॉक्टर अंबेडकर की मूर्ति को अपमानित किया जाना और फिर अंबेडकर समर्थकों पर गोली चलाना यह सब सुनकर सुमेर को दुःख होता है। वह तय कर लेता है कि नगर में किसी मूर्ति को अपमानित करे। बाद में वह सोचता है कि "नहीं...यह रास्ता न बुद्ध का है और न ही अम्बेडकर का।" और आगे कहता है कि "मैं एक गुनाह का बदला दूसरे गुनह से नहीं लूँगा।"[2]

2.2.4.ऊँच नीच की अमानवीयता :

उच्च जातियों ने अत्याचार और शोषण से पीड़ित जनता पर जातिवाद और वर्ण व्यवस्था के क्रूर पंजों के शिकार विवश लोगों पर तो नाना प्रकार के जुल्म व अत्याचार ढ़ोते रहें, उन पर पाबंदियाँ लगाते रहें, अध्यादेश जारी करके उनकी धार्मिक आज़ादी तक छीन ली। दलितों के साथ जानवरों से भी बदतर सलूक किया गया, उन्हें जाति-पाँति, भेदभाव और छुआछूत का शिकार बनाया गया, उन्हें कुएँ तालाबों व मंदिरों में जाने तक की मना ही थी, उनके दूल्हों को घोड़े पर न चढ़ाया जाएँ, उनके

---

[1]. सलाम,ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.119-120

[2]. घुसपैठिये,ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.35

घर झोंपड़ियों, मकानों को जला कर राख कर दिया गया।

भारत में नीच पुकारे जाने वाले करोड़ों अछूतों की शताब्तियों पुरानी दासता और दुर्दशा को देख कर ही उर्दू के प्रसिद्ध कवि इकबाल ने इस प्रकार लिखा है कि- "आह शूद्र के लिए हिन्दुस्तां गमखाना है दर्दे इनसानी से इस बस्ती का दिल बेगाना है।"[1] प्राचीन काल में तो स्पृश्य-अस्पृश्य के भेद से दलितों को बहिष्कृता निस्सीम थी दलितों के स्पर्श से ही नहीं, बल्कि उनकी छाया से भी बच कर सवर्ण जाते थे ब्राह्मनों पर अपनी छाया न पड़ने का ख्याल उन्हें रखना पड़ता था।

बाबूराम बागुल कहते हैं कि "देवताओ, मंदिरों, ऋषियों का यह देश ! इसलिए क्या यहाँ सब कुछ अमर है। वर्ण अमर, जाति अमर, अस्पृश्यता अमर ! दीनता, दासता, दुःख और उपेक्षा भी अमर ? या फिर यहाँ के मनुष्य हजार वर्ष पहले के है ? सब के सब सैकड़ों साल की आयु के ? तब क्या ये यंत्र, ये तकनीक, ये कारखाने, ये रेलवे, ये वायुयान, ये प्रजातंत्र, ये समाजवाद, ये शहर, ये संघर्ष सब कुछ काल्पनिक है ? माया जाल है ! सच क्या है ? वर्ण व्यवस्था पुराण और ये देवी देवता या यह क्रांतिकारी युग ? युग के बाद आये। बड़े-बड़े चक्रवर्ती आये। उनकी सत्ता आयी। धर्म आये। संत आये। महाकवि आये। महापंडित आये। दार्शनिक आये। विदेशियों के आक्रमण आये। उनकी सत्ता आयी। फिर भी अस्पृश्यता, विषमता अमर है।"[2]

उच्च वर्ग होने के नाते अपने अहंकार को कायम रखने के लिए प्रस्थापितों ने स्वार्थ हेतु दूसरे मनुष्य को ही माना, उसे अपने से दूर रखा। दलितों को नीचे मानकर सदियों से शोषण करते आ रहे हैं और पूरी संपत्ति को अपने अधीन में लेकर दलितों को मानवाधिकारों से वंचित करके अभावपूर्ण जीवन जीने के लिए बाध्य किये हुए है।

सलाम कहानी में सदियों से चली आ रही 'सलाम' प्रथा को हरीश के पिता विरोध करते हैं। हरीश को 'सलाम' के लिए घर-घर जाना पसंद नहीं था। यह खबर पूरे गाँव में फैल गई थी। बल्लू रांघड उस गाँव का चौधरी था। वह बहुत नाराज हुआ क्योंकि हरीश सलाम पर उसके घर नहीं आया। हरीश कहता है कि "आप चाहे जो समझें...मैं इस रिवाज को आत्मविश्वास तोड़ने की साजिश मानता

---

[1]. प्रेमचंद के उपन्यासों में दलित चेतना, पृ.18

[2]. वसुधा,दलित साहित्य का विशेषांक,वर्ष-200,पृ.23

हूँ। यह 'सलाम' की रस्म बंद होनी चाहिए।"[1]

'सपना' कहानी में मंदिर बनाने के लिए ऋषि और गौतम श्रम करते हैं। मंदिर निर्माण पूरा होने के बाद नटराजन जो ब्राह्मण था गौतम को अपमानित करता है उसके विरोध में गौतम और ऋषि कहते है कि "वह गौतम को उठाने के पक्ष में नहीं है। यदि किसी ने ऐसी कोई हरकत की तो बुरा होग। अकेला गौतम नहीं और लोग भी बैठे हैं। किस-किस को उठाओगे"[2]

अम्मा कहानी में जब अम्मा सफाई के लिए मिसेज चोपड़ा के घर जाती है, वहाँ विनोद उस पर अत्याचार करने की कोशिश करता है, अम्मा उसका विरोध करती है। उसको झाड़ू से खूब पीटती है। अम्मा मिसेज चोपड़ा से कहती है कि "भैण जी इस हरामी के पिल्ले से कह देणा....हर एक औरत छिनाल न होवे है।"[3]

'घुस पैठिए' कहानी में मेडिकल कॉलेज के दलित विद्यार्थियों पर शोषण हो रहा था। वहाँ के विद्यार्थी की हत्या को आत्महत्या का चित्रण किया जाता है। विरोध में रमेश, राकेश भाग लेते हैं। "सोनेकर की जद्दो जहद राकेश की अपनी पीड़ा बन गई थी। उस ने एक गहरी साँस ली और झटके से उठकर खड़ा हो गया था। उसने तय कर लिया था। वह सोनकर की अंतिम यात्रा में शामिल ही नहीं होगा, उसे कंधा भी देगा।"[4]

'यह अमत नहीं' कहानी में बिरमा के साथ सचीन्दर अत्याचार करने की कोशिश करता है। बिरमा वहाँ से भाग कर घर आती है। किसन जो बिरमा का भाई उसका साथ देता है। पंचायत सचीन्दर को पाँच रूपए जुर्माना से छोड़ देते हैं। अंत में वे हारने पर भी सभी के चेहरे पर उम्मीद दिखाई दे रही थी। मां-पिता भी उसके साथ मिल गये थे, एक नई उम्मीद के साथ। "बिरमा ने इस ऊपरी सतह पर चोट की थी। यह जानते हुए भी कि उसकी चोट बेअसर होगी। दूसरों की तरह वह चुप नहीं रह पाई थी। शायद रह भी जाती, यदि उसने किसन और उसकी मित्र मंडली के बीच होनेवाली बहसें न

---

[1]. सलाम,ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.17

[2]. सलाम,ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.30

[3]. सलाम,ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.116

[4].घुस पैठिए, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.20

सुनी होती। इसी जद्दोहजहद ने उसके अन्तर्मन में विश्वास जगा दिया था।"[1]

'ब्रह्मास्त्र' कहानी में कंवल के पिता डाकरे में किराना की दुकान से सामान ले रहे थे उसी समय वहाँ पंडित माधव प्रसाद भट्ट आ गया था। पंडित ने कंवल के पिताजी को डोम कह कर एक ओर हटने के लिए कहा। पिताजी ने पैर से जूता निकाला और पंडित की ओर तान लिया था। पिताजी ने पंडित को काफी दूर तक दौड़ाया था "ठहर जा, डिकोत के बच्चे तुझे आज समझाता हूँ डोम किसे कहते हैं।"[2]

'जंगल की रानी' कहानी में सोमनाथ जो कमली की मौत के बारे में जानता है कि उसकी हत्या की गई वह पूरे आधार इकट्टा करके डिप्टी साहब का विरोध करना चाहता है आखिर में उसकी हत्या की जाती है।

2.2.5.समानता के लिए छटपटाहट :

'सपना' कहानी हिंदुओं में प्रचलित अपने लोग, अपने भगवान, वाली सोच को व्यंग्य के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है। इस परहेज़ और भेदभाव का विरोध एक सवर्ण द्वारा ही होता है। हिंदू धर्म की बहुदेववादी आस्थाओं की व्यंग्यात्मक प्रस्तुति के साथ दलितों के प्रति सवर्णों के भेदभाव को भी एक विशिष्ट संदर्भ में उजागर किया गया है। यहाँ भी दलितों के साथ किए जा रहे भेदभाव का प्रतिवाद एक सवर्ण ब्राह्मण ऋषिराज के द्वारा होता है जो आवेश में नाटकीय तरीके से मूर्ति के प्रतिष्ठा के लिए हो रहे सारे समारोह को अस्त-व्यस्त कर देता है।

इस कहानी में गौतम दलित है। मंदिर के निर्माण में पूरा काम उसी के हाथ किया गया। मंदिर बनने के बाद गौतम को पंडाल से बाहर निकलने के लिए कहते हैं। जब वह इन्कार करता है तो मंदिर में शोर मचाता है। नटराजन जो सवर्ण है, गौतम से बाहर जाने के लिए कहता है। नटराजन कहता है कि "ऋषि तुम तो समझदार और पढ़े-लिखे आदमी हो...वह गौतम वहाँ बैठा है। सबसे आगे, तुम जानते

---

[1]. घुस पैठिए, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.21

[2]. घुस पैठिए, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.85

हो गौतम एस.सी .है।"[1]

ऋषि ब्राह्मण हो कर भी गौतम का साथ देता है और नटराजन की बातों का विरोध करता है। नटराजन पूजा की शुरुआत कर देता है। ऋषि लोगों से कुछ कहना चाहता है, लेकिन जय जयकार की आवाज़ में कुछ कहा नहीं पाया। अंत में वही होता है, जो अक्सर होता है। ऋषि और गौतम को दंगा और तोड़ करने के आरोप में पुलिस गिरफ्तार कर लेते हैं।

डॉ.लोहीया जी वर्तमान समय में किसी भी अंधविश्वास रूढ़ी परम्पराओं को त्याग कर भेदभावना को दूर करके मानवअधिकारों के बारें बताते है- "सबसे पहले यह निर्णय कर लेना चाहिए कि सब इंसान समान हैं तथा न तो जन्म से कोई निम्न पैदा हुआ और न कार्य विभाजन से अर्थात एक आदमी गरीब घर में पैदा हो गया हैं इसलिए जीवनभर मैला साप करेगा और दुनिया में किसी तरह के विकास का काम पाने का उसे कोई हक्क नही हैं ये बाते फिजुल हैं। इस तरह हमारे पुर्वज आर्यों ने इनके साथ वैसा अन्याय पूर्ण व्यवहार किया। तथा उन्हें नीच कहकर दुत्कार दिया एवं निम्न कोटी के कार्य करवाने लगे। साथ ही यह भी चिंता हुई कहीं ये विद्रोह न कर दे तब पुनर्जन्म के दर्शन का प्रचार कर दिया कि यह तुम्हारे पूर्व जन्म के पापों का फल है अब क्या हो सकता हैं। चुपचाप दिन गुजारों। इस तरह उन्हें धैर्य का उपदेश देकर वे लोग उन्हें लम्बे समय के लिए शांत कर दिये, लेकन उन्होंने बड़ा पाप किया मानव के भीतर के मानवीयता को समाप्त कर दिया। आत्मविश्वास एवं स्वावलंबन न की स्वावलंबन की भावनाओं को समाप्त कर दिया।"[2]

जीवन में जीना है तो किसी तरह का भेदबाव नही होना चाहिए तभी हमारी उन्नति होगी इसी को डॉ.अम्बेड़कर कहते है- "हमें अपने विचारों को सुसंसकृत करना चाहिए हमारी आवाज में शक्ति हो, हमारी बात में शक्ति हो, हमारी बात में वजन होना चाहिए। हमें अपने में से ऊँच नीच और छोटे बड़े का भेदभाव शीघ्र समाप्त करना चाहिए। हमारी उन्नति तभी हो सकती है, यदि हम अपने में स्वाभिमान की भावना उत्पन्न करे और हम स्वयं को पहचाने।"[3]

---

[1]. सलाम, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.29

[2]. दलित साहित्य वार्षिकी 2002,डॉ.जयप्रकाश कर्दम-प.19

[3]. तलाश, डॉ.जयप्रकाश कर्दम, प.31

2.2.6.सामंती परिवेश व रूढ़िवादी मानसिकता :

गँवई-गाँव के सामंती परिवेश में सदियों की रूढ़ मानसिक आक्रांत पंचों-सरपंचों द्वारा हो रहे दलित उत्पीड़न को निहायत अमानवीय और बर्बर संदर्भ में उजागर करती है। निर्दोष दलित पर अकारण गोहत्या का पाप पढ़ कर हलकी दहकली फ़ॉल उठाकर उसे चलने के लिए मजबूर किया जाता है। यह कहानी वर्ण दंभियों के हिंस आचरण को बेनक्क़ाब करती है।

'गोहत्या' कहानी में गाय की मरने की ख़बर पूरे गाँव में आग की तरह फैल गई। "गोहत्या...पंडित रामसरन का मुँह आस्चर्य से खुला रह गया।" मुखिया कहा, "पंडित, ये साले नीच लोग नीच ही रहेंगे। उनकी ही करामात है यह। इस गाँव में दीन-ईमान तो अब रह ही नहीं गया है। आज गोहत्या हुई है, कल किसी बच्चे की हत्या होगी। मैं भी ठाकुर की औलाद हूँ...हाथ ना काट दिए तो... "[1]

'सुक्का' मुखिया का नौकर था। खेत खलिहान से लेकर घर बाहर के सभी काम 'सुक्का' पूरी तन्मयता से करता था। मुखिया जी की किसी भी बात का विरोध नहीं किया। ब्याह के बाद उसमें बदलाव आया। दुल्हन को ऐसे सहेजकर रखता था, जैसे कोई बेशकीमती हीरा अचानक उसकी झोली में आ गिरा हो। मुखिया एक दिन कहा "सुक्का तेरी लुगायी को आए दो महीने हो गए हैं और वह अभी तक हवेली में नहीं आई।" सुक्का कहा "मुखिया जी काम करता हूँ तो मुट्ठी चावल देते हो...वह हवेली नहीं आएगी।"[2] कह कर वह हवेली से बाहर हो गया।

उस दिन का घाव आज अचानक तेज हो उठा। सब ने मिलकर षड़यंत्र रचा और सुक्का फस गया। बेकसूर होते हुए भी इनका शिकार बनना पड़ा।

ब्राह्मणवादी सोच के बारे में बताते हुए डॉ.अम्बेडकर कहते है- " दलित होना कितना कष्टकारी है इसे एक दलित मनुष्य ही समझ सकता है। यहा ब्राह्मणवादी सोच का समाज दलित मनुष्य को जीवन के हर कदम पर अपमानित, तिरस्कृत, करता है। लेखक के सांस में जीवंतता को यथार्थवादी शैली में प्रस्तुत किया है वह कहता है कि जीवंतता केवल मौजमस्ती की चीज नही है वह तो हर उस व्यक्ति

---

[1]. सलाम, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.57

[2]. सलाम, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.58-59

के लिए चुनौति है जो उसे अपने अंदर समाहित करता है मजेदार बात यह है कि उस चुनौति की जाल में हमेशा दलित स्त्री असहाय गरीब ही फसता है कभी कोई धनाढ़य व्यक्ति वर्ग नही सिर बैठा महाकाल है तो यह महाकाल और कोई नही बल्की प्राचीन काल से चला आ रहा ब्राह्मणवादी सोच का पोषक उज्जैन का महाकाल का मंदिर है।"[1]

2.2.7. दलित बनाम वस्तु :

'ग्रहण और बिरमा की बहू' ये दोनों आपस में जुड़ी कहानियाँ हैं। ग्रहण में चंद्र ग्रहण के अवसर पर भंगी समाज को सवर्णों द्वारा दिए जाने वाले परंपरागत दान की चली आ रही प्रथा को निहायत यथार्थ संदर्भों में प्रस्तुत किया गया है। परंतु कहानी चंद्र ग्रहण के इस संदर्भ को एक दूसरे, बड़े और महत्वपूर्ण प्रसंग से जोड़ने के नाते अपने आशयों में अधिक व्यंजक हो उठती है। चंद्र ग्रहण निमित्त बनता है। चौधरी के बेटे बिरम की बहू के लिए बाँझ कहलाने के अपने कलंक को धोने का, जिसे वह अकारण लंबे समय से ढ़ो रही थी।

भंगियों की टोली में चंद्र ग्रहण का दान माँगता रमेसर जब उससे मुख़ातिब होता है, निपट अकेले होने के इस अप्रत्याशित क्षण में उसकी सारी चेतना अपने इस कलंक पर केंद्रित हो जाती है और वह रमेसर को अपने बाहों में खींच कर इस कदर हतचेतन कर देती है कि उसका इच्छित उसे मिल जाय। उसकी कोख में रमेसर का बीज पड़ जाता है। महज़ संयोग से पाया यह क्षण बहू ओर रमेसर दोनों के जीवन में अमिट बन कर अंकित हो जाता है।

बहू अब बाँझपन के कलंक से मुक्त थी और रमेसर मन में उठते झंझावत की चपेट में हलकान ओर परेशान। चौधरी का घर खुशियों से भर उठता है। बहू अपने अंतर्मन में रमेसर के प्रति कृतज्ञ थी, परंतु वह उसकी छाया से भी इतनी दूर हो जाना चाहरही थी कि रमेसर उसकी दुनिया में अब कभी दुबारा न लौट पाए। वह जानती थी कि रहस्य का उभरना रमेसर के लिए ही नहीं, उसकी समूची बिरादरी के लिए क्रुहर बन सकता है। रमेसर ज़रूर बहु को एक बार देखना ओर उसकी आँखों में कुछ पढ़ना चाहता है, परंतु बहु अब उसके लिए सपना थी। पूचा के लिए औरतों के झुंड से घिरी बहु को वह एक बार मंदिर जाते हुए देखता है और चाहता है कि उसकी ओर बहु की आँखें चाहें, परंतु बहु सिर झुका

[1]. तलाश, डॉ.जयप्रकाश कर्दम, प.112

कर आगे बढ़ जाती है। वह उसके वापस होने का इंतजार करता है। परंतु इस बार भी बहु आँखें नीची किए उसके सामने से निकल जाती है। रमेसर ठगा-सा उसे देखता रहता है। कहानी इसी बिंदु पर समाप्त हो जाती है।

कहानी, एक संयोग पर आधारित है जो उसे दलित जीवन से जोड़ देता है। बहु की कोख किसी दूसरे आदमी के ज़रिये भी हो सकती थी, जैसा कि हमारे समाज में घर परिवरों में बाँझपन का कलंक ढ़ोते निर्दोष औरतों के संदर्भ में होता रहता है और होता है। पुरुष वर्चस्व वाले समाज में यह नारी की नियति है जिसे उसे अनचाहे ढ़ोना पड़ता है और कलंक से मुक्ति के लिए अनचाहे रास्तों पर जाने के लिए विवश होना पड़ता है। परंतु कहानी दलित जीवन के संदर्भ से जुड़े या न जुड़े, हमारे समज की एक ऐसी विसंगति से हमें ज़रूर रूबरू करती है जिसका तब तक कोई अंत नहीं जब तक उससे जुड़ी सोच निर्मूल नहीं होती। बहरहाल, कहानी को रमेसर की मनोव्यथा से जोड़ते हुए बिना किसी बड़बोलेपन के, एक निहायत शांत लय में विराम दिया गया है, जो दूर तक पाठक के मन में धीमे धीमे बजती ओर गूँजती रहती है।

2.2.8.दलित जाति में पैदा होने से उपजी हीनता ग्रंथि :

'अंधड़' कहानी दलित जाति में पैदा होने से उपजी हीनता ग्रंथि, फलतः जाति छिपा कर समाज में संभावित जीवन जीने का छद्म पालने वाले उन लोगों की मानसिकता पर गहरा कटाक्ष करती है जो इस छद्म को वास्तविक मानकर पुराने जीवन की याद तक को गुनाह समझते हैं। सुक्कडलाल से एस.लाल बने श्रीलाल, ऐसे लोगों के ही प्रतिनिधि हैं। देश के जाने माने वैज्ञानिक बन कर अपने छद्म उच्च मध्यवर्गीय जीवन की रंगीनियों में इतना रम गए हैं कि उस जिंदगी की याद से भी उन्हें रोमांच होता है, जो कर्म उनका हिस्सा था। शुरुआती दौर में उनकी पत्नी से ज़रूर उन्हें झंझोड़ना चाहा था। परंतु पुरुष मानसिकता और उनके हठी स्वभाव से हार कर अंततः उसे स्थिति से समझौता करना पड़ा था। विवाह के उपरांत वह कभी अपने माँ-बाप के नहीं गई, और न ही कभी वहाँ जाने का नाम भी लिया। पब्लिक स्कूल में पढ़ रहे बेटे स्वीट और बेटी पिंकी को तो अपने मूल की भान भी नहीं लगने दिया था उन्होंने।

कहानी प्रारंभ होती है, मि.लाल की पत्नी सविता को अपनी चचेरी बहन की लिखी उस चिट्ठी से, जिसमें उसे अपने पिता दीपचंद की मृत्यु का समाचार मिला था। उन्हीं दीपचंद ने सुक्कड लाल को पढ़ाया लिखाया था, जिसके चलते वे मि.लाल बन सके। इन्हों ने उनका विवाह सविता से कराया था, और इन्हीं को मि.लाल अपनी स्मृतियों से पूरी तरह निकाल चुके थे। बड़े अन्यमनस्क भाव से सविता पति को वह चिट्ठी दिखाती है। उसे आश्चर्य होता है कि पुराने जीवन को एकदम भूल चुके मि.लाल न केवल समाचार से मर्माहत होते हैं, वे देहरादून जाकर दीपचंद के परिवार जनों से मिलकर उनके दुःख में सहभागी बनने की बात भी करते हैं।

सविता अपनी मनोव्यथा और मि.लाल के पुराने व्यवहार के चलते खुद देहरादून जाने से इन्कार करती है। अप्रत्यनशील रूप से अपनी किशोरी बेटी पिंकी को लेकर मि.लाल देहरादून जाते हैं। जिस दुनिया से पिंकी का कोई परिचय नहीं था वह उस दुनिया में प्रवेश करती है। उसे यह पता चलता है कि यह उसी की दुनिया है ओर जिन लोगों के सामने वह है, वे उसी के मामा, नाना आदि हैं। बड़ी तल्ख प्रतिक्रिया उसमें होती है ओर वह उस दुनिया से एकदम बाहर निकलना चाहती है। पिंकी की प्रतिक्रिया को स्वाभाविक मान कर मि.लाल उसे समझाते हैं और उन्हें आश्चर्य होता है कि पिंकी न केवल उसकी बात समझ जाती है, अपने पिता को लांछित भी करती है कि अब तक उन्होंने उसे अंधेरे में क्यों रखा और अपने लोगों के प्रति वे इतने निर्मम और उदासीन क्यों रहे? पिंकी की सोच का यह बदलाव मि.लाल के लिए सुखद आश्चर्य बनता है। पिंकी अपनी सही दुनिया में रहने और जीने की मानसिकता पा चुकी थी। कहानी इसी बिंदु पर समाप्त होती है।

हिन्दु समाज आज भी जाती को महत्व देता रहा इसी बात पर डॉ.अम्बेड़कर कहते है कि- "जाति ने जन चेतना को मार दिया हैं। जाति ने जन कल्याण को पुरी तरह नष्ट कर दिया है। जाति ने जन जागर को असम्भव बना दिया एक हिन्दू के लिए उसकी जनता इसकी अपनी जाति है। उसकी जिम्मेदारी केवल अपनी जाति के लिए है। उस की वफादारी उस की अपनी जाति तक सीमित है। उसके गुण जातीय-गुण हो गए है उसके शील उसके जातिय शील बनकर रह गए है। उसमें जरूरत मन्दों के लिए कोई सहानुभूति नहीं। जाति में योग्यता और गुण का कोई स्थान नही है गरीबों के सहायता की भावना नहीं है। जाति में किसी के दुःखों की कोई चिंता नही हैं। यदि दान और सहायता की भावना नहीं है तो वह जाति से शुरू होती है और जाति में ही समाप्त हो जाती है।'[1]

---

[1]. दलित साहित्य वार्षिकी 2004, डॉ.जयप्रकाश कर्दम-पृ.108

2.2.9.मध्यवर्गीय सवर्ण मानसिकता का वर्णन :

'कुचक्र' कहानी सवर्ण परिवारों के दोगले चरित्र और दो मुँहेपन की कहानी है। निशिकांत ने अस्पताल में डॉक्टर और वि.के की उपस्थिति में बयान दिया था। "आर.बी ने उसके घर में घुसकर उससे मारपीट की । उसकी जान लेने की कोशिश की।"[1]

आर.बी.को आखिरी चेतावनी देते हुए इंस्पेक्टर ने बोला, "मि.आर.बी. सच क्या है...साफ-साफ कह दो...वरना सच्चाई उगलवाने में देर नहीं लगेगी।"[2]

इंस्पेक्टर आर.बी. के बालों को पकड़ कर झटका देता है। आर.बी.दर्द से छटपटा गया। इंस्पेक्टर उसे धक्का देकर सामने की अंधेरी कोठरी में बंद करके बाहर से ताला लगा देता है और कहता है कि "यहाँ आराम करो... कल देखेंगे...तुम साले पढ़े-लिखे लोग शराफत की भाषा नहीं जानते। पुलिस के डंडे जब चूतड़ों पर पड़ेंगे सारी सच्चाई सामने आ जाएगी।"[3] आर.बी. जोहन में पिछले दिनों से घटित घटना क्रम सामने आने लगा।

आर.बी. निशिकांत एक ही सेक्शन में कार्यरत थे। आरक्षण से होने वाले प्रमोशन और अनुसूचित जाति के कर्मचारियों को अन्यायपूर्ण लगते थे। जब हेड क्वार्टर से आने वाली प्रमोशन सूची में आर.बी. का नाम भी है, दफ्तर में मातम-सा छा गया है।

शुरू शुरू में आर.बी. की समझ में उस बदलाव का कारण नहीं आ रहा था। आर.बी. की गैर मौजूदगी में निशिकांत सेक्शन प्रभारी शर्मा से शिकायती लहज़े में कह रहा था, "शर्मा जी, आपने यह काम मुझे क्यों दे दिया...आर.बी. को दीजिए...अब तो उसकी प्रोमोशन आने वाली है।" शर्मा ने कहा अभी तो सिर्फ अफवाह है...पता नहीं हेडक्वार्टर में लिस्ट बनी भी है या नहीं ....तुम लोगों ने उस पुड़ियाबाज कुंडु की बात पर यकीन कर लिया...यह तो उसकी आदत है, जब भी हेडक्वार्टर जाता है, कोई-न-कोई शागूफा लाकर छोड़ देता है।"[4] शर्माजी ने सामान्य ढ़ंग से कहा।

---

[1]. सलाम, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.103

[2]. सलाम, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.103

[3].सलाम, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.104

[4]. सलाम, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.104-105

आखिर हुआ जिसका आर.बी. को डर था। तमाम सावधानियों के बावजूद वि.के. ने उसकी ए,सी.आर (वार्षिक गोपनीय रिपोर्ट) ख़राब कर थी। पत्र लेकर वह वि.के. के पास पहुँचा। "आर.बी आप शांति से बैठकर बात कीजिए...इस ए.सी.आर. का आप के प्रोमोशन पर कोई फर्क नहीं पड़ेगा...मैंने जी .एम. से बात कर ली है।"[1] वी.के ने सफाई देने की कोशिश की।

इस बीच कॉलोनी में एक घटना घट गई। निशिकांत के घर के ठीक सामने पंप हाउस था। निशिकांत की लड़की पंप अटेंडेंट से फँस गई थी। निशिकांत को कुछ समय से लड़की के रंग-ढ़ंग पर शक होने लगा था। एक दिन उसने लड़की और अटेंडेंट को देख लिया। लड़की को दो तीन झापड़ लगाए। पंप अटेंडेंट मजबूद क्रुदकाठी का जवान था। निशिकांत से हाथ पाई पर उतर आया। रात के लगभग दस बजे पंप अटेंडेंट तीन साथियों के साथ निशिकांत के क्वार्टर में घुस आया और निशिकांत की जमकर पिटाई कर दी। आस पड़ोस कोई भी बाहर नहीं निकला। निशिकान्त को उस हाल में देख कर आर.बी. वहाँ पहुँचा और अस्पताल ले गया। वी.के. भी अस्पताल गया। दोनों मिल कर आर.बी. को अपने जाल में फँसा लिया।

2.2.10.किराए पर मकान केलिए जाति का पता जरूरी है :

आज भी अस्पृश्यता के कारण गाँव में दलितों की बस्तियाँ अलग रखी जाती है। इसी प्रकार यह एक सदियुग से पहचान को मिटाने के लिए डॉ.अम्बेड़कर कहते है- "स्वीकार्यतः भारत गावों में बसा है और जबतक ग्राम्य प्रणाली में अछुतों कि पहचान करके उसके साथ अलग किस्म का सौतेला व्यवहार किया जाएगा तब तक अछूतों को अस्पृष्यता से छुटकारा नहीं मिलेगा। गाँव और गैहटो प्रणाली के कारण ही आज अस्पृश्यता प्रचलन में है इसलिए अछूत जो कि वस्तुतः सामाजिक रूप से एक जाति है, भौगोलिक रूप से और क्षेत्रीय रूप से भी उनको ऐसे गावों में बसाया जाए जो केवल अछूतों के लिए हो। इनमें ऊंच-नीच और अछूत का भेदभाव नहीं पाया जायेगा।"[2]

'कूड़ा घर' कहानी में अजब सिंह आरक्षण रैली में दिल्ली जाने के लिए कार्यकर्ताओं को जुटाता है। कृष्ण राज के भाषणों ने उसके मन में एक उम्मीद जगा दी। कृष्ण राज ने राजधानी में रैली का

---

[1]. सलाम, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.110

[2]. जाति एक विमर्श, डॉ.जयप्रकाश कर्दम -पृ.114

आयोजन किया था। कृष्णराज नया-नया उदय हुआ था इस क्षेत्र में। कृष्णराज की तक़रीर के बाद सब अपने-अपने नगर, कस्बों की ओर लौट गए थे। अजब सिंह भी अड्डे की ओर चल दिया था। उसने सुबह से कुछ खाया नहीं।

दिल्ली से बस चढ़ कर अजित सिंह देहरादून पहुँचा। वह रास्ते पर चल रहा था। चौहारे के पास कूड़ा घर के निकट से गुज़रते हुए उसे लगा जैसे उसका दम घुट जाएगा। उसने मुँह पर रुमाल रखकर दौड़ने का प्रयास किया। लेकिन बदबू उसके भीतर घुस गई थी। बदबू तो उसके रोम-रोम में भर गई थी। जिसके कारण वह चल भी नहीं पा रहा था। वह सड़क के किनारे बैठ गया था। जब वह घर पहुँचा तो घर की बत्ती जलती देख कर उसे लगा सुमित्रा जग रही है।

सुमित्रा कुछ सोच नहीं पा रही थी, बात कहाँ से और कैसे शुरू करे। "डॉक्टर साहब और उनकी घरवाली ने मकान ख़ाली करने को कहा है।" "लेकिन अचानक बात क्या हो गई? दो दिन पहले तक तो उनका क्या अच्छा था।"[1] अजब सिंह शंका जताई। कुछ देर के बाद उसने कहा था "हमें खुद उन्हें अपनी जात बताना चाहिए था कि हम चूहडे चमार हैं। क्या आप हमें मकान किराए पर देंगे....इनकी ऐसी तैसी। देखता हूँ मैं भी...."[2] टीचर हो गया था। स्कूल के बाहर कल तक वह आरक्षण समर्थक था। नौकरी पाते ही विरोधी बन गया था जबकि वह बच्चा यह भी नहीं जानता था कि आरक्षण होता क्या है। उसे अपने कार्यालय में होने वाली साजिश व्यथित कर गई थी, जहाँ संवैधानिक नियमों को खुल्लम खुल्ला नाक पर रख कर नए पदों की नियुक्तियों में धाँधलियाँ हो रही थीं। सामान्य श्रेणी के अभ्यार्थी छः महीने पहले ज्वाइन कर रहे थे और आरक्षित छः महीने बाद। जबकि दोनों को एक ही दिन ज्वाइन करने के आदेश थे। लेकिन आरक्षित अभ्यार्थियों को बाद में पत्र भेजे जा रहे थे। यानी सीधे दलित अभ्यार्थी को छः महीने की तनख़्वाह नहीं देना।

वह घर पहुँच। घर जाने पर पता चला कि घर वालों ने मकान ख़ाली करने के लिए कहा उसकी पत्नी ने बताई। "बस अचानक आए और कहने लगे.... मकान ख़ाली कर दो ... तुम लोगों ने मकान

[1].घुस पैठिए,ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.57

[2].घुस पैठिए,ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.57

किराए पर लेते समय यह नहीं बताया था कि तुम लोग एस. सी.हो।"[1]

अजब सिंह को पहले गुस्सा आया, बाद में वह सोचने लगा कि जहाँ भी मकान देखने जाएँगे यह सवाल मुँह चिढ़ाता ही रहेगा। जब तक उसकी जाति का आभास नहीं हुआ था, डॉक्टर साहब का परिवार उनके साथ घुलमिल कर रह रहा था जाति की ख़बर लगते ही सब कुछ गड़बड़ा गया था। अजब सिंह और उसकी पत्नी ने कभी ऐसा प्रयास भी नहीं किया था जिससे यह लगे कि वे जाति छिपाकर रह रहे थे। उसे लग रहा था जैसे एक विशाल कूड़ा घर में वह मकान ढूँढ़ रहा है जहाँ वह ठीक साँस ले सके।

2.2.11.जाति के नाम पर अपमानित करना :

'जाति' शब्द 'जन् जनने' अथवा 'जनी प्रादुभवि' धातु में कितने प्रत्यय का योग करने पर निष्पन्न होता है। योग दर्शन में कहा गया हैं कि अविधा आदि क्लेश ही जिसकी जड़ के तुल्य है; ऐसे कर्माशय रूपी वृक्ष के तीन फल फल होते है।"[2]

न्याय सिद्धांत मुक्तावली में कहा गया है कि जाति उसे कहते हैं जो नित्य है और अपनी तरह की समस्त वस्तुओं में समवाय-सम्बन्ध से विद्यमान है। अष्टाध्यायों के वार्तिक कार कात्यायन का मत है कि "जाति वह हैं, जो आकृति के द्वारा पहचान ली जाएँ, सभी लिंगों में अपरिवर्तित रहे और एक बार के बतलाने से ही उसका ज्ञान हो जाएँ। महाभाष्यकार पतंजलि के मत से जाति वह है, जो जन्म से प्राप्त होती है।"[3]

सुप्रसिध्द मार्क्सवादी आलोचक डॉ.मैनेजर पाण्डेय ने अपने एक लेख 'क्या आपने वज्र सूची का नाम सुना है?' में लिखा है कि "जाति प्रथा का मूल आधार है जन्य का भेद, वैसे जाति का मूल अर्थ भी जन्म ही है, लेकिन जन्म से जाति के संबंध की स्थिति सरल-सीधी नहीं है, उसमें अनेक पेंच हैं।" आगे अश्वघोष का हवाला देते हुए उन्होंने लिखा है कि "अश्वघोष ने जन्म से जाति के संबंध की जटिलताओं का विवेचन करते हुए जाति भेद के जन्म संबंधी आधार को ध्वस्त किया है। वे कहते है

---

[1]. घुस पैठिए,ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.57

[2]. धर्म और दर्शन-पृ.63

[3]. धर्म और दर्शन -पृ.63

कि पुराने ऋषियों में से किसी का जन्म हाथी से, किसी का कुश से, किसी का घोड़े से, किसी का पक्षी से और किसी का शुध्द स्त्री से हुआ, माना जाता है, वे सभी ब्राह्मण स्वीकार किये गये, ऐसी स्थिति में जन्म को जाति का आधार मानना व्यर्थ है। इस के बाद वे उस समय के भारतीय समाज में फैली वर्ण संकरता की वास्तविकता का उल्लेख करते हुए जन्म से किसी को ब्राह्मण और किसी को शूद्र मानने का विरोध करते है।"[1] ऐसे तो डॉ.अम्बेडकर ने किसी एक व्यक्ति को जाति-व्यवस्था के निर्माण करने का दोषी नहीं ठहराया पर मनु और उसकी स्मृति को जाति-व्यवस्था का सबसे महा भयंकर समर्थक माना है। उनका जाति व्यवस्था की व्युत्पत्ति को लेकर मत है कि पुरोहित वर्ग ने अन्य समाज से अपने को अलग किया और बंद दरवाजे की नीति को अपना कर उसने अपनी जाति का निर्माण सबसे पहले किया। मतलब सबसे पहले पुरोहितों या ब्राह्मणों का वर्ग बना। बाद में अन्य वर्णों तथा जाति की व्युत्पत्ति शुरू हुई। ब्राह्मणों के अनुसरण बाकी लोग करने लगे। यहीं से जाति व्युत्पन्न होने की प्रक्रिया शुरू हुई और वही प्रक्रिया आज भी हिन्दू समाज में न्यायशास्त्र सम्मत मानी जाती है। जिसका फल हिन्दू समाज को ही नहीं बल्कि सारे भारतीय समाज को भोगना पड़ रहा है।

1920 में उन्होंने जब 'मूकनायक' पत्रिका का प्रकाशन किया था तो प्रवेशांक में ही काव्यात्मक शैली में जातीय भेदभाव पूर्ण स्थिति का इन शब्दों में वर्णन किया था "हिन्दुस्तान देश केवल विषमता का आश्रय स्थान है। हिन्दू समाज उसकी एक मीनार है और एकेक जाति उसकी एकेक मंजिल है। लेकिन ध्यान में रखने की बात यह है कि इस मीनार में सीढ़ी नहीं लगी है। एक मंजिल से दूसरी मंजिल तक जाने केलिए उसमें मार्ग नहीं रखा गया है। जिस मंजिल में जो जन्मे, उसी मंजिल में वह मरे। नीचे की मंजिल में जन्मा व्यक्ति, चाहे कितना ही लायक क्यों न हो, उसे ऊपर वाली मंजिल में प्रवेश नहीं और ऊपर की मंजिल में जन्मा व्यक्ति, चाहे वह कितना भी नालायक क्यों न हो, उसे भी मंजिल से ढ़केलने का साहस का ही रूप हैं, ऐसा कहने वाले स्वधर्मियों का अशौच मानते हैं।"[2]

जाति व्यवस्था के संबंध में डॉ.अम्बेडकर का यह अपना सिध्दांत है। उसी प्रकार जाति व्यवस्था की व्युत्पत्ति की आर्थिक व्याख्या भी कुछ लोगों ने की है। जिसका संबंध कार्लमार्क्स की इतिहास की

---

[1]. हंस-अगस्त-1993,पृ.11

[2].साहित्य और दलित चेतना -पृ.143

भौतिक-वादी एवं आर्थिक व्याख्या से है। जवाहर लाल नेहरू भी जाति-व्यवस्था की व्युत्पत्ति को इसी आर्थिक व्याख्या का समर्थन करते थे। मतलब यह कि वे जाति व्यवस्था को एक समस्या मानते थे।

'ब्रह्मास्त्र' कहानी में अरविंद ब्राह्मण था। और कंवल दलित। अरविंद बेचैनी और कंवल दोनों गहरे दोस्त थे। अरविंद की शादी पक्की होते ही सबसे पहले कंवल को ख़बर देते उसके घर आया था। कार्ड छपकर आ गए थे। अरविंद स्वयं आया था, कंवल को कार्ड देने।

कंवल बारात में आने के लिए पंडित माधव प्रसाद भट्ट ने इन्कार करता है और अरविंद के पापाजी को धमकी देता है कि वह शादी में नहीं आएगा। ब्राह्मण के बगैर तो शादी नहीं चल सकती। इससे अरविंद के पिता डर गए और अरविंद के पास गए। पंडित जी ने कितना भी समझाओ वह समझता नहीं।

अरविंद के पापा ने अरविंद से कहा कि- "अरविंद एक बहुत बड़ी गड़बड़ हो गई है, कंवल को लेकर पंडित जी ने बखेड़ा कर दिया है, पंडित का कहना है कि बारात में कोई डोम चमार नहीं आएगा।"

"लेकिन पापा केवल मेरा सबसे अच्छा दोस्त है.... हमारे बीच जात- पाँत कभी नहीं आई ... मैं उसे इस तरह घर बुलाकर बेइज़्ज़त नहीं कर सकता।" अरविंद अपने भीतर उठते विश्वास को व्यक्त किया।

"अब तुम्हीं बताओ, पंडितजी जिद्द पर अड़े हैं ... कह रहे हैं वह जाएगा तो मैं नहीं जाऊँगा ....बेटा अगर हमने पंडित की बात नहीं रखी तो जात बिरादरी हम पर थूकेगी"

अरविंद का चेहरा गुस्से में तमतमा उठा ठीक है आप अपनी जात बिरादरी को खुश करने के लिए कंवल को धक्के देकर भगा दीजिए। कहिए कि तुम इसलिए बारात में जाने के लायक नहीं हो क्यों कि तुम भंगी हों।"

"बेटा यह वक्त गुस्सा दिखाने का नहीं ... मामले को रफ़ा दफ़ा करने का है। दस लोग दरवाज़े पर खड़े हैं ... तमाशा बन जाएगा।"[1] पापा ने अरविंद के गुस्से को पूरी तरह से कुचल दिया था

[1].घुस पैठिए, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.86

"तो बताइए मैं क्या करूँ....शादी मेरी है....पहले मैं अपने दोस्तों को घर बुलाऊँ और फिर समाज के भय से उन्हें अपमानित करके घर से भगा दूँ....यही चाहते हैं आप।"[1]

नहीं अरविंद, तुम कंवल को समझा बुझाकर विदा करो ... मैं हाथ जोड़ता हूँ ... पंडित जी को नाराज़ करना हमारे हित में नहीं है .... इस बात को समझो" पापा ने लगभग रिरियाते हुए कहा।

अरविंद को लगा जैसे वह एकदम ज़मीन में गढ़ने लगा है। उसका उत्साह और उमंग ठंडा पड़ गया था। उसने अपनी बहन को आवाज़ देकर कंवल को बुलाने के लिए कहा। "कंवल मुझे माफ़ कर देना .... यहाँ कुछ नहीं हो सकता है .... सड़ चुका है यह सब कुछ ...."[2] अरविंद अपनी बात पूरी कर नहीं पाया .... फफक पड़ा था।

2.3. ओमप्रकाश वाल्मीकि की कहानियों में आर्थिक चित्रण :

आर्थिक आधार एक मजबूत आधार होता है परन्तु आर्थिक आधार के मूल में भी सामाजिक आधार है। क्योंकि अभी-भी पेशा जाति के साथ जुड़ा हुआ है। डॉ.बी.आर.अम्बेडकर ने कहा है कि- "तुम किसी भी दिशा में जाओ जातिवाद के राक्षस से तुम्हें दो-दो हाथ करने ही पड़ेंगे। जब तक इस राक्षस को नहीं मारोगे तब तक कोई भी राजनैतिक और आर्थिक परिवर्तन नहीं ला सकोगे"[3] जातिवाद के राक्षस को तभी मारा जा सकता है जब सत्ता और अर्थ तक आम दलित पहुँच जाएगा। जब दलित वर्ग समर्थ होगा। तभी जातिवाद से दो-दो हाथ कर सकेगा। समर्थ बनने के लिए आर्थिक और राजनैतिक क्षेत्र में हो रहे शोषण के विरुद्ध आवाज बुलन्द करनी होगी।

2.3.1.असमानताएँ एवं निर्योग्यताएँ :

दलित जो है मैला उठाने, मल-मूत्र साफ करने, पशुओं की खाल निकालेने चमड़ा रंगने और सुअर पालने का काम करते हैं। एक कहावत है कि अनपढ़ व्यक्ति को निरा बैल समझा, उसे चाहे जैसे हांक लो। दलितों पर यह कहावत बिल्कुल सटीक बैठती है। सवर्ण दलितों को निम्न दृष्टि से देखते

---

[1]. घुस पैठिए, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.93

[2]. घुस पैठिए, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.87

[3]. बीसवीं सदी की हिन्दी दलित कविता, रमेशचन्द्र चतुर्वेदी, पृ.132

हैं। दिन भर काम करने पर भी उन को दो वक्त की रोटी मिलना मुश्किल है। इन्हें पराधीनता, परवशता, सामाजिक, सांस्कृतिक निर्योग्यताओं तथा अमानवीय शोषण का शिकार बना दिया गया। आर्थिक क्षेत्र में दलित अनेकानेक आर्थिक अभावों से त्रस्त थे, राजनीतिक अधिकारों से पूर्णतः वंचित थे। शैक्षिक क्षेत्र में उनके अधिकार स्पष्टतः निषिद्ध थे तथा सार्वजनिक जीवन में वे एक दास के रूप में जीवन व्यतीत करने को बाध्य थे। तत्कालीन धर्म ग्रंथों ने इन्हें अधः पतन के गर्त में गिरा दिया था। क्योंकि शूद्रलोग इन असमानताओं एवं निर्योग्यताओं से पहले से ही अभिभूत नहीं थे अपितु निर्योग्यताएँ तत्कालीन हिन्दू धर्म ग्रन्थों में वर्णित व्यवस्थाओं की परिणति थी।

जयप्रकाश कर्दम लिखते हैं कि "एक ओर जहाँ समाज में दलित के प्रति उपेक्षा का भाव है तथा उनका शोषण करने की प्रवृत्ति है, वहीं अपने स्वार्थ पूर्ति के लिए दलितों का इस्तेमाल भी खूब किया जाता है और सब से उल्लेखनीय बात यह है कि सामान्य व्यवहार में जिन दलितों के साथ अस्पृश्यता बरती जाती है स्वार्थसिद्धि के अवसरों पर अस्पृश्यता महत्वहीन हो जाती है। दक्षिण भारत के मंदिरों में देवदासी प्रथा के नाम पर पुजारियों के द्वारा तथा सामान्य जीवन में अन्य लोगों द्वारा दलित स्त्रियों के साथ किए जाने वाले बलात्कार इस मानसिकाता के ज्वलंत उदाहरण हैं।"[1]

'बिरमा की बहू' कहानी में रमेसर एक जगह कहता है कि "दिन-भर की हाड़-तोड़ मेहनत के बाद जो कुछ भी मिलता वह इतना कम था कि तीन प्रणियों का गुजारा भी मुश्किल था। ऊपर से बेगार करनी पड़ती थी सो अलग। जो मूलधन के सूद की तरह जरूरी थी। कोई तर्क, कोई कानून, कोई भावना, इसे रोक नहीं पा रही थी। रमेसर ने बहुत बार सोचा कि इस बेगार प्रथा को तोड़ देगा। जब भी कोई बुलाने आएगा नहीं जाएगा। उसका यह सोचना गुब्बारे की हवा की तरह फुस्स हो जाता था। उसका ही क्या भंगी-बस्ती में सबकी यही हालत थी। बेगार के बदले मिलती भी प्रताड़ना, लांछन, गाली और अपशब्द। जैसे ये लोग आदमी नहीं, मात्र इस्तेमाल की वस्तु हों। जब चाहा इस्तेमाल किया। टूट-फूट गई तो उठाकर फेंक दिया। कहीं कोई सहानुभूति नहीं, कोई संवेदना नहीं।"[2]

---

[1]. कथाक्रम, अप्रैल-जून,पृ. -2004

[2]. सलाम,ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.70

'बैल की खाल' कहानी में काले और भूरे ने गाँव में किसी का भी मवेशी मरता उसे उठाकर गाँव से बाहर ले जाना उनकी ही जिम्मेदारी थी। इसके बदले कोई पैसा या अनाज नहीं देता था। यह काम उनके पुरखे पिछली कई पीढ़ियों से निस्पृह भाव से करते चले आ रहे थे। मृत मवेशी की खाल उतार कर वे शहर ले जाते थे। चमड़े का जो भी दाम मिलता उससे ही उनकी जीविका चल रही थी। काले, भूरे से एक जगह कहते हैं कि- "भूरे हमें यो काम छोड़ देणा चाहिए।" "क्यूँ...जो हमने इस काम कू छोड़ दिया तो करेगा कौण। क्या मरे हुए ढ़ोर-डंगर गाँव में ही पड़े सड़ते रहेंगे..."

"सड़ने दे...इस सडांध में हम गले-गले तक डूब जाते हैं। किसे परवाह है...कोई अपने धोरे (पास) बी ना बैठावे हैं।"[1]

'सलाम' कहानी में कमली की माँ दलितों के बारे में कहती है कि "बेटे, इनके संस्कार गलत हैं, ये छोटे लोग हैं। इनके साथ बैठने से बुरे विचार मन में पैदा होते हैं..." बल्लू रांघड खुद जुम्मन के घर आया और कहने लगा कि "जुम्मन तेरा जँवाई इब तक 'सलाम' पर क्यों नहीं आया। तेरी बेटी का ब्याह है तो हमारा बी कुछ हक बनता है। जो नेग-दस्तूर होता है, वो तो निभाना ही पड़ेगा। हमारी बहू-बेटियाँ घर में बैठी इंतजार कर रही हैं। उसे ले के जल्दी आ जा..."[2]

'कहाँ जाए सतीश' कहानी में सतीश पंत के घर में उनके साथ मिलजुल कर रहता है। सतीश के जाति का पता लगने पर उसे घर से निकाल दिया जाता है। मिसेज पंत एक जगह कहती है कि "तो क्या बैंड-बाजे के साथ विदा करूँ...मेरी बेटी का भाई बनने के लिए एक डोम ही रह गया है... बहुत हो गया...मैं उसे एक मिनट भी इस घर में नहीं रहने दूँगी..."

'जिनावर' कहानी में जगेसर, चौधरी जी के कहने पर बहु या उनकी बेटियों को सही सलामत उनके मायके या ससुराल से लाना और छोड़ने का काम करता है। चौधरी उसको हुक्म देता है कि "बिरजू की बहू को मायके छोड़ने जाना है। कपड़े-लत्ते हैं इस पोटली में...साँझ से पहले लौट अइयो।"[3] जगेसर

---

[1].सलाम,ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.35-36

[2]. सलाम,ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ. 14,17

[3]. सलाम,ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.94

को हैरान हुई। पंदरा कोस जाणा, पंदरा कोस आणा...वह भी साँझ से पहले। वह कुछ भी नहीं कहा जाने के लिए तैयार हुआ।

'शवयात्रा' कहानी में सुरजा जो बल्हर था, उसे पक्का ईंटों का घर बनाने नहीं देते। अब तो वह बूढ़ा हो गया था। उसकी जरूरत नहीं। इसलिए वह घर बनाने की तैयारी करता है तो चौधरी मना करता है। बलराम सिंह कहता है कि "अंटी में चार पैसे आ गए तो अपनी औकात भूल गया। बल्हारों को यहाँ इसलिए नहीं बसाया था। कि हमारी छाती पर हवेली खड़ी करेंगे...वह जमीन जिस पर तुम रहते हो, हमारे बाप-दादों की है। जिस हाल में हो...रहते रहो...किसी को एतराज नहीं होगा। सिर उठा के खड़ा होने की कोशिश करोगे तो गाँव से बाहर कर देंगे।"[1]

'प्रमोशन' कहानी सुरेश स्वीपर था। जब वह मजदूरों के देने के लिए दूध लेकर आता है सब दूध लेने के लिए इनकार करते हैं। सुपरवाइजर को पता चलता है कि सुरेश स्वीपर है वह नाराज होता है "सुरेश दूध लेकर आ गया था। उसने दूध लाने के बाद सभी को आवाज देकर बता दिया था, लेकिन कहीं कोई हरकत नहीं हुई थी। और दिनों की तरह कोई दूध लेने की बेताबी नहीं दिखा रहा था। सभी अपने-अपने काम में लगे होने का दिखावा कर रहे थे।"[2]

'मैं ब्राह्मण नहीं हूँ' कहानी में गुलाबराय को पता चलता है कि मोहनलाल शर्मा ब्राह्मण नहीं है वह उसे गालियाँ देने लगता है यह भूल जाता है कि वह ब्राह्मण नहीं है। उस मिरया में बीस साल से जी रहा है। मोहनलाल की पत्नी कहती है कि "मैं तो पहले ही कहती थी किसी रोज यह शर्मा बनना भारी पड़ेगा। इन कमबख्तों को इंसान नहीं जाति प्यारी है।" [3]

'दिनेशपाल जाटव ऊर्फ दिग्दर्शन' कहानी में दिनेश पाल जाटव नाम बदल लेता है। नाम बदलने के बाद उनको नौकरी मिलती है। दलितों पर गुजरी घटना पर उसने हेड लाइन लिख दि कि "राहत कर्मियों ने दलितों की सड़ी लाशों को छूने से इनकार किया।"[4]

---

[1]. घुसपैठिये,ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.39
[2]. घुसपैठिये,ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.49
[3]. घुसपैठिये,ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.65
[4]. घुसपैठिये,ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.71

ये समाचार पत्रिका में छप गई। बाद दिग्दर्शन को, नौकरी से निकाल दिया जाता है। जीवन के समस्त क्षेत्रों में शूद्रों की अगणित निर्योग्यताओं एवं अशक्तताओं से संबंधित धर्मशास्त्रों में निर्देशित उपर्युक्त व्यवस्थाओं की परिणति शूद्रों पर किए गए अगण्य क्रूर एवं अमानवीय अत्याचारों के रूप में हुई जिन्हें पढ़ कर एवं सुन कर मानवता का सिर लज्जा से झुक जाता है। शूद्रों के स्पर्श से, वार्तालाप से, देखने मात्र से, यहाँ तक कि उनकी परछाई से भी सवर्ण लोग अपवित्र हो जाते थे। कितना विचित्र हास्यास्पद एवं घृणास्पद है कि तथाकथित उच्च जातियों के लोग अस्पृश्य लोगों की स्त्रियों का सतीत्व हरण करने में तो आनंद अधिकार एवं शक्ति संपन्नता का अनुभव करते थे परंतु सामान्य स्थिति में उन्हीं के स्पर्श एवं देखने मात्र से अपवित्र हो जाते थे।

'दि डिस्कवरी ऑफ इंडिया' में जवाहर लाल नेहरू ने लिखा है कि "आचार-विचार संबंधी शुद्धता का बुरा परिणाम यह हुआ कि अलग रहने की प्रवृत्ति और छुआछूत ने उन्नति की और गैर बिरादरी वालों के साथ खाना-पीना मना किया गया औरयह बात इतनी बढ़ कि दुनिया भर में ऐसी मिसाल और कहीं नहीं मिलती। इसका नतीजा यह भी हुआ कि कुछ खास जात वाले इसलिए अछूत समझे जाने लगे कि उन्हें ऐसे आवश्यक धंधों में लगना पड़ता था, जो गंदे समझे जाते थे।"

दलित जो अनपढ़ होते हैं उनको पता नहीं कि उन पर क्या गुजर रही है। वे अपना खून पसीना बहा कर सवर्णों के घरों में काम करते हैं। इतनी मेहनत करने पर भी उनको ठीक से खाना नहीं मिलता। 'बैल की खाल' कहानी में काल कहता है कि "और वो सहर का लाला...सौ बातें सुणावे है। पिछली बार जब वह भैंस की खाल लेके गए थे तो क्या कह रहा था- 'यह पुड़िया ले जाओ। जिस जानवर को खिलाओगे टें बोल जाएगा।' वह सरकारी डॉक्टर कुछ भी नहीं कर पाएगा। पूरा राक्छस है राक्छस वह लाला।"[1]

'भय' कहानी में दिनेश अपनी जात छुपाकर सवर्णों की बस्ती में रहता है। इतने वर्षों से रामप्रसाद तिवारी नहीं जान पाया था कि वे लोग एस.सी हैं। कई बार आरक्षण-विरोध में रामप्रसाद तिवारी ने गाली-गलौज की भाषा इस्तेमाल की थी। साथ ही भद्दी जबान में बाबा साहेब और बापू के लिए अपशब्द कहे थे। दिनेश ऐसे क्षणों में चुप्पी साध लेता था या बात बदलने की कोशिश करता था।

[1]. सलाम,ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.36

वैसे भी दिनेश ऐसे सवालों से बचता था। इन सबके बावजूद दोनों में गहरी आत्मीयता थी। दिनेश यह भी जानता था, जिस रोज दोनों के बीच 'जाति' आ जाएगी, यह आत्मीयता पानी का बुलबुला साबित होगी।

'कहाँ जाए सतीश' कहानी में जब सतीश को घर से बाहर निकाल दिया जाता है, तब सतीश के मन में अजीब-सी मसाहट हो रही थी। वह चिल्लाना चाहता था। सर्दी के मौसम में भी सतीश पसीने-पसीने हो गया था। उसके मन में आया कि दरवाजे पर एक जोर की लात जमाए, लात मारने के लिए वह थोड़ा पीछे हटा। लेकिन रुक गया। गहरी साँस ली और उल्टे पाँव लौट गया।

'गोहत्या' कहानी में सुक्का पर गोहत्या की निंदा लगाई गई। सुक्का की मानसिक स्थिति तो और भी दयनीय हो गई थी। उसे मुखिया की आँखों में शैतानियत दिखाई दी। उसने पंचायत से फरियाद की "माई-बाप मैंने तो आज तक कभी जंगली सुअर का शिकार नहीं किया। ना ही मुझे बारूद का पता है, कैसा होता है...मैंने गोहत्या नहीं की है।" उसने सरपंच से न्याय की गुहार की, "सरपंच जी आप में भगवान बसते हैं, नियाय करो महाराज, मैं निरदोष हूँ...मैंने गऊ हत्या नहीं की है...मैं भगवान की कसम खाता हूँ...मैंने गऊ हत्या नहीं की है...मैं निरदोष हूँ। मैं कभी सुअर मारने उस जंगल में नीं गया...मुझ पर गोहत्या का इल्जाम मत लगाओ सरपंच जी..."[1]

'पच्चीस चौका डेढ़ सौ' कहानी में सुदीप के पिताजी चौधरी जी का आदर करता है। "तेरी किताब में गलत बी तो हो सके...नहीं तो क्या चौधरी झूठ बोल्लेंगे। तेरी किताब से कहीं ठाड्डे (बड़े) आदमी हैं चौधरी जी। उनके धोरे (पास) तो ये मोट्टे-मोट्टी किताबें हैं...वह जो तेरा हेडमास्टर है वो पाँव छुए है चौधरी जी के। फेर भला वो गलत बतावेंगे...मास्चर से कहणा सही-सही पढ़ाया करे..."[2]

'अम्मा' कहानी में 'अम्मा' अक्सर मिसेज चोपड़ा के घर में एक आदमी को देखती थी। शुरू शुरू में वह यही समझती रही कि घर-परिवार का ही कोई होगा। लेकिन भेद जल्दी ही खुल गया। एक दिन दोनों को जिस स्थिति में देखा, अम्मा का दिल धक से रह गया। मिसेज चोपड़ा उसे भली और अच्छी लगती थी। उस दिन जो कुछ देखा, उसके बाद उसके प्रति अम्मा के मन में एक अजीब-सी

---

[1]. सलाम,ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.60-61

[2]. सलाम,ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.80

नफ़रत पनपने लगी।

'शवयात्रा' कहानी में सुरजा घर बनाने की बात कहता है तो बलराम सिंह उसको डराकर जाता है। सुरजा की आँखों के सामने जिन्दगी के खट्टे-मिठे दिन नाचने लगे। जैसे कल ही की बात हो। क्या नहीं किया सुरजा ने इस गाँव के लिए, और बलराम चुनाव के दिनों में एक एक वोट के लिए मिन्नतें करता था, तब सुरजा बल्हार नीं, सुरजा ताऊ हो जाता था।

'कूड़ाघर कहानी' में जाति का पता चलने पर मकान खाली करने के लिए कहते हैं। अजब सिंह की पत्नी ने कहा कि "मैं ने भी यही कहा था, तो बोले- 'तुम लोगों को बताना चाहिए था...बहुत कुछ कह रहे थे...मुझे रोना आ गया था...फिर भी वह गालियाँ बकती रही...उनका वश चलता तो कल ही सामान उठाकर बाहर फेंक देते।' मैंने कहा उन्हें दिल्ली से लौट आने दो तो फिर बात करेंगे...वह चिल्लाकर हाथ नचाते हुए बोली, 'बात क्या करना है...कहीं भी जाके मरो...हमारा मकान खाली करो...' सुमित्रा गहरे अवसाद से भर गई थी।" आगे सुमित्रा कहने लगी "नहीं जी, इस बात पर कोई बवेला मत करो...बच्चों के बारे में सोचो...झगड़ा करके क्या होगा...ठंडे मन से सोचो...उनसे बात करो और शान्तिपूर्वक थोड़ा समय माँग लो।"[1]

'मैं ब्राह्मण नहीं हूँ' कहानी में मोहन लाल शर्मा बन कर बीस साल से सवर्णों की गली में रहने लगा। जाति का पता चलने पर वह अपमानित होता है। मोहन लाल की पत्नी कहती है कि "मैं तो पहले ही कहती थी किसी रोज यह शर्मा बनना भारी पड़ेगा। इन कमबख्तों को इंसान नहीं जाति प्यारी है।"[2]

'दिनेशपाल जाटव ऊर्फ दिग्दर्शन' कहानी में दिग्दर्शन जब संपादक से मिलने के लिए कलकत्ता गया था, उतना ही निराश से हृदय की वेदनाओं को दबोच कर वह वापस लौट आया था। वह खामोशी से संपादक के तर्क सुन रहा था। तर्कों के पीछे छिपी कुटिलता साफ-साफ दिखाई दे रही थी। वह उल्टे पाँव लौट आया था। लौटते हए उसने महसूस किया जैसे वहाँ बैठ तमाम लोगों की नजरें उसका पीछ

---

[1]. घुपैठिये,ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.57-58

[2]. घुसपैठिये,ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.65

कर रही थीं। वह अभी दरवाजे तक भी नहीं पहुँच पाया था कि सामूहिक ठहाका गूँजा..."अब पत्रिकाओं में भी आरक्षण माँगनेवाले आने लगे...अब भंगी-चमार भी सम्पादक बनेंगे..."[1]

'रिहाई' कहानी में लाला जब सुगनी को डाँटता है तो सुगनी अपने आपमें कहने लगी "हाँ, लाला मैं तो तीस-पैंतीस किलो ना उठा सकूँ...थारी लुगाइयाँ तो सौ-सौ किलो के बोरे फूल की तरह उठा के यहाँ से वहाँ रख दें..."[2] लेकिन वो कह नहीं पायी, मन का गुबार मन में ही घुटकर रह गया।

2.3.2.दलित के जीविकोपार्जन का साधन :

हिंदू धर्म प्रणीत जाति व्यवस्था ने धर्म और शास्त्रों के आधार पर दलितों को अधिकारों से वंचित किया है। जन्म और कर्म का आधार देकर सदियों तक दलितों के मन में निम्न जाति में जन्म के लिए स्वयं कर्म को ही जिम्मेदार माना। यह कुंठा जगाए रख कर अपने स्वार्थ सिद्धि में उच्च वर्ग कामयाब हो गया है। हिंदू धर्म व्यवस्था ने दलितों को केवल निम्न स्तरीय काम करने के लिए ही निश्चित किया है। वे लोग सवर्णों की मुफ़्त सेवा करते हैं और समाज के निम्न स्तरीय पेशे निभाते हैं। यह विधा आज से ज्यादा 17,18 वीं सदी में हम को देखने को मिलता है। दलितों की निम्नतम कामकाज के बारे में उच्च कंपनी के अधिकारी विलियम मेथोल्ड के अनुसार - "These people ....play all dead cattle for their skins make sandals for the gentile and shoes for moors"[3]

"दलित जाति में एक वर्ग चमार गाँव के उत्सव में जानवरों की बलि के संदर्भ में बाजा बजाते हैं और बलि देने के बाद उन लाशों को सिर पर रख कर गाँव की सीमा पर दफ़नाते हैं। 8वीं शती में निम्न होने के कारण भगवान के लिए चप्पल बनाना उनका काम था। उस चप्पल को सिर पर रखकर उत्सव में भाग लेते हैं और भगवान को समर्पित करते हैं बल्कि उस समय भी भगवान के दर्शन नहीं होते हैं। चप्पल को उस पहाड़ के नीचे सीढ़ियों में रखकर उसी चप्पल की पूजा करना पड़ता है।"[4]

---

[1]. घुपैठिये,ओमप्रकाश वाल्मीकि,पृ.65

[2]. घुपैठिये, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.76

[3].Relations of Golkonda in early 17 th century, W.H.Moreland,पृ.19

[4]. Manual of Bellari district, F.fawalett,पृ.311

ओमप्रकाश वाल्मीकि की कहानियों में कुछ पात्र ऐसे हैं जो निम्न पेशों से जुड़े हुए हैं सूअर को पालना, सवर्णों की गंदी नालियाँ साफ़ करना, मैला ढ़ोना, जानवरों की खाल उतारना, ये काम दलितों के जीवन में अहम हिस्सा बन गए।

'बैल की खाल' कहानी में काले और भूरे बैल की खाल उतारने का काम करते हैं। गाँव में किसी का भी मवेशी मरता उसे उठाकर गाँव से बाहर ले जाने उनकी ही जिम्मेदारी थी। मृत मवेशी की खाल उतारकर वे उसे शहर ले जाते थे। "शहर में चमड़े की रँगाई, सफ़ाई का काफ़ी बड़ा कारोबार था। जिसमें शहर के नामी-गिरामी व्यापारी लगे हुए थे। चमड़े के जो भी दाम मिलते उससे ही उनकी जीविका चल रही थी।"[1]

'कहाँ जाए सतीश' कहानी में सतीश एक जगह कहता है कि कौन-से घर जाऊँ...बाप का घर इसलिए छोड़ा कि वे मुझे नगरपालिका में सफाई कर्मचारी की नौकरी दिलवाना चाहते थे। वे रिटायर होने वाले हैं। वे अपने स्थान पर मुझे रखवा देने के लिए भागदौड़ कर रहे थे। उन्होंने नगरपालिका के साहब से बात भी कर ली थी। दो हजार की बात थी। जिसका इंतजाम मेरे पिता जी अपने फंड से करने की योजना बना चुके हैं। दो हजार रुपए देकर जिंदगी भर के लिए मेरे हाथ में झाड़ू आ जाएगी। वे चाहते हैं कि मैं पढ़ाई-लिखाई छोड़कर इस नौकरी को कर लूँ। साहब, मैं सफाई कर्मचारी बनना नही चाहता...मैं पढ़ना चाहता हूँ...जिस मुहल्ले में हम रहते हैं, वहाँ मेरा दम घुटता है। इसलिए नहीं कि वे सब गरीब लोग या छोटे लोग हैं। बल्कि इसलिए कि जिस तरह का जीवन वे जीते हैं- मैं उससे छुटकारा पान चाहता हूँ।"[2]

'ग्रहण' कहानी में रमेसर का बापू चौधरी के खेत में काम करता था। बीमारी के कारण जब उसका आना जाना बंद हो गया तो रमेसर स्कूल छोड़ कर चौधरी के खेतों में काम करने लगा। "ग्रहण के समय नमक मिला अनाज बाँटा जाता है। बच्चे, बूढ़े यहाँ तक कि जवान लड़कियाँ, बहुएँ भी निकल आई थीं। फाकों ने सभी को लाचार बना दिया था।"[3]

---

[1].सलाम, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.33

[2]. सलाम, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.54-55

[3]. सलाम, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.66

'जिनावर' कहानी में जगेसर चौधरी का नौकर था। "जब बापू मरे, जगेसर दस बरस का था। एक साल बाद माँ भी चल बसी थी। उसके बाद तो वह चौधरी का ही होकर रह गया था। उसे तो कभी पता भी नहीं चला कि बापू ने ऐसा क्या कर्ज लिया था जो उम्र भर की गुलामी उसके हिस्से में आई थी। एक उम्र ऐसी आ गई थी, जब चौधरी ने उसे हवेली से बाहर के कामों में लगा दिया था। खेत-खलिहान से लेकर दुनिया-जहान के काम।"[1]

'अम्मा' कहानी में अम्मा सुबह सबेरे हाथ में झाड़ू-कनस्तर थामे हुए ठिकानों का साफ करने के लिए निकलती है। "सास ने बाकायदा ट्रेनिंग दी थी उसे। कैसे दरवाजे पर पहुँचकर आवाज देना है। कैसे टट्टी में घुसना है, कैसे पानी डालना है। फिर झाड़ू के कितने हाथ दाएँ, कितने बाएँ चलाने हैं। टट्टियों के दरवाजे खोलते ही उसका सिर भन्ना जाता था दुर्गंध से। अंग्रेजों की देखा-देखी हिंदुस्तानियों ने भी घरों में पाखाने बना लिए थे। उसे यह सब अजीब लगता था।"[2]

'खानाबदोश' कहानी में मानों और सुकिया ईंट के भट्टी में काम करते थे। "मानो और सुकिया महीना भर पहले ही इस भट्टी पर आए थे, दिहाड़ी मजदूर बनकर। हफ्ते-भर का काम देखकर असगर ठेकेदार ने सुकिया से कहा था कि साँचा ले लो और ईंट पाथने का काम शुरू करो। हजार ईंट के रेट से अपनी मजदूरी लो।"[3]

'यहअंत नहीं' कहानी में बिरमा और उसके माता-पिता खेत में काम करते थे। "धान कटाई के उमस भरे दिन थे। मंगलू और सरबती के साथ बिरमा भी धान कटाई के लिए जाती थी।"[4]

2.3.3.दलितेतर मानसिकता की क्रूर बुद्धि :

'रिहाई' कहानी सालों से लाला के गोदाम की रखवाली करने वाले परिवार की कहानी है। लाला कभी उन लोगों को बाहर नहीं आने देता। वह जाते समय ताला लगा कर जाता है। कोई अंदर वाला बाहर न जा सके। कोठरी में मिट्ठन उसकी पत्नी सुगनी और उनका बेटा छुटकू ये तीनों रहते थे। गोदाम

---

[1]. सलाम, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.96
[2]. सलाम, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.114
[3].सलाम, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.123
[4]. सलाम, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.21

ही उनकी दुनिया थी। गोदाम में माल लेकर कोई बाहर से आते हैं, उन लोगों से बाहर की दुनिया के बारे में सुन कर खुश होते हैं।

लाला आधी रात को ट्रक में माल भर कर गोदाम पहुँचता है। उस समय मिट्ठन को बुखार था। बुखार के कारण वह काम पर नहीं आ सकता। गोदाम में चौड़ा आँगन था सुगनी उसमें सब्ज़ी उगाने की बात कहती है। सब्ज़ी उगाने की बात सुनते ही लाला बिफर पड़ा। "तेरा दिमाग़ तो ठीक है। तू गोदाम में खेती करेगा....तुझे यहाँ खेती करने के लिए नहीं, गोदाम की देख-भाल के लिए रखा है। जा, गोदाम की बत्ती बुझाकर ताला बंद कर दो। भरपेट खाना मिलते ही हरी सब्ज़ियाँ याद आने लगीं। "[1]

ट्रक में माल लेकर जब लाला आता तो मिट्ठन के तबीयत के बारे में सुनते ही वह चीख उठता है "ये सारे ट्रक इसी टाइम खाली होने हैं। रात ही रात में इन्हें वापस भी जाना है। एक दिन भी ये यहाँ रुक गए तो जानती हो कितना नुकसान होगा... हज़ारों रुपये का माल उतार कर गोदाम में लगवाए।" लाला की आवाज़ सुनकर मिट्ठन बाहर आया। उसे देख कर लाला ने कहा "क्यों बे! मैंने तुझे यहाँ मुफ़्तखोरी के लिए रखा है क्या.... तीन जनों का पेट भर रहा है इस गोदाम से। फिर भी बहानेबाज़ी किए बिना तू मानता ही नहीं..."[2]

मिट्ठन की बात नहीं मानी "रहने दे ये सब.... जाके बोरी लगवा ... चार ट्रकों का माल उतारना है। ये ही तो दिन है दो पैसे कमाने के .... रोज़ की हड़तालें, बंद, चक्का जाम.... ऐसे में तू बीमार पड़ जाएगा तो गोदाम का काम कौन देखेगा....तेरी लुगाई से तो तीस-पैंतिस किलो का कट्टा भी ना उठे है...."[3] लाला ने उसे नसीहत दी।

मिट्ठन जब गोदाम में खड़ा हुआ ऊपर से बोरा उसके ऊपर गिरा और उसकी पीट पर चोट लगी। ठेकेदार ने कहा "लाल ! उसे अस्पताल ले चलो। उसे बहुत ज़्यादा चोट लगी है, मर भी सकता है।" लाला ने कहा "ये अनपढ़ जाहिल होते ही निकम्मे हैं....अब इन्हें यहाँ से निकालना ही पड़ेगा।

---

[1]. घुसपैठिए, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.77

[2]. घुस पैठिए, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.75

[3]. घुस पैठिए, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.76

तुम लोग ट्रक लेकर निकलो। कहीं फँस न जाओ। मुझे क्या करना है, वह मैं देख लूँगा।"[1]
ट्रकों के जाते ही लाला ने गोदाम का बड़ा गेट बंद करके बाहर से ताला लगा दिया था। मारुति में बैठ कर राह की ओर चल दिया। मिट्ठन दर्द बढ़ने से अपनी जान छोड़ देता और सुगनी मदद के लिए चिल्ला कर अपनी जान दे देती।

2.3.4.जीवन संघर्ष की एक अंतहीन यात्रा :

'खानाबदोश' कहानी ईंट की भट्टी में काम करने वाले लोगों की है। मानो और सुकिया मालिक मुखतार सिंह की भट्टी में काम करते हैं। उस रोज़ मालिक मुखतार सिंह की जगह उनका बेटा सूबे सिंह भट्टी पर आया था। मालिक कुछ दिनों में असगर ठेकेदार से भीगी बिल्ली बन जाता था। दफ्तर के बाहर एक अर्दली ड्यूटी लग जाती थी। जो कुर्सी पर उकड़ूँ बैठ कर दिन भर बीड़ी पीता था। आने जाने वालों पर निगरानी रखता था। उसकी इजाज़त बग़ैर कोई अंदर नहीं जा सकता था।

उस रोज़ सुबेसिंह ने भट्टी पर आते ही असगर ठेकेदार से कहा था कि "मानो को दफ़्तर में बुलाओ, आज किसी की तबियत ठीक नहीं है।"[2] असगर ठेकेदार उस रोकना चाहता था, छोटे बाबू मानो कि...बात पूरी होने से पहले ही सूबेसिंह ने उसे फटकार दिया था "तुमसे जो कहा गया है वही करो। राय देने की कोशिश मत करो। तुम इस भट्टी पर मुंशी हो। मुंशी ही रहो, मालिक बनने की कोशिश करोगे तो अंजाम बुरा होगा।"[3] यह दलित कामगारों की कहानी है। जो उनके जीवन संघर्ष को उसके सारे जोखिमों के साथ उजागर करती है।

ईंट थाप कर जीविका अर्जन करने वाली मानो ठेकेदारों के सारे जोर-जुल्म और हवस से अपने को बचाती हुई, पकी हुई लाल लाल ईंटों को देखकर एक सपना अपने मन में पालती है, लाल-लाल ईटों वाले अपने एक घर का सपना। वह उसके लिए अथक श्रम भी करती है, परंतु हमेशा की तरह उसका यह सपनाटूट जाने की नियति ही पाती है। संभावित जोखिमों से अपने को बचाने के हेतु पति के साथ वह निकल पड़ती है अनिश्चित भविष्य की एक अंतहीन यात्रा में। उसे कहा है तो यह है कि

---

[1]. घुस पैठिए, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.78
[2]. सलाम, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.127
[3]. सलाम, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.127

उसका सवर्ण साथी, जो किसी समय संकट में उसके साथ था ओर जिस समय उसने अपनी सारी आत्मीयता दी थी, निर्णायक क्षणों में उसका साथ नहीं देता। बिना किसी बड़बोलेपन के कहानी बड़ी शांत लय में समाप्त होती है।

2.4. ओमप्रकाश वाल्मीकि की कहानियों में धार्मिक चित्रण :

धर्म सम्बन्धी अपनी व्याख्या में डॉ. अम्बेडकर ने लिखा है कि- "मैं अवतारवाद, आत्मा, परमात्मा, पुरोहितवाद, किसी भी प्रकार के कर्मकाण्डों को नहीं मानता हूँ।"[1] उन्होंने अपने आन्दोलन से इन सारी बातों को खारिज कर दिया है। उन्होंने सभी देवी-देवताओं को नकार दिया है। दलित मुक्ति आन्दोलन में किसी भी प्रकार के देवी-देवताओं को कोई महत्व नहीं है; किसी ब्राह्मण, पण्डित, पण्डे-पुरोहित को कोई महत्व नहीं है, वे उन सभी को नकारते हुए धर्म या शब्द को नैतिकता का आधार देते हुए, दलित मुक्ति आन्दोलन को मजबूती प्रदान की है। उनकी मान्यता थी कि मनुष्य केवल रोटी के भरोसे जी नहीं सकता। उसकी भावनायें तथा मानवीय संवेदनाएँ भी होती हैं। इसलिए उसको धर्म की भी आवश्यकता होती है। (यहाँ धर्म और रिलीजन के अन्तर्गत आने वाली परम्परागत बातें ईश्वर, आत्मा, प्रार्थनाएं, पूजा, कर्मकाण्ड, रीति-रिवाज, यज्ञ और बलिकर्म आदि बातों से कोई लेना-देना नहीं है।)

2.4.1.दलित एवं अंधविश्वास :

दलित जो अनपढ़ होते हैं, अंधविश्वास उनके जीवन में एक हिस्सा बन जाता है। हज़ारों वर्षों तक एक मानव समाज गुलामी की बदतर ज़िंदगी धर्म और पाप पुण्य के नाम पर जी रहा था। पशु से भी हीन दशा में चुपचाप अन्याय, अत्याचार सह रहा था। उसके श्रम पर सवर्ण समाज की व्यवस्था प्रस्थापित था। वह मानवीय सभ्यता और संस्कृति से वंचित था। दलित अछूत या उसकी परछाई से भी परहेज़ किया जाता था। इसमें किसी सवर्ण को कोई अस्वाभाविकता प्रतीत नहीं होती थी। रूढ़ियों ने इस अमानुषता को सहज स्वीकार्य बना दिया था। यह ज़हर भारतीय समाज और संस्कृति में घुलमिल गया था। दलित जातियाँ भी इसकी आदी हो गई कि इनके ख़िलाफ़ विद्रोह करना पाप समझती थी।

[1]. दलित विमर्श के विविध आयाम, डॉ.वीरेन्द्र सिंह यादव, पृ.36

मनुस्मृति और अन्य धार्मिक ग्रंथों के अनुसार दलित अपने पूर्व जन्म के कर्मों का इस जन्म में निर्वाह करते थे। यानी दुःख और अपमान को सहना उच्च वर्णों को संतुष्ट करना आदि। इस संदर्भ में 'माता प्रसाद' कहते हैं कि "जनता को हम बताएँगे कि मनुष्य का पुनर्जन्म होता है। यह उनके पिछले कर्मों के आधार पर होता है। पिछले जन्मों में ब्राह्मणों ने अच्छा कार्य किया था, इसीलिए इस जन्म में उन्हें सभी सुख सुविधा हैं। शूद्र तथा अन्य वर्णों ने पिछले जन्म में बुरे काम किए हैं, इसीलिए वह दुःख अपमान का जीवन बिता रहे हैं। अगर वे भी अपने निर्धारित कर्तव्य सेवा से ब्राह्मणों को संतुष्ट रखें तो अगले जन्म में वे भी ऊँचे वर्णों में जन्म पा सकते हैं। इससे ब्राह्मणों की सुख सुविधा को देखकर उनके मन में द्वेष नहीं पैदा होगा।"[1]

'बैल की खाल' कहानी में पंडित बिरिज मोहन का बैल मर गया था। बैल तो कुएँ के पास बीच रास्ते में पड़ा हुआ था। कुँए के पास खड़ंजे पर फिसलन थी। बेल का पाँव फिसला और गिर पड़ा। बैल बूढ़ा और कमज़ोर था। पसली में चोट लगी औरमर गया। फ़सल के वक्त बैल का मर जाना किसी हादसे कम न था। गाँव के बड़े-बूड़े लोग 'बैल' को लेकर कुछ ज्यादा ही चिंतित थे। अगर शाम तक बैल यहीं पड़ा रहा तो क्या होगा । सुबह से लोगों ने पीने का पानी तक नहीं लिया था कुएँ से। "जब तक बैल जीवित था तो कोई बात नहीं थी। कल तक अन्न उगाने वाला बैल मरते ही अपवित्र हो गया था। जिसे छूना तो दूर उसके पास खड़े होना भी किसी पाप से कम न था।"[2]

'भय' कहानी में माई मदारन की पूजा करने के लिए सुअर के बच्चे की बलि चढ़ाना था। माँ ने दिनेश से कहने लगी "जीते-जी तेरे पिताजी ने माई मदारन को पूजने ना दिया, शादी के वक्त मेरे बाप ने साफ-साफ कह दिया था कि हमारे घर में माई मदारन की पूजा होवे है। जो लड़की के गेल जावेगी। वहाँ भी तुम्हें माई मदारन को पूजना पड़ेगा। उस रोज तो कुछ ना बोल्ले। बाद में बदल गए। बेट्टे दीनू कोई अपने देवी-देवताओं को छोड़ सकता है भला !अपनी जड़ों को छोड़कर पेड़ की भी कोई गत है। और फिर पूजा-पाठ तो हमें अपने ही ढ़ंग से करनी है। इसमें सरम की क्या बात है !"[3] मामा एक

---

[1]. अंतहीन भेड़िया, माताप्रसाद,पृ.20-21

[2]. सलाम, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.32

[3]. सलाम,ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.42

जगह कहता है कि "तुम लोग पढ़ लिख कर भी मूरख ही रहे। भला यह भी कोई बात है कि हम अपनी पूजा-पाठ का ढ़ंग इसलिए बदल लें कि दूसरों को यह पसंद नहीं..." मामा ने हिदायत दी कि बच्चा देखकर खरीदना खस्सी न हो, कान पूँछ कटे-फटे नहीं होना चाहिए।

माई मदारन की पूजा की तैयारी हो रही थी, दिनेश की माँ सिर पर आंचल ढ़क कर माथ नवाया। बताशे, पका हुआ मीट, भुनी हुई कलेजी और रोटी के छोटे-छोटे टुकड़े जोत पर चढ़ाकर भोग लगाया।

'गोहत्या' कहानी में सुक्का पर गोहत्या का इलज़ाम लगा कर लाल दहकती फाल जबरन उसके हाथों पर रख दी गई। सब को पता था कि सुक्का ने गोहत्या नहीं की। लेकिन किसी ने इसका विरोध नहीं किया। पंडित रामसरन एक जगह कहता है कि "गोहत्या से बढ़कर कोई पाप नहीं होता मुखिया। गोहत्या करने वाले को तो नर्क में भी जगह नहीं मिलती। कौन है वह कमीना, जिसने साक्षात् नन्दनी की हत्या कर दी।"[1]

'ग्रहण' कहानी में पुजारी बहू से कहता है कि "इस बार ग्रहण बहुत भारी है। राक्षसी प्रवृत्तियाँ बढ़ रही हैं। सात अनाज मिलाकर अनाज-नमक दान करना है, ताकि राक्षसी आपदाओं का नाश हो सके। बाकी तो ईश्वर के हाथ में है..."[2] इस तरह करने से बहू के पाँव भरते हैं, यह एक अंधविश्वास है।

'हत्यारे' कहानी में सलेसर को बुखार आने पर अस्पताल नहीं ले जाते, वे भगत के पास ले आते हैं। उसकी भगताई का लोहा अच्छे मान चुके थे। भगत कहता है कि सुअर की बलि चढ़ाई है, उसके बाद पूजा होता है। गोश्त प्रसाद के रूप में सबको दिया जाता है। भगत के भीतर देवता पूरे जोश में आ चुका था। उसने सलेसर पर तड़ातड़ कोड़े बरसाने शुरू कर दिए थे। भगत कहता है कि पीपर का प्रेत था। भरी दुपहरी में ये पीपल के नीचे से निकल देता। सलेसर की माँ ने सभी देवी-देवताओं की मन्नतें माँगी थी। ग्राम माता को सूअर की बलि-चढ़ाने का वादा किया, "मय्य री ! मेरे लाल को अच्छा कर दे। सूअर का बच्चा चढ़ाऊँगी तेरे चरणों में।"[3]

---

[1]. सलाम,ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.57

[2]. सलाम,ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.66

[3]. घुसपैठिये,ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.91

2.4.2.मज़दूर संगठनों के बीच जातिवाद :

'प्रमोशन' कहानी में सुरेश स्वीपर था। वह हमेशा मज़दूर कहलाने के लिए उत्साहित था। 'कॉमरेड' संबोधन सुनते ही सुरेश के रगों में खून तेज़ी से दौड़ने लगा। कॉमरेड शब्द का अर्थ ठीक से पता नहीं था उसे लगा, जैसे उसके भीतर घंटियाँ बज रही हैं। वह और अधिक उत्साह से पंडाल खोलने में लग गया था। उसने पांडे से कहा, "आप दिन-भर के थके हुए है, घर जाइए, मैं यह सारा सामान यूनियन के दफ़्तर में पहुँचा दूँगा।"[1]

जब सुरेश घर पहुँचा, काफ़ी देर हो चुकी थी। शांति बाहर खड़ी उसकी राह देख रही थी। उसे देखते ही बोली अजी, कहाँ रह गए थे इतनी देर लगा दी यूनियन का धरना था....उसी में देर हो गई है.... कुछ देर बाद वह स्वयं बोला फ़ैक्टरी में कुछ गड़बड़ थी। एक वर्कर का साहब से झगड़ा हो गया था। वर्कर सस्पेंड हो सकता था। इसलिए यूनियन ने धरना किया, ताकि साहब लोग कोई एकतरफ़ा फैसला न कर लें।

शांति ने सुरेश से पूछा "अजी, कल आपके साथ कुछ ऐसा वैसा हो जावे, तो ये लोग तब भी धरने पर बैठेंगे? आपका साथ देंगे?" "हाँ देंगे, मैं भी तो यूनियन का मेंबर हूँ। मैं ने अकेले पंडाल लगाया। फिर खोल कर पूरा सामान वापस पहुँचाया....उनके साथ नारे लगाए....क्यों नहीं देंगे साथ..."सुरेश पूरे आत्मविश्वास के साथ कहा।

नहीं मैं तो कहती हूँ कि तुम तो स्वीपर .... शांति की बात अभी पूरी भी नहीं हुई थी कि वह उखड़ गया, स्वीपर था। अब नहीं हूँ....अब मैं मज़दूर हूँ....कामगार....मज़दूर मज़दूर भाई-भाई इन्कलाब ज़िंदाबाद ... उसका स्वर तेज होने लगा।

सुरेश को एक केमिकल प्लांट में लगाया गया था, जहाँ दो पाली चलती थी। हर एक पाली में तीस चालीस वर्कर थे। प्रत्येक वर्कर को ढ़ाई सौ ग्राम दूध मिलता था। इस प्लांट में उसे आए अभी एक महीना भी नहीं हुआ था दूध लाने की ड्यूटी हर रोज़ किसी न किसी वर्कर की होती थी। दूध लाना और सबको बाँट कर देना। उस रोज़ शिफ़्ट सुपरवाईज़र किशोरी लाल गौतम ने सुरेश की ड्यूटी लागाई

---

[1]. घुस बैठिए,ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.48

थी। कुछ को एतराज़ था, लेकिन सभी चुप थे। हाँ, आपस में खुसर-पुसर ज़रूर होने लगी थीं। सुपरवाइज़र अपने काम में व्यस्त हो गया था।

सुरेश दूध लेकर आ गया था। उसने दूध लाने के बाद सभी को आवाज़ देकर बता दिया था, लेकिन कही कोई हरकत नहीं हुई थी और दिनों की तरह कोई दूध लेने की बेताबी नहीं दिखा रहा था। सभी अपने काम में लगे होने का दिखावा कर रहे थे। सुरेश दूध की कैन के पास खड़ा, उनके आने का इंतज़ार कर रहा था। जब घंटे भर तक भी कोई दूध नहीं लेने आया, तो उसकी परेशानी बढ़ गई थी। उसकी समझ में नहीं आ रहा था कि वह क्या करे। ज़्यादा देर होने पर दूध फट सकता था।

सुरेश ने सुपरवाइज़र से कहा, साहब दूध ले आया हूँ....लेकिन ....कोई दूध ले नहीं रहा है। 'क्यों' सुपरवाइज़र ने कहा। पता नहीं साहब सुरेश कुछ नर्वस होने लगा था।

सुपरवाइज़र ने अब्दुल से पूछा तो कहा साहब आपको नहीं पता....सुरेश स्वीपर है....उसके हाथ की चीज़ कोई कैसे खा पी सकता है।' सुरेश अभी दूध के पास खड़ा हुआ था। सुपरवाइज़र ने गुस्से से कहा कि 'जाओ उस पांडे को बुला कर लाओ।' इस कहानी में जाति को महत्ता दि जाती है। दलितों के साथ काम करवा सकते हैं। कही दलित छू जाता हो तो सवर्ण अपवित्र हो जाते।

2.4.5.अंधविश्वासों की सही व्याख्या :

अंधविश्वास चातुर्वर्ण्य व्यवस्था से उपजा हुआ महारोग है। ब्राह्मणों ने इसे बड़े चालाकी से निर्मित किया। अपने स्वार्थ के लिए। इसमें बहिष्कृतों का सर्वनाश करने की शक्ति है जो ब्राह्मण दलितों पर थोपते हैं। अपना वर्चस्व स्थापित करने का यह एक धूर्त खेल ही है। उससे महाभयंकर संकट समाज पर आ रहा है। मनुष्य के विकास में पायी शिक्षा है उसे प्रकाश के घर से बाहर निकालकर इस अज्ञानता के खड्डे में धकेल कर उसका नामोनिशान करना, यही दैत्य कृति पिछले हज़ारों सालों से इस हिन्दू समाज में बढ़ रही हैं।

देव भगवानों की काल्पनिक कहानियाँ रचकर, यज्ञ, जप, तप, उत्सव, अर्चन यह भगवान को प्रसन्न करने का ग़लत मार्ग बतलाकर इन पीड़ित दलितों के मन का संहार किया गया। उन्हें मानसिक ग़ुलाम बनाया गया। हिन्दुत्व के झूठे भगवानों ने यहाँ पर हज़ारों वर्षों राज्य किया। उनके सभी ग्रंथ झूठे हैं। जिससे दलितों का नाश ही हुआ है। इस संदर्भ में डॉ.अम्बेडकर कहते हैं कि- "ब्राह्मणों ने बड़ी

चालाकी से एक मंत्र फूँक दिया, लोगों में एक ढ़कोसला फैला दिया कि वेद इंसान की रचना नहीं है। यदि हिन्दू आध्यात्मवाद जड़ हो गया है और हिन्दू सभ्यता तथा संस्कृति एक सड़े हुए बदबूदार पोखर की तरह हो गई है तो यह ढ़कोसला जड़ मूल से ख़त्म करना होगा यदि भारत को प्रगति करनी है। वेद बेकार की रचनाएँ, उन्हें पवित्र या संदेह से परे बताने में कोई तुक नहीं हैं।"[1]

'हत्यारे' कहानी में कालू के बेटे को बुखार हो गया था। कालू ने उस गाँव के सूरजाभगत को ले आया। भरेपूरे जिस्म का सूरजा रोबीली व्यक्तित्व का मालिक था। आसपास के गाँव में उसकी भगताई का डंका बजता था। वह अपने ख़ास अंदाज में बोला "परसाल की बात है, मैं एक गाँव में गया था। जिसके घर ठहरा था, उसकी लुगाई साल-भर से बिस्तर पर थी। मिरगी के दौरे भी पड़ते थे। बस जी! रात में उसे राख की एक चुटकी चटाई, वह तो खटाक से उठ कर बैठ गई। वह दिन और आज, दौरे पड़ने भी उसी टेम से रुक गए। चुड़ैल की छाया थी। ऐसा बाँधा उस चुड़ैल को कि कभी किसी के पास तक नहीं फटकेगी।"[2]

सूरजा ने कालू से कहा कि "कल देवता को एक सुअर चढ़ाओ, सब ठीक हो जाएगा। पीपल का प्रेत था। भरी दुपहरी में ये पीपल के नीचे से निकला। चपेटे में आ गया था। सुअर की कल ही बलि चढ़ाना है। देर करना ठीक नहीं।"[3]

कालू ने अगले दिन सुबह ही लम्बरदार रामऔतार त्यागी की हवेली का दरवाज़ा खटखटाया। वे मूढ़े पर बैठे हुक्का गुड़गुड़ा रहे थे। कालू को सुबह ही सुबह आता देखकर, इशारे से लम्बरदार ने कालू से पूछा क्या बात है ? कालू दो सौ रुपए माँगा "जितना जल्दी हो सकेगा, लौटा दूँगा लंबरदारजी।"

लम्बरदार ने कालू को ऐसे घूरा जैसे जाल में फँसे शिकार को देखकर शिकारी देखता है। काग़ज़ पर अंगूठा लगवा कर लंबरदार ने महीने का सूद अग्रिम काट लिया। एक सौ साठ रुपये कालू के हाथ में टिक दिए। कालू ने कृतज्ञता से हाथ जोड़ा। लंबरदार ने हर महीने चालीस रुपये सूद की चेतावनी दी। दस के बारह की दर दो सौ पर चालीस रुपये बनते हैं ब्याज के हर एक महीने।

---

[1]. बाबासाहेब डॉ.अम्बेडकर सम्पूर्ण वाङमय,भाग-8, पृ.16

[2].घुस पैठिए, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.91

[3]. घुस पैठिए, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.93

सुरजा "खाना खाते ही चल पड़ा था। अपनी अगली मंज़िल की ओर। उसे कहीं दूसरी जगह से बुलावा आया था। सुबह होते ही सलेसर को जगाने की कोशिश की लेकिन उसका जिस्म ठंडा था। माँ रो रही थी। हम लुट गए... देखो म्हारा जवान बेट्टा हमें छोड़ कर चला गया .... अरे ! यह सब क्या हो गया रे ...."[1]

2.5. ओमप्रकाश वाल्मीकि की कहानियों में राजनैतिक चित्रण :

1947 ई.में पूरे देश ने विदेशियों से राजनैतिक आजादी प्राप्त की। परन्तु दलितों को अपने देशवासियों से ही सामाजिक आजादी न मिली। शायद अपनों की तुलना में विदेशियों से लड़ना ज्यादा आसान होता है। आज भी उसे शोषण, अपमान और अत्याचार का सामना करना पड़ रहा है। शिक्षित-अशिक्षित, ग्रामीण-शहरी, स्त्री-पुरूष कोई भी हो, अत्याचारों में कहीं कोई कमी नहीं है। बदलते युग के साथ अत्याचारों के स्वरूप भी बदले हैं।

2.5.1.दलितों के मन में उभरा आक्रोश :

सदियों वर्षों का लम्बा इतिहास बताता है कि दलित जातियों के विरुद्ध राजनीतिक-सामाजिक स्तर पर परम्परावादी जातियों के बीच मजबूत गठबन्धन रहा है। इसे सवर्ण जातियों की वर्गीय एकता भी कहा जा सकता है। आजादी के इन 64 सालों में यह गठबन्धन और मजबूत हुआ है। परम्परावादी, सामन्तवाद और पूँजीवाद के बीच का गठबन्धन दलितों के लोकतान्त्रिक और जनवादी अधिकारों के विरुद्ध बना है तो वहीं दूसरी ओर सामाजिक-परिवर्तन और सामाजिक-न्याय के आन्दोलन के परिणाम स्वरूप दलित समाज में राजनीतिक-सामाजिक स्तर पर एकता कायम हुई है। सदियों से परम्परावाद सामन्तवाद ने मिलकर सभी स्तरों पर दलित समाज के विरुद्ध षड़यन्त्र रचा है और आज भी रच रहा है, लेकिन इस शोषण का स्वरूप बदल गया है। वह अपना षड़यन्त्र लोकतन्त्र का मुखौटा पहनकर रचता है ताकि दलित समाज उसे समझ न सके। दलित समाज अब इस व्यवस्था को समझ गया है और इसका प्रतिरोध भी उसने करना शुरू कर दिया है।

---

[1].घुस पैठिए, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.94-95

दलितों के लिए अंबेडकर जी के विचार मुक्ति का मार्ग हैं। फुले-अंबेडकर उसकी अस्मिता के प्रतीक हैं। अतः प्रस्थापित निम्न स्तर पर उतरकर किया जाता है। आये दिन खबरें पढ़ने को मिल जाती हैं कि आज यहां अंबेडकर की प्रतिमा का अपमान हुआ, कल वहां। दलित कहानी का नायक अब इस अपमान का बदला उसी प्रकार लेना चाहता है, यानी राष्ट्रपुरूष की प्रतिमा को अपमानित कर।

'मुम्बई कांड' कहानी में राजनीति से परहेज रखने वाला सुमेर सामाजिक-परिवर्तन की प्रक्रिया में बेचैनी और हलचल महसूस करता है। जब कोई दलित नेता बनते हैं तो गैर-दलित उन का मज़ाक उड़ाते हैं। दफ़्तरों में राजनीतिक चर्चाएँ कुछ ज़्यादा होने लगी हैं। सुमेर इन चर्चाओं से हमेशा दूर रहता था। गुप्ता ने उसे नाम लेकर कहा था, "क्यों सुमेर आजकल तो धड़ाधड़ शहरों के नाम बदले जा रहे हैं। अपने शहर का नाम कब बदलवा रहे हो?" सुमेर उसका इशारा समझ गया था जब से प्रदेश में उसकी जाति की मुख्यमंत्री बनी है, गुप्ता इसी तरह की भाषा में बोलता है। उसने गुप्ता से कहा है कि- "गुप्ता ज़बान मेरे मुँह में भी है। बेहतर यही है उसे खुलने के लिए उकसाओ मत।"[1]

मुम्बई कांड ने एक बार फिर अयोध्या की याद ताज़ा कर दी थी। वह मुंबई से हज़ारों मील दूर था। मुंबई में डॉक्टर अम्बेडकर की मूर्ति को अपमानित किया जाना और फिर अंबेडकर समर्थकों पर गोली चलाना, उसके बचे खुचे विश्वास को तोड़ रहा था।

सुमेर ने इस घटना का विरोध करना चाहा। वह मूर्ति को अपमानित करना चाहता था। इस तरह की मूर्ति को जूतों की माला पहनाई जाए। सुबह होते ही उसने जूतों की तलाश शुरू कर दी।

जयराम रवि अभी-अभी हाल ही में नेता बना था। नेता दिखने के चक्कर में उसने अपना हुलिया बदल लिया था। सुमेर ने उससे सवाल किया कि- "मुंबई की घटना पर आपकी क्या प्रतिक्रिया है? डॉ.अम्बेडकर की मूर्ति का बम्बई में अपमान हुआ है, तुम लोग क्या कर रहे हो ? दलितों पर पुलिस ने गोलियाँ बरसाई। लोग मारे गए, घायल हुए, कुछ न कुछ तो आप लोगों को भी करना चाहिए।"

सुमेरजी, मैं थोड़ा जल्दी में हूँ....शाम को आकर बात करूँगा, अभी मीटिंग में जाना है। मुख्यमंत्री नगर में आ रही है। बस उसी के लिए जाना है।"[2] जयराम वहाँ से निकला।

---

[1]. घुस पैठिए,ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.30

[2]. घुस पैठिए,ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.32

पूरे जूतों को इकट्टा करके उसने माला बना ली। माला बना कर उसने थैली में रख ली। उसे 'हरिजन' शब्द पर होने वाली बहस याद आने लगी। पुस्तकों में पढ़ी गोलमेज़ परिषद, पूना पैक्ट, अंबेडकर का महार आंदोलन याद आने लगा। दफ़्तर में गुप्ता का चेहरा उसकी स्मृति को झकझोर रहा था। उसे लगा गाँधी की मूर्ति को ही अपना निशाना बनाया जाए। उसने घृणा से मूर्ति की ओर देखा। मूर्ति के चेहरे पर उसे उपेक्षा का भाव दिखाई देने लगा।

वह जूतों की माला पहनाने आगे बढ़ा। वह ठिठक गया, "अरे मैं यह क्या कर रहा हूँ। मुम्बई में किसी ने मेरे विश्वास पर चोट की और मैं यहाँ किसी की आस्था पर चोट करने जा रहा हूँ। कुछ गाँधी को बापू कहते हैं और कुछ अंबेडकर को बाबा : वहाँ 'बाबा' कहने वाले मारे गए, यहाँ 'बापू' कहने वाले मारे जा सकते हैं। बाबा कहलाने वाले पर भी गाज गिर सकती है। जो भी हो मारे तो निर्दोश ही जाएँगे।"[1] उसने गहरी साँस ली और लंबे लंबे डग भरता हुआ घर की ओर वापस मुड़ा। वह तनाव-रहित था। अम्बेडकर में उसका विश्वास और अधिक गहरा हो गया था।

इस कहानी में एक दलित के मन में उभरा आक्रोश दिखाई देता है। सुमेर दफ़्तर में काम करता था। उसके साथ काम करने वाला गुप्ता कभी व्यंग्य से कुछ कहता है। सुमेर को लगता है कि गुप्ता जानबूझ कर इस तरह की बातें करता है। उसे रात में नींद नहीं आई। रह रह कर मुंबई में मारे गए लोगों के रक्त रंजित चेहरे उसके सामने आ रहे थे। पुलिस फ़ायरिंग के बाद की चीख पुकार वह अपने भीतर साफ़ सुन रहा था।

उसने मुंबई कांड का विरोध करना चाहा। उसके एक नेता से मिलकर इस कांड के बारे में पूछने पर भी कोई उत्तर नहीं मिला। उसने आख़िर यह तय कर लिया है कि गाँधीजी की मूर्ति को जूतों की माला पहनाना चाहिए। इसलिए उसने जूतों को इकट्ठा कर लिया। 'गाँधी पार्क में घुस कर उसने कुछ देर सोचा और ऐसा करना ग़लत समझा। उसने मन ही मन दोहराया, 'नहीं यह रास्ता न बुद्ध का है और न ही अम्बेडकर का।' उसने तय कर लिया 'नहीं मैं एक गुनाह का बदला दूसरे गुनाह से नहीं लूँगा।'

---

[1]. घुस पैठिए, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.34-35

2.6. ओमप्रकाश वाल्मीकि की कहानियों में सांस्कृतिक चित्रण :

संस्कृति का मतलब है सदियों से मानव ने जो जीवन जिया है उसकी व्यवस्था का पीढ़ी-दर-पीढ़ी जीवन शैली, जीने का तरीका, ही संस्कृति है। संस्कृति की परिभाषा देना कठिन है फिर भी कुछ विद्वानों की परिभाषाओं को देखा जा सकता है। राहुल सांकृत्यायन संस्कृति की परिभाषा इस प्रकार करते हैं कि- "एक पीढ़ी आती है, वह अपने आचार-विचार, रूचि-अरूचि, कला, संगीत, भोजन या किसी और दूसरी आध्यात्मिक धारणा के बारे में कुछ स्नेह की मात्रा अगली पीढ़ी के लिए छोड जाती हैं। एक पीढ़ी के बाद दूसरी पीढ़ी, दूसरी के बाद तीसरी और आगे बहुत सी पीढ़ियाँ आती जाती रहती हैं और सभी अपना प्रभाव या संस्कार अगली पीढ़ी पर छोडती जाती हैं। यही प्रभाव संसकृति हैं।"[1]

भारतीय संस्कृति, अतीत का इतिहास और कुछ मानी हुई जातियों की उनकी अपनी सुख-सुविधा के मामले में ही सीमित रखे हैं। दूसरे किसी जात वालों को वे लोग मनुष्य की दृष्टि से नहीं देखते, इसी के कारण सवर्णों ने जो भी किया है, सभी जातियों को यही मान्य है और मानकर चलना पड़ा है। अन्य जातियों में जागृति न होने के कारण उन्होंने जो भी लिखा, चिन्तन किया वह सब उनके अपने स्वार्थ हित के लिए ही किया। उन्होंने मानवजाति का नाम मिटाकर भारत की सबसे बड़ी संख्या में रहने वाली जनता को अधिकारों से दूर रखा। यह जो भारतीय संस्कृति मानी गई है, वही हिन्दू संस्कृति है। जो कई दिनों तक कुछ धर्मावलम्बियों के आचरण को ही आकर्षित करती आ रही है। इसने हमारे देश में दो प्रकार की संस्कृति को पैदा किया, दो दृष्टि से रचे दो मानदण्ड बनाए और दो आचार-संहिताएँ बनाई चाहे वे सामाजिक स्तर की हों, चाहे आर्थिक व राजनीतिक आदि स्तर की मानी गई हैं। सवर्ण संस्कृति केवल राजा, बुद्धिजीवी, व्यापारी, व विशिष्ट लोगों के हितों के अधिकार को तो छीना ही गया पर पिछड़ों का कम से कम स्वाभिमान से जीना भी छिन लिया। ऐसी संस्कृति से चिढ़ करने वाली संस्कृति का आधार पूर्वजन्म है। उसी पूर्वजन्म पर आधारित रहने वाली सोच को गुलाम बनाकर दलितों के दिमाग में सवर्णों की ही गुलामी करने का भूत सवार कर रखा है।

देखा जाए तो सवर्णों की संस्कृति अपसंस्कृति मानी जाती है। जिस संस्कृति ने मानवता के अर्थ पर ही बल दिया और उनकी मानवीय वेदना को जाति तक ही सीमित रखा है। उन लोग ने अपने हाथों

---

[1]. प्राचीन भारत की संस्कृति और सभ्यता डी.डी. कोसाम्बी, पृ.3

में अधिकार रखकर दलितों को अधिकार से दूर ही नहीं रखा, वरन् पशु के समान जीवन जीने को भी मजबूर किया है। उनकी सम्वेदनाओं को शून्य बनाकर, दलितों को उसी में खुश रहने को भी दिखाया गया है। इन संस्कृति के सवर्ण जैसे बामन, बनिया, ठाकुर आदि जाति अपने लिए तो सारी छूट ही माँग लिए हैं। वे चाहे पाप करें या पुण्य सभी जायज हैं।

2.6.1.महाजनी संस्कृति :

समानता एवं कर्म के सिद्धांत पर आधारित सहन, सुसंगठित एवं अनूठी वर्ण व्यवस्था गतिशीलता के प्रवाह में उत्तर वैदिक काल तक आते आते जब जन्म पर आधारित होकर जाति व्यवस्था के रूप में परिवर्तित हो गई तभी से भारतीय सामाजिक व्यवस्था में शूद्र कहे जाने वाले वर्ण की सामाजिक सांस्कृतिक स्थिति अधोगति की दिशा में उन्मुख हो गई। "हिंदू समाज की जाति व्यवस्था कोई साधारण रीति रिवाज़ नहीं है। वह ग़ुलामी की संपूर्ण व्यवस्था है। उसका प्रभाव व्यक्ति के शरीर से लेकर आत्मा तक और जन्म से लेकर मृत्यु तक बना रहता है। उसका दलितों की देह और आत्मा की आजीवन ग़ुलामी की जैसी क्रूर व्यवस्था है वैसी दुनिया में कहीं और कोई दूसरी व्यवस्था नहीं है।"[1]

कहने की ज़रूरत नहीं है कि भारतीय समाज संरचना में वर्ण अथवा जाति एक महत्वपूर्ण घटक है। हिंदू संस्कृति का यह आधार और प्राण है। जाति के बिना व्यक्ति की पहचान या परिचय अधूरा रहता है। जन्म के साथ ही व्यक्ति के साथ उसकी जाति का लेबल चिपका रह जाता है जो मृत्यु तक उसके साथ लगा रहता है। जाति ही समाज में व्यक्ति की श्रेष्ठता और हीनता तथा सम्मान और अपमान का आधार है।

मार्क्स ने कहा था कि "व्यक्तिगत संपत्ति के समूल विनाश अंत के बाद ही मनुष्य की उसकी मनुष्यता का विकास संभव है। भारतीय समाज के संदर्भ में मैं यह कहूँगा कि यहाँ जाति व्यवस्था के अंत के बाद ही मनुष्य और उसकी मनुष्यता का विकास होगा. भारतीय समाज के विकास के लिए जाति व्यवस्था और उससे जुड़ी मानसिकता का अंत ज़रूरी है।"[2]

---

[1]. बौद्ध धर्म के विकास में डॉ.अम्बेडकर का योगदान, पृ.126

[2]. युद्धरत आम आदमी, रमणिका गुप्ता, पृ.51, अंक 1999

जाति व्यवस्था हिंदू समाज का मुख्य लक्षण है। असमानता ही इसका प्रमुख लक्षण है। एक जाति दूसरे जाति से भिन्न होती है। भिन्न भिन्न दो जातियों में समानता दिखाई नहीं देती। जाति के नाम पर ही भिन्न-भिन्न श्रेणियों में लोगों को बाँटा गया, जिससे सामाजिक स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं आया। मजबूरन बेटे को अपने बाप का पेशा ही करना पड़ा चाहे वह जितना ही प्रतिभाशाली क्यों न हो।

सलाम कहानी में सलाम पर आने के लिए हरीश के पिता मना करते हैं। गाँव के बल्लू रांघड जुम्मन के घर आता है और कहता है कि "तभी तो कहूँ-जातकों (बच्चों) कू स्कूल ना भेज्जा करो। स्कूल जाके कोण-सा इन्हें बालिस्टर बणना है। ऊपर से इनके दिमाग चढ़ जांगें। यों न घर के रहेंगे न घाठ के। गाँव की नाक तो तूने पहले ही कटवा दी जो लौंडिया कू दसवीं पास करवा दी। क्या जरूरत थी लड़की कू पढ़ाने की, गाँव की हवा बिगाड़ रहा है तू। इब तेरा जँवाई 'सलाम' पे जाणे से मना कर रहा है...उसे समझा दे...'सलाम' के लिए जल्दी आवे..." आगे कहता है कि "इन सहर वालों कू कह देणा कव्वा कभी भी हंस न बण सके है।"[1]

बारात में आए एक लडके ने रोटी खाने से मना किया है और कहता है कि "नहीं...नहीं, मैं मुसलमान के हाथ की बणी रोट्टी नहीं खाऊँगा...नहीं खाऊँगा...नहीं खाऊँगा।"[2]

सपना कहानी में नटराजन गौतम से कहता है कि "वहाँ गेट के पास चले जाओ। जो भी भीतर आए उनसे जूते उतारने के लिए कहो। जूते पहनकर कोई पंडाल में न आए। और जूतों पर नजर रखना, एसे में जूता चूराने वाले मँडराते रहते हैं।"[3] सच यह है कि गौतम एस.सी है वो पंडाल में सबसे आगे बैठा था, नटराजन जो ब्राह्मण है, इसको सह नहीं सका।

'भय' कहानी में रामप्रसाद तिवारी और दिनेश दोनों दोस्त और एक ही कॉलनी में रहते थे। रामप्रसाद तिवारी को पता नहीं कि दिनेश दलित है। दोनों में गहरी आत्मीयता थी। दिनेश यह भी जानता था कि जिस रोज दोनों के बीच जाति आ जाएगी, यह आतमीयता पानी का बुलबुला साबित होगी।

---

[1].सलाम,ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.18

[2].सलाम,ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.19

[3]. सलाम,ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.27

'कहाँ जाए सतीश' कहानी में मिसेज पंत को तब तक पता नहीं चलता कि सतीश दलित है वह उसको घर में आने देती है। जब पता चलता है कि सतीश दलित है कहती है कि "हाँ...अब यही तो बचा है, बाप-दादों की परंपरा खत्म कर दी। एक डोम को घर में रख लिया। सोनू तो उसका जूठा तक खा गई ...मेरी तो समझ में नहीं आ रहा है, प्रायश्चित कैसे होगा...मिसेज गुप्ता के कान में भनक भी लग गई तो वह पूरे शहर में ढ़िंढ़ोरा पीट देगी...मिसेज पंत ने एक डोम को घर में रखा, किराएदार बनाकर। अगर मुझे पता होता तो घर में घुसने भी न देती उसे। जैसे वह वापस अएगा उसका सामान उठाकर बाहर फेंको। मुझे तो उसके कपड़ों से भी बदबू आने लगी है।"[1]

'पच्चीस चौका डेढ़ सौ' कहानी में सुदीप पच्चीस का चौका गलत रटता है तो मास्टर आँखे तरेर कर चीखा "अबे तेरा बाप इतना बड़ा विद्वान है तो यहां क्या अपनी माँ...(एक क्रिया-जिसे सुसंस्कृत लोग साहित्य में त्याज्य मानते हैं)...आया है साले; तुम लोगों को चाहे कितना भी लिखाओ, पढ़ाओ...रहोगे वहीं-के-वहीं...दिमाग में कूड़ा-करकट जो भरा है। पढ़ाई-लिखाई के संस्कार तो तुम लोगों में आ ही नहीं सकते।चल बोल ठीक से...पच्चिस चौका सौ...स्कूल में तेरी थोड़ी-सी तारीफ क्या होने लगी पाँव जमीन पर नहीं पड़ते। ऊप्पर से जबान चलावे है। उलटकर जवाब देत्ता है।"[2]

'जिनावर' कहानी में जगेसर चौधरी का नौकर था। दो वक्त की रोटी साल में एक-दो बार कपड़े कभी-कभी उतरन से ही काम चल जाता था। जगेसर की आदत थी, जो मिला खा लिया, जो दिया पहन लिया। जरूरतें भी सीमित थीं। चोटा-सा या जब बापू ने चौधरी के हवाले कर दिया था। जब बापू मरे, जगेसर दस बरस का था, एक साल बाद माँ भी चल बसी थी। उसके बाद तो वह चौधरी का ही हो गया था। उसे तो पता भी नहीं चला कि बापू ने ऐसा क्या कर्ज लिया था जो उम्र भर की गुलामी उसके हिस्से में आई थी। अब तो वह चौधरी से अलग कुछ भी सोच नहीं पाता है। चौधरी को छोड कर वह जाए भी तो कहाँ जाए।

'कुचक्र' कहानी में निशिकान्त शर्मा जी कहता है कि "रीढ़-वीढ़ कुछ नहीं शर्मा जी...मर-मरकर काम करें हम और प्रोमोशन मिले इन भंगी-चमारों को ...बस शर्मा जी अब तो सेंटर

---

[1]. सलाम,ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.51

[2]. सलाम,ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.82

में बदलाव आना ही चाहिए ...नहीं तो ये लोग देश को तबाह कर देंगे...ये जाहिल और मूर्ख लोग सरकारी पदों पर बैठकर देश को कहीं का नहीं छोड़ेंगे। एक बार नौकरी में जब आरक्षण मिल गया तो फिर प्रोमोशन में कितनी कुंठा है। द्वेष भावना बढ़ गई है। अंग्रेज ऐसा बीज बो गए हैं कि बस अब पता नहीं कब तक भुगतना

पड़ेगा..."[1]

'खानबदोश' कहानी में ठेकेदार जसदेव जो ब्राह्मण है उससे कहता है कि "अपने काम से काम रखो। क्यों इन चमारों के चक्कर में पडते हो।"[2] जसदेव मानो के हाथों से बनाई रोटी इसलिए नहीं खाता है क्योंकि वह दलित है।

'घुस पैठिए' कहानी में राकेश की पत्नी 'इन्दु' कहती है कि "तुम चाहे जितने बड़े अफसर बन जाओ, मेल-जोल इन लोगों से ही रखोगे, जिन्हें यह तमीज भी नहीं है कि सोफे पर बैठा कैसे जाता है...तुम्हें इनसे यारी-दोस्ती करना है तो घर से बाहर ही रखो...आस-पड़ोस में जो थोड़ी-बहुत इज्ज़त है, उसे भी क्यों खत्म करने पर तुले हो...गले में ढ़ोल बाँधकर मत घूमो...यह जो सरनेम लगा रखा है...यही क्या कम है...कितनी बार कहा है कि इसे बदलकर कुछ अच्छा-सा सरनेम लगाओ...बच्चे बड़े हो रहे हैं...इन्हें कितना सहना पड़ता है। कल पिंकी की सहेली कह रही थी... रैदास तो जूते बनाता था...तुम लोग भी जूते बनाते हो... पंकी रोते हुए घर आई थी... मेरा तो जी करता है बच्चों को लेकर कहीं चली जाऊँ ..."[3]

'यह अंत नहीं' कहानी में चौधरी कहता है कि "ओए ! बिसना...जमाना अभी भी पहले ही वाला है, तू मुझे सीख दे रहा है। अपणी प्रधान सिंभाल। कहीं वो ही सबेरे में ना पड़ जावें। होगा वो ही जो हम चाहेंगे। स.पी. तक सभी अपणी जात के हैं। एक एक कू अंदर करा दूँगा। ज्यादा तीन पाँच करेंगे तो एनकाउंटर में मारे जाँगे बिना मौत..."[4]

---

[1].सलाम,ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.105

[2].सलाम,ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.130

[3].घुस पैठिये,ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.14-15

[4]. घुसपैठिये,ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.26-27

शवयात्रा कहानी में कल्पना डॉक्टर के पास जाता है और कहता डॉक्टर साहब एक बार चलके तो देख लो? मरज को यही आपके क्लीनिक में लेकर आ जाता है।

डॉक्टर कहा कि "नहीं ...यहाँ मत लाना...कल से मेरी दुकान ही बन्द हो जाएगी। यह मत भूलो तुम बल्हार हो।"[1]

'प्रमोशन' कहानी में सुरेश सूपरवाइजर से कहता है कि "साहब,दूध ले आया हूँ...लेकिन...कोई दूध ले नहीं रहा है।" सूपरवाइजर अब्दुल से कहता है कि क्या बात है? "साहब, आपको नहीं पता...सुरेश स्वीपर हैं...उसके हाथ की चीज कोई केसे खा-पी सकता है।"

'कूडघर' कहानी में अजबसिंह की पत्नी कहती है कि "डॉक्टर साहब और उनकी घरवाली मकान खाली करने को कहती है" आगे कहती है कि "बस, अचानक आए और कहने लगे...मकान खाली कर दो...तुम लोगों ने मकान किराए पर लेते समय यह नहीं बताया था कि तुम लोग एस.सी. हो।"[2]

'दिनेशपाल जाटव ऊर्फ दिग्दर्शन' कहानी में जब दिनेशपाल संपादक से मिलने गया था तब संपादकने कहा था कि "आप इतनी दूर से बिना पूर्व सूचना के आए हैं...इससे आपका तो नुकसान हुआ ही है, मेरा भी समय खराब कर रहे हैं...(थोड़ा रुककर)...आपका नाम सुना है...अच्छा लिखते हैं, लिखते रहिए। हमारे साप्ताहिक में भी लिखिए...पत्रिका में फँसकर तो लेखक की मौत हो जाती है। आप यहाँ क्यों आना चाहते हैं? यह जगह आप जैसे प्रतिभावान लोगों के लिए नहीं है।"[3] वह बाहर निकला तो पीछे से आवाज सुनाई दी "अब पत्रिकाओं में भी आरक्षण माँगनेवाले आने लगे...अब भंगी-चमार भी सम्पादक बनेंगे..."

---

[1]. घुसपैठिये,ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.40

[2]. घुसपैठिये,ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.57

[3]. घुसपैठिये,ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.68-69

2.6.2.रीति रिवाज :

जातीय व्यवस्था के तहत विभाजित जातियों के रीतिरिवाज अलग-अलग हैं, उनमे मेल तो है ही नहीं। उल्टे सच तो यह है कि भारत में एक समाज और एक जाति दूसरे समाज या जाति के अनिष्ट पर फलती है। सब के आपसी हित एक दूसरे के विपरीत बनकर रखे गये हैं। जो एक प्रकार दूसरे के प्रति एक प्रकार की घृणा सिखाते हैं। यह घृणा दूसरे को नीचा और अपने को श्रेष्ठ साबित करके सिद्ध की जाती है और यही श्रेष्ठता उनमें वर्चस्वता की भावना को पुष्ट करती है, जो प्रायः शत्रुता में बदल जाती है।

'सलाम' कहानी में जुम्मन की घरवाली जिन परिवारों में काम करती थी, उनमें अधिकतर रांघड़ थे। गाँव-देहात के नियम-कायदे के हिसाब से हरीश को सलाम के लिए विदाई के पहले रांघड़ के दरवाजे पर जाना था। यह एक रस्म थी। जिसे न जाने कितनी सदियों से निभाया जा रहा था। जुम्मन ने जोर देकर कहा है कि "दामाद हो या नई-नवेली दुल्हन 'सलाम'-के लिए घर-घर जाने का रिवाज है, जो हमने नहीं पुरखों ने बनया था। जिसे इस तरह छोड़ देना ठीक नहीं है। गाँव में रहना है। दस जरूरतें हैं।"[1] 'सपना' कहानी में नटराजन कुछ ज्यादा ही व्यस्त था। आज वह स्वयं भी एक पतली-सी सफेद लुंगी पहनकर आया था घर से वह नंगे पाँव चल कर आया था। माथे पर लगा चंदन ज्यादा चौडा और ताजा था। कमर से ऊपर सिर्फ जनेऊ था। उसकी व्यस्तता बरबस ध्यान खींच रही थी. नटराजन कहता है कि "ये गौतम...एस.सी. है।...पूजा अनुष्ठानों में उन्हें आगे नहीं बैठाया जा सकता ? यह रीत है। शास्त्रों की मान्यता है।"[2]

'गोहत्या' कहानी में गोहत्या की जाती है। तब मुखिया कहता है कि "ये लोग धरम-ईमान क्या जानें। साले नीच पैदा हुए हैं तो नीच ही रहेंगे। इनकी तो चमड़ी उधेड़कर भूसा भर देना चाहिए...बलेसर, जोखू, रग्घू, चिमड़ा और ये सुक्का। इन पाँचों में से ही किसी एक का हाथ है..." सरपंच कहता है कि "तो ठीक है। ये पाँच परचियाँ हैं। इन पर पंडित रामसरन ने पाँचों के नाम लिख दिए हैं। इन्हें मैं

---

[1]. सलाम,ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.16

[2]. सलाम,ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.29

इस ताँबे के लोटे में डाल रहा हूँ। जिसके नाम की परची निकलेगी वही गऊमाता का हत्यारा होगा।"[1]

'पच्चीस चौका डेढ़ सौ' कहानी में सुदीप के पिता चौधरी पर विश्वास रखता है और कहता है कि "तेरी किताब में गलत भी तो हो सके ...नहीं तो क्या चौधरी झूठ बोल्लेंगे। तेरी किताब से कहीं ठाड्डे (बड़े) आदमी हैं चौधरी जी। उनके धोरे (पास)तो ये मोट्टी-मोट्टी किताबें हैं...मास्टर से कहणा सही-सही पढ़ाया करे..."[2]

'ग्रहण' कहानी में गाँव भर की औरतें, बच्चे, जवान घर में बंद हो चुके थे। सिर्फ वे बुजुर्ग महिलाएँ ही दरवाजे पर बैठी थी जिन्हें दान का अनाज बाँटना था। अपने परिवारों को आपदाओं से बचाना था।

'जिनावर' कहानी में सास बहू से साफ कहती है कि "इस घर का तो रिवाज़ ही है। औरत सिर्फ इस्तेमाल की चीज है। इस घर में रिश्तों की मर्यादा का कोई मतलब ना है बहू। जिंदगी सुख-चैन से काटनी है तो समझौता कर ले...।"[3]

'ब्रह्मास्त्र' कहानी में पंडित एक जगह कहता है कि "नैथानी जी, आप लोग तो भ्रष्ट हो गए हैं...पुरखों की रीत को भूलकर इन डोम-चमारों से दोस्ती करने लगे हैं...मैं कहे देता हूँ, वह बारात में नहीं जाएगा।" आगे पंडित कहता है कि "नैथानी जी, जब टिहरी के लोगों को पता चलेगा कि उनके दरवाजे पर एक डोम बाराती बनकर खड़ा है तो उन पर क्या बीतेगी। कभी सोचा है आपने...कौन देगा उनके सवालों का जवाब।"[4]

निष्कर्ष :

मनुष्य की क्रियाओं के आधार पर मनुष्य के विभिन्न प्रकारों को समाजीकृत निर्धारित किया जा सकता है। क्योंकि मनुष्य अपने जीवन विकास के क्रम में विभिन्न प्रकार के संबंधों की स्थापना दूसरे व्यक्तियों से किया करता है जिनके अंतर्गत मुख्य रूप से सामाजिक-पारिवारिक, सामाजिक-आर्थिक,

---

1. सलाम,ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.61
2. सलाम,ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.80
3. सलाम,ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.99
4. सलाम,ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.84

सामाजिक-धार्मिक, सामाजिक-राजनैतिक, सांस्कृतिक संस्थात्मक संबंध आते हैं और इसी प्रकार सामुदायिक अंतःक्रियाओं और काल को दृष्टि में रखकर समाज के भी विभिन्न प्रकारों की परिकल्पना की जा सकती है।

ओमप्रकाश वाल्मीकि जी की कहानियों में दलित सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों से जूझ रहे हैं। कहीं-न-कहीं जात-पात का सामना करना पड़ता है। इस समाज व्यवस्था में विषमता की बुनियाद है जो हिंदुओं को जन्म के आधार पर श्रेष्ठ मानती है इस व्यवस्था में ब्राह्मण ही श्रेष्ठ है, उसे ही पूरे क्षेत्र पर आधिकार भी प्राप्त हैं। यह विषमता मानव निर्मित समाज-व्यवस्था की देन है। दलितों की दुर्दशा के मूल में धर्म, वर्ण-व्यवस्था की सज़िश है। इसलिए इन्हें पशुवत समाज की मुक्ति के लिए यहाँ कुछ महान योद्धाओं ने कार्य किया जिसेमें महात्मा ज्योतिराव फूले, शाहू महाराज, आगे चलकर डॉ.बाबासाहब अम्बेडकर ने दलितों को जन्म अधिकार दिलवाने हेतु जीवन पर्यंत संघर्ष किया, और मनुष्यत्व दिलाया।

आर्थिक स्थिति ही मनुष्य के संतोष और उसके विविध वस्तुओं को प्राप्त करने का माध्यम है। जीवन में जिन साधनों की अपेक्षा रहती है वे 'अर्थ' के बिना सुलभ नहीं है अर्थात मानवशास्त्र का जीवन ही 'आर्थिक' स्थिति पर निर्भर है। इसलिए कहा जाता है कि 'धनम् मूलम् इहम् जगत।' अर्थात धन ही सबका मूल है। लेकिन यह उक्ति दलितों के संदर्भ में सही प्रतीत नहीं होती क्योंकि इस व्यस्था में धन सबके मूल में नहीं है बल्कि 'जाति' ही अहम मुद्दा है।

'चातुर्वण्य व्यवस्था' में दलितों की सभी स्थितियाँ अत्यंत दयनीय थीं। मंदिरों में उनके प्रवेश पर प्रतिबंध, खान-पान तथा मिलने-जुलने में छुआ-छूत, शादी-विवाह में भेद-भाव पुरोहितों एवं समुदाय के अन्य सेवा-कर्मियों की सेवाओं से वंचित, ब्राह्मणों के समान रीत-रिवाजों, त्योहारों आदि के न मनाने पर रोक आदि के कारण दलितों की स्थिति जानवरों से भी बदत्तर रही है। सवर्णों के पास 'धर्म' नाम की ऐसी चाबी थी जिससे सभी समस्याओं का मार्ग अपने आप खुलता था। यहाँ के धर्म ने दलितों को पशु समान माना है। अपने धर्म ग्रंथों में ऐसी झूठी घटनाएँ रची है जिससे दलितों का जीवन विपन्नावस्था को प्राप्त होता है। इस देश में 'धर्म' के नाम पर ब्राह्मणों ने अपने आप को सुरक्षित रखा और दलितों को दास बनाया। आज भी ब्राह्मणवादी अपने 'धर्म' के नाम से सत्ता हासिल कर रहे हैं।

आज़ादी तो मिली है। पर आज़ाद भारत में सुख का अधिकार कुछ विशिष्ट वर्ग व चंद चालाक लोगों ने हस्तगत कर लिया है। दूसरे शब्दों में आज़ादी के फल प्राप्त करने के दावेदार के रूप में केवल राजनेता, जन प्रतिनिधि, पूँजीपति और सामंत ही आते हैं। दलित वर्ग के हित में योजनाएँ तैयार तो की जाती हैं, लेकिन उन पर कब्जा इन्ही लोगों का है। छोटी सी छोटी समस्या के समाधान के लिए दलितों को अधिक से अधिक संघर्ष करना पड़ रहा है। दलित एक तरफ़ आज़ादी के फल और सुख-सुविधाओं से वंचित होकर बढ़ते व्यक्तिगत भेदभाव, संप्रदायिकता, शोषण के शिकंजों में फँसकर मुक्ति की राह तलाशते हुए छटपटा रहा है।

****

तृतीय अध्याय

हिन्दी का दलित साहित्य और जूठन : आत्मकथा

प्रस्तावना :

3.1.दलित आत्मकथाओं का यथार्थ

3.2.जूठन में सामाजिक चित्रण

3.2.1.परंपरागत मूल्य 'जाति-व्यवस्था'

3.2.2.विद्यालय

3.2.3.दलित बस्ती

3.2.4.हीनताबोध

3.2.5.सामाजिक क्रूरता की पराकाष्ठा 'यातना'

3.2.6.दलितों के मन में उभरा आक्रोश

3.2.6.1.सामाजिक विद्रोह

3.3.जूठन में आर्थिक चित्रण

3.3.1.सामन्ती समाज में 'जुल्म'

3.3.2.श्रम का मूल्य 'जूठन'

3.3.3.आरक्षण का विरोधी स्वर

3.3.4.सूचना क्रांति का अभाव

3.4.जूठन में धार्मिक चित्रण

3.4.1.अस्पृश्यता का पोषक हिन्दू समाज

3.4.2.कट्टरता का प्रतीक 'मुसलमान'

3.4.3.भाईचारे का प्रतीक 'ईसाई'

3.4.4.बौद्ध धर्म एवं दलित

3.4.4.1.बौद्ध धर्म स्वीकार पूर्व दलितों की स्थिति

3.4.4.2.बौद्ध धर्म स्वीकार के बाद दलितों की स्थिति

3.5.जूठन में राजनीतिक चित्रण

3.5.1.दलित सत्ता एवं बनाम दलित पार्टियाँ

3.5.2.वैज्ञानिकता की परख

3.6.जूठन में सांस्कृतिक चित्रण

3.6.1.समता की संवाहक 'दलित संस्कृति'

3.6.1.1.दलित त्योहार

3.6.1.2.वेश-भूषा

3.6.1.3.विवाह

3.6.1.4.अंधविश्वास

3.6.1.5.बलिदान

निष्कर्ष

तृतीय अध्याय

हिन्दी का दलित साहित्य और जूठन : आत्मकथा

प्रस्तावना :

दलित जीवन की पीड़ाएँ, सवर्णों द्वारा बेहद क्रूर और अमानवीय व्यवहार को लेखक ने आत्मकथा के रूप में 'जूठन' में प्रस्तुत कर भारतीय समाज में हलचल पैदा कर दी। ओमप्रकाश वाल्मीकि की यह कृति दलितों की नारकीय जीवन की झांकी को प्रस्तुत करने वाली रचना है। आज़ादी के छः दशक और आधुनिकता के तमाम आयातित अथवा मौलिक रूपों को भीतर तक आत्मसात कर चुकने के बावजूद दलितों का जीवन यातनाओं, उपेक्षाओं से भरा पड़ा है। असहनीय पीड़ाएँ, कुंठित और अपमानित जिन्दगी को लेखक ने अपने अनुभव-दग्ध के माध्यम से पाठकों को दलितों की असहायता, क्रोध और आक्रोश को यथार्थ रूप से अवगत करवाया है।

दलित आत्मकथा आज दलित समुदाय के विविध आयामों को अपने अंदर समेटकर शोषण के हर उस पहलू की एक समाजशास्त्र की चिकित्सक दृष्टि से चिरफाड़ करके सामाजिक व्यवस्था और उसके अंतःसंबंधों की पड़ताल करता हुआ दिखाई देता है। दलित आत्मकथनों में उपस्थित समस्या और प्रश्न व्यक्तिगत संदर्भों से नहीं बल्कि समुदायगत संदर्भों से जुड़कर उभरते हैं जब दलित रचनाकार अपने जीवन अनुभवों के माध्यम से दलित जीवन की त्रासदी को रचनात्मक अभिव्यक्ति देता है तो वह संपूर्ण दलित समुदाय के सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक सरोकारों को उज़ागर करता है। हिन्दी दलित साहित्य में आत्मकथन की विधा के अन्तर्गत समाहित रचनाएँ अभी संख्या में कम हैं, लेकिन सैकड़ों हिन्दी साहित्य की रचनाएँ जहाँ दलित जीवन की वास्तविकता को उसके सच्चे रूप में अभिव्यक्ति देने में सक्षम नहीं हो सकती, वहाँ केवल एक दलित आत्मकथन संपूर्ण व्यवस्था और उससे जुड़ी शोषण-संस्थाओं के शोषण, जटिलता, घृणित परंपरा और साजिशों को हमारे समक्ष खोलकर रख देती है। जैसे भारतीय साहित्य में दलित साहित्य का आरंभ मराठी दलित साहित्य द्वारा हुआ या वैसे ही आत्मकथानात्मक रचनाओं की शुरुआत सबसे पहले मराठी दलित साहित्य में हुई है।

मराठी दलित साहित्य में आत्मकथनों के सृजन का दायरा बहुत विस्तृत है। केवल दलित समुदायों की रचनाओं तक ही यह सीमित नहीं है, बल्कि उन सभी उत्पीड़ित समुदायों के जीवन यथार्थ

के दस्तावेजों को आत्मकथनों द्वारा समेटकर मुक्तिकामी साहित्य विमर्श के रूप में विकसित किया जा रहा है। मराठी दलित आत्मकथन और हिन्दी आत्मकथन दोनों ही दलित मुक्ति आन्दोलन से निर्मित चेतना की ही रचनात्मक अभिव्यक्ति है। और दलित मुक्ति आन्दोलन के प्रणेता डॉ.बाबा साहेब आंबेडकर की विचारधारा से प्रस्फुटित यह साहित्यिक आविष्कार है। डॉ.अम्बेडकर ने साहित्य शक्ति के बारे में कहाँ था- "हमारे देश में उपेक्षितों, दलितों का बहुत बड़ा संसार है, इसे भूलना नहीं चाहिए। उनकी वेदना, उनकी व्यथा को संवेदनशीलता से समझने की कोशिश करो और अपने साहित्य के द्वारा उनके जीवन को उन्नत बनाने का प्रयास करो।"[1] ओमप्रकाश वाल्मीकि द्वारा लिखित आत्मकथा 'जूठन' ने दलित साहित्य और आत्मकथा लेखन को एक नया रास्ता दिखाया है। सन् 1950 से लेकर 1993 तक भारत के दलितों की क्या समस्या थी, यह हमें 'जूठन' का अध्ययन करने से समझ में आती है। 'जूठन' में ओमप्रकाश वाल्मीकि ने अपनी स्वतः की आत्मकथा को अक्षरों का रूप देकर हिंदी दलित साहित्य में तहलका मचा दिया है।

वस्तुतः 'जूठन' आत्मकथा वाल्मीकि की न होकर यह सारे देश में रहने वाले दलितों की आत्मकथा है।

3.1. दलित आत्मकथाओं का यथार्थ :

आत्मकथाएँ पहले से ही लिखी जा रही हैं कई साहित्यकार हैं जिन्होंने सक्रियता के साथ आत्मकथाएँ लिखी हैं परन्तु उनकी आत्मकथाएँ और दलित साहित्यकारों द्वारा लिखित आत्मकथाओं में मूलभूत अन्तर होता है। यह प्रश्न भी अनेक बार उठ चुका है कि दलित लोग सोच-समझकर आत्मकथा ही क्यों लिख रहे हैं? क्या ये दलित साहित्यकार के दबाव में आत्मकथाएँ नहीं लिख रहे हैं? ऐसे सवालों का उत्तर देते हुए श्यौराज सिंह 'बेचैन' का कहना है, 'रही बात दबाव में लिखने की तो यह काम वही लोग कर सकते हैं, जिनको लिखने से जबरन रोका गया।' सोच-समझ कर लिखने का प्रश्न कोई प्रश्न नहीं है ऐसा कौन सा लेखन है जो बिना-सोचे समझे हो जाता है। अपितु सोच-समझ कर किया गया काम तो और भी अच्छा होता है। वैसे शोषित लोगों को जब भी शिक्षा प्राप्त करने का

[1].दलित साहित्य 2001- जयप्रकाश कर्दम, पृ.56

अवसर मिला, उसने उसे प्राप्त करने का अवसर नहीं गंवाया और पढ़-लिखकर उसने जब अपनी व्यथाओं को लिपिबद्ध करना आरम्भ किया तो उसने सबसे पहले आत्मवृत्तांत ही लिखना आरम्भ किया। "अमेरिका के अश्वेतों और रेड-इंडियन ने जब लेखन के द्वारा आन्दोलन में जागरूकता लानी आरम्भ की तब सबसे पहले उनमें से नब्बे प्रतिशत ने आत्मकथाएँ ही लिखीं. विश्वभर में ऐसे लोगों ने अपनी समस्याओं की वैचारिक शुरुआत आत्मकथा लेखन से ही की, क्योंकि आत्मकथा एक प्रामाणिक अभिलेख के रूप में सामने आती है। इस प्रामाणिक अभिलेख की विश्वसनीयता से शोषक हमेशा घबराता रहा है। साथ ही-साथ आत्मकथा भुक्तभोगी समुदाय में एक विशेष प्रकार की जागृति का कार्य करती है, जो उस समाज में वैचारिक उत्तेजना का संचार करती है।"[1] हिन्दी में मराठी की प्रेरणा से सत्तर-अस्सी के दशक में दलित लेखन आरम्भ हुआ। हिन्दी में प्रमुख आत्मकथाएँ हैं- 1.ओमप्रकाश वाल्मीकि 'जूठन' 2.मोहनदास नैमिशराय की 'अपने-अपने पिंजरे' 3.कौशल्या बैसंत्री की 'दोहरा अभिशाप', इन रचनाओं में जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं-जातिवाद, रोटी, कपड़ा और मकान का व्यापक उल्लेख हुआ है। यही नहीं इन आत्मकथाओं में अपने समाज का सम्पूर्ण दैन्य, दारिद्र्य, अज्ञान, संस्कृति-विकृति, धर्म, मनोरंजन आदि बातों को भी रेखांकित किया है। इसका यह कदापिअर्थ नहीं हैं कि ये आत्मकथाएँ समाजशास्त्र की पुस्तकें मात्र हैं कलात्मक स्तर तक ये पहुंची हुई हैं एक परिसंवाद में लक्ष्मण माने ने कहाँ है कि- "हमारे समाज में एक जाति के दुख का पता दूसरी जाति को नहीं होता। संवेदनाओं का आदान-प्रदान भी यहाँ नहीं हुआ है। साढ़े तीन प्रतिशत लोगों द्वारा लिखे गये मराठी साहित्य में समाज के दुर्बल वर्ग का चित्रण नहीं हुआ है।"[2] कम-अधिक मात्रा में यही स्थितियाँ, दरिद्रता और संघर्ष की स्थिति से इनका व्यक्ति विकसित होता गया है। इस कारण इन आत्मकथाओं का मूल्यांकन सामाजिक और आर्थिक स्थिति के सन्दर्भ में करना पड़ता है। इन आत्मकथाओं का शिल्पगत ढ़ाँचा कहाँनी के शिल्प के अधिक निकट है। प्रत्येक प्रकरण अपने-आप में अर्थपूर्ण और स्वायत्त होता है। यूँ तो वह एक-दूसरे के साथ जुड़ा हुआ भी होता है, लेकिन उसकी स्वतन्त्र सत्ता के कारण ही उसके किसी अंश को कहाँनी विधा के अन्तर्गत रखा जा सकता है।

---

[1].कथाक्रम, जनवरी-मार्च, 2004, पृ.53

[2]. दलित विमर्श के विविध आयाम, डॉ.वीरेंद्र सिंह यादव, पृ.268

आत्मकथा के लेखनपर परम्परावादी लेखकों द्वारा उठाये गये प्रश्नों का उत्तर देते हुए हरपाल सिंह अरूप का मानना है कि- "जिनके सामने शिक्षा, स्वास्थ्य, रो ज़गार और आर्थिक प्रगति के प्रश्नों से पहले मानवीय गरिमा के साथ जीने का प्रश्न प्रमुख है, जिनके सामने बड़ी-बड़ी परियोजनाओं के दोहन स्वरूप ज़मीन, जंगल और मकान से उजड़ जाने का दुर्भाग्य राक्षस की तरह मुंह बाये खड़ा है, जिनको अपने मूल स्थानों से विस्थापन झेलने की लाचारी से दो-चार होना पड़ रहा है, जिनको पर्यावरण और प्रदूषण की मार झेलती जिन्दगी को जीवन मानने के लिए मजबूर होना पड़ रहा है, वे अपनी व्यथा-कथा को यदि व्यक्त करना चाहते हैं तो उन्हें साहित्य की किसी ऐसी विधा की दरकार तो होगी ही जो उनके अनुभवों और सोचों को पूरी शिद्दत के साथ सामने ला सकी। दलितों के जीवन के यथार्थ को अभिव्यक्ति देने के लिए सामाजिक, आर्थिक विद्रूपताओं और असंगतियों को झेलने वाले की भीतरी कश्मकश को सामने लाने की आवश्यकताओं को जो विश्वसनीयता से वहन कर सके, किसी ऐसी विधा की आवश्यकता दलित साहित्यकारों के द्वारा महसूस की ही जानी चाहिए। व्यष्टिगत अनुभवों की समष्टिगतता प्रदान करने के लिए परिवेश के यथार्थ को झेलते, देखते, अनुभव करते केन्द्रीय पात्र के लिए आत्मकथा लिखने से बढ़कर और कोई उपाय नहीं हो सकता।"[1]

'अपने-अपने पिंजर'- हिन्दी की एक अन्य महत्त्वपूर्ण आत्मकथा मोहनदास नैमिशराय की 'अपने-अपने पिंजरे' है। लेखक ने जो परिवेश चित्रित किया है उसमें मुस्लिम वातावरण का जीवंत वर्णन है, जो जीवन की छोटी-छोटी घटनाओं से बनता है। यहाँ दलितों के विकट हालात दुःख भरे हैं परन्तु ऐसी स्थितियों के क्षणों में भी वह उम्मीद-उत्साह के साथ आगे बढ़ता है, वह रोता ही नहीं गाता भी है, हंसता भी है और प्रेम भी करता है। नैमिशराय ने मेरठ की भाषाई सहजता को बिना कृत्रिम अभ्यास के यह दुःख दर्ज किया है जो अद्‌भुत है। गरीबी एवं जातिवाद के दृश्य 'अपने-अपने पिंजर'` में दग्ध रूप में देखे जा सकते हैं गर्मी का मौसम है। रास्ते में इन्हें प्यास लगती है। वे एक गाँव में जाते हैं और एक व्यक्ति से राम-राम का अभिवादन करते हैं इसके बाद मोहनदास नैमिशराय लिखते हैं- "प्यास से मेरा दम ही निकलां जा रहा था। वे दोनों ही हमारी तरफ़ गौर से देखे जा रहे थें. पानी तक को उन्होंने

[1].कथाक्रम, जानवरी-मार्च, 2004, पृ.48

न पूछा था हमसे. मेरा मन भीतर से पानी-पानी चिल्ला रहा था। थोड़ी देर बाद उनमें से एक ने पूछा "कित्त गाँव जाओंगे?" निठारी गाँव, भइया ने उत्तर दिया किसके हियां-अब दूसरे ने सवाल किया था? "सुजान के यहाँ" भइया ने कहाँ। उनमें से एक ने पूछा- "जो चमार है।" "हाँ भइया के मुँह से निकला था। अचानक दोनों के तेवर बदल गए थे। तो म्हार घर अग्गे कियों खड़े हो? जाओ सिद्दे-सिद्देक, आगे चमारों के घर पड़ेंगे पैले। वे सांप की तरह फुंफकारते थें। "हमें पानी पिला दो, बड़ी प्यास लगी है", भइया के स्वर में गिड़गिड़ाहट के भाव थे। "म्हरे घर चमारों की खातिर पानी ना है।"[1]

रजतरानी मीनू की टिप्पणी है कि "'अपने-अपने पिंजरे' की भाषा शैली उपन्यासात्मक है। लेखक ने पूरे मेरठ के चमारों की पीड़ा को विस्तार में यथार्थ के साथ शब्दबद्ध करने का प्रयास किया है। नैमिशराय अपनी वर्गीय यंत्रणा को लेकर पूरी आत्मकथा में चिन्तित दिखाई पड़ते हैं जातीय उपेक्षा की स्थिति हर स्थान पर विद्यमान रही है। चाहे गाँव हो या शहर अथवा मठ मन्दिर या गंगा घाट ही क्यों न हो। यहाँ एक मेले में आये हर तीर्थ यात्री को भी जातिभेद की बीमारी परेशान करती है। हमारी जाति के लोग किस तरफ़ हैं, पता चल जाता था?"[2]

दोहरा अभिशाप- हिन्दी में मराठी क्षेत्र की महिला कार्यकर्त्ता कौशल्या बैसंत्री ने आत्मकथात्मक उपन्यास 'दोहरा अभिशाप' शीर्षक से लिखा। विवाह-पूर्व के उनके सारे अनुभव महाराष्ट्रीय हैं उन्होंने दलितों की उपजाति भेद भूलकर अति पिछड़ी जाति के अधिकारी से शादी की। सन्तानों को अन्तर्जातीय विवाह करने की उन्होंने प्रेरणा दी। महिलाओं को संगठित करने के प्रयास किए, वृद्धावस्था में भी न्यूनाधिक सक्रिय रहीं। कुनबी महिलाओं के साथ जो अनुभव इन्हे हुआ उसके बारे में लिखती हैं- "...कुनबी लड़कियों ने पूछा मेरी जाति क्या है? मैंने डर के मारे कह दिया मैं भी कुनबी जाति की हूँ. उन्होंने पूछा तिलेले हो या खैरे? मुझे उनकी उपजाति के नामों का पता चला। मैं मन में सटपटा गई थी, परन्तु उनकी बात सुनकर मैंने कहाँ मैं तिलेले कुनबी हूँ...।" वे आगे लिखती हैं- "उसकी दादी ने एक प्लेट में दो सूजी के लड्डू और एक गिलास में पानी मेरे आगे रखा और बड़े आग्रह से मुझे खाने को कहाँ। मैं डर-डर के खा रही थी और जल्दी वापस जाना चाह रही थी। उसकी दादी ने पूछा

---

[1]. कथाक्रम, जानवरी-मार्च, 2004, पृ.68

[2]. दलित विमर्श के विविध आयाम, डॉ.वीरेन्द्र सिंह यादव, पृ.273

कि मेरे बाबा क्या काम करते हैं? अबकी बार में भी झूठ बोल गयी मैंने उनसे कहाँ कि वे किसी दफ्तर में काम करते हैं मेरे बाबा उस वक्त कबाड़ी का धंधा करते थें। मैं जल्दी ही उनके घर से यह कहकर निकली कि माँ राह देख रही होगी। मैं जल्दी-जल्दी कदम बढ़ा रही थी और पीछे देखती जा रही थी, मानो मेरे पीछे बाघ दौड़ा आ रहा हो, उस वक्त छुआछूत बहुत था, मारपीट तक हो जाती थी। इसलिए मैं बहुत डर गई थी।"[1]

ओमप्रकाश वाल्मीकि की टिप्पणी सटीक है कि दलित साहित्य में आत्मकथाओं ने एक विशिष्ट स्थान बनाया है, जो मात्र लेखक की निजी पीड़ा नहीं बल्कि समूचे दलित समाज की व्यथा-कथा बन गई हैं, 'जूठन', 'अपने-अपने पिंजरे' को पढ़कर दलित समाज की जिजीविषा से पाठकों का परिचय हुआ है, हिन्दी साहित्य की जड़ता टूटी है, 'दोहरा अभिशाप', 'तिरस्कृत' के माध्यम से हिन्दी साहित्य को नई ज़मीन मिली है।"[2]

दलित आत्मकथाओं का आरम्भ डॉ.बाबा साहब अम्बेडकर द्वारा लिखित 'मी कसा झालो' (मैं कैसे बना) से होता है। इसके बाद प्र.इ.सोनकांबले द्वारा लिखित 'यादों के पंछी', दया पवार की 'बलुंत' ('अछूत' नाम से हिन्दी में प्रकाशित), माधव कोंडनलकर की आत्मकथा 'मुक्काम पोस्ट गोठणे', शरण कुमार लिम्बाले की आत्मकथा 'अक्करमशी', लक्ष्मण माने की 'उपरा' (पराया), इन प्रमुख लेखकों के अलावा प्रा.केशव मेश्राम, प्रा.कुमुद पावडे, दिनकर गोस्वामी, आत्माराम राठोड़, ना.मा.निमगडे, डॉ.गंगाधर पानतावणे आदि लेखकों ने भी अपनी-अपनी आत्मकथाएँ लिखी हैं

दलित आत्मकथाओं पर अपनी टिप्पणी करते हुए डॉ.श्यौराज सिंह बेचैन लिखते हैं कि- "इनमें दलित छवि एक सचेतन आत्मसंघर्षरत स्वाभिमानी व्यक्ति की छवि के रूप में उभरकर आई है। दलित आत्मकथाकार अतीत की भद्दी तस्वीरें देखते हैं साथ-साथ उन पोत दी है। कई कारणों से दलित साहित्य में आत्मकथाओं का बड़ा महत्त्व है। ये आत्मकथाएँ इतिहास विहीन दलित समाज में सूचनाओं, तथ्यों और स्थितियों के ऐसे प्रमाण जुटाती हैं जिनके बगैर हिन्दी समाज का अध्ययन अधूरा है। दलितों के दुखों पर गौर करते हुए दलित चेतना के पक्षधर डॉ.अमरसिंह बार-बार इतिहास के सबक दोहराते हैं

[1].दलित विमर्श के विविध आयाम, डॉ.वीरेन्द्र सिंह यादव, पृ.274

[2].दलित विमर्श के विविध आयाम, डॉ.वीरेन्द्र सिंह यादव, पृ.274

दलित आत्मकथाएँ सत्य के जरूरी दस्तावेज हैं, इन्हें ब्राह्मणों को प्राथमिकता से पढ़ना चाहिए। यदि वे नहीं पढ़ पा रहे हैं तो वे खुद को नहीं समझ पाएँगे। ज्ञान व्यवस्था के सर्वेसर्वा होने के कारण अतीत में दलितों की जीवन भूमि में ब्राह्मणों ने दुःख बोये हैं, तो दलितों को सुख भी उन्हीं से प्राप्त करना है। मुद्राराक्षस का इस बारे में विचार है, "दुनिया में जो भी दलित समस्या रही उसकी वैचारिक शुरुआत अपनी कहाँनी से ही हुई। जैसा कि पिछले बीस वर्षों में रचनात्मक हिन्दी में चूंकि दलित प्रश्न निर्णायक सिद्ध हो गया है, इसलिए सवर्णों को दलित रचनाकारों के आत्मवृत्तान्तों से खौफ महसूस होने लगा। उन्हें महसूस हुआ कि ये जीवनियाँ ऐसा प्रामाणिक दस्तावेज हैं जो दलित समुदाय को जागृति और वैचारिक उत्तेजना देगी। उनमें विजेता की कल्पना पैदा होगी।"[1]

3.2.जूठन में सामाजिक चित्रण :

मनुष्य सामाजिक प्राणी है। वह समाज में जन्म लेता है और मृत्यु तक समाज के अंदर अपना जीवन व्यतीत करता है। इससे उस पर समाज का, समाज के अंदर की संस्थाओं और व्यवस्थाओं का प्रभाव पड़ता है। आम तौर से देखा जाए तो बच्चे का जन्म परिवार में होता है। वह पहली शिक्षा अपने माँ-बाप से, बाद में परिवार के अन्य लोगों से, फिर अन्य रिश्तेदार, पड़ोसी, साथी, मित्र आदि से लेता है। इस तरह वह समाज तथा 'संस्कृति' से अपनी संस्कृति जानता है। अगर इस तरह का सामाजिक संरक्षण उसे प्राप्त न हो तो शायद वह 'मनुष्य' नहीं बन पाएगा। इसलिए अक्सर कहाँ जाता हैं कि 'समाज सामाजिक रिश्तों की एक जाल है, संगठन है।

मनुष्य का स्वभाव ऐसे सामाजिक संगठन का निर्माण तथा पुनर्निर्माण करता है, जो उसके आचार-विचार और व्यवहार को ठीक रास्ते पर ले जाए और उन पर नियंत्रण रखे. इस संगठन को समाज कहाँ जा सकता है। और इसी समाज में कई प्रणालियाँ होती हैं, कई मानदंड होते हैं, कई मूल्य, कई समूह, कई घटक, कई पद्धतियाँ इन सभी से 'सामाजिक पहचान' बनती हैं वैसे देखा जाए तो भारतीय समाज बहुल समाज है। विभिन्न जातियाँ, भाषा, धर्म परिलक्षित होते हैं, कोशाम्बी ने भारतीय सामाजिक पहचान की विविधता का विश्लेषण उसकी जलवायु, शारीरिक संरचना, परंपरा, जीवन-स्तर,

[1]. दलित विमर्श के विविध आयाम, डॉ.वीरेन्द्र सिंह यादव, पृ.275

खान-पान, वेशभूषा, सांस्कृतिक भिन्नताओं के आधार पर किया है।

डॉ.बाबासाहेब अम्बेडकर ने 'जाती-व्यवस्था' पर कड़ा प्रहार किया उनके नज़र में चातुर्वर्ण्य व्यवस्था एक ऐसी व्यवस्था है जिसकी अपनी-अपनी श्रेणी है और जो वर्ण जिस श्रेणी में पैदा होता है वह जीवन भर उसी में रहता है। इस व्यवस्था के बारे में डॉ.अम्बेडकर बताते हैं- "हिन्दू समाज एक मीनार की तरह है। इसमें एक जाति एक-एक मंजिला है। किंतु ध्यान देने योग्य बात यहाँ है कि इस मीनार को जीना नहीं है, जो जिस मंजिले में पैदा होगा, उसे उसी मंजिले में मरना होगा। नीचे वाले मंजिले पर फिर वह कितना भी लायक हो। उसको ऊपर के मंजिले पर प्रवेश की इजाज़त नहीं है और ऊपर के मंजिले का आदमी कितना भी नालायक क्यों न हो, उसे नीचे के मंजिले पर फेंक देने की किसी को भी हिम्मत नहीं।"[1]

भारतीय समाज व्यवस्था कितने अवैज्ञानिक ढंग पर आधारित थी, इसे देखा जा सकता है। जिसमें व्यक्ति के गुणों का मूल्यांकन नहीं किया जाता बल्कि वह किस जाति में पैदा हुआ यह देखा जाता है। इस व्यवस्था में हर एक जाति अपने आप को ऊँचा मानती है और अपने से निम्न जाति है इसका आनंद लेती है। इस संदर्भ में डॉ. बाबा साहब अम्बेडकर अपने 'जात-पात तोडक' भाषण में लिखते हैं कि - "जाति व्यवस्था के दो पक्ष है। पहले पक्ष के अनुसार मनुष्यों को अलग-अलग समुदायों में विभाजित किया जाता है। जाति-व्यवस्था के दूसरे पक्ष के अनुसार सामाजिक दर्जे में इन समुदायों का सोपानिक क्रम निर्धारित किया जाता है। प्रत्येक जाति को गर्व है और इस बात से संतुष्टित है कि वह जाति-क्रम में किसी अन्य जाति से ऊँची है। इस श्रेणीकरण का भी एक श्रेणीकरण है, जिन्हें शास्त्रीय रूप से 'अष्टाधिकार' और 'संस्कार' कहाँ जाता है। किसी जाति का दर्जा जितना उँचा होगा, उतने ही अधिकार उसके अधिकार होंगे। जिस जाति का दर्जा जितना नीचा होगा उतने ही कम उसके अधिकार होंगे।"[2]

निश्चित तौर पर समाज में सबसे निम्न दलितों को ही माना गया और उनका दर्जा निम्न होने के कारण उन्हें अधिकार भी कम ही दिए गए। इस श्रेणीकरण में दलित सबसे निम्न थे, और सबसे

---

[1]. बौद्ध धर्म के विकास में डॉ. बी. आर. अम्बेडकर का योगदान,पृ.94

[2]. बाबसाहब डॉ.अम्बेडकर सम्पूर्ण वाङमय, खंड1, पू.93

ज्यादा दबाये। गये थे। ऐसी साज़िश भी की गई कि वह चाहते हुए भी कभी ऊपर न आ सकी। इससे दलितों को अनेक यातनाएँ झेलनी पड़ी। इस संदर्भ में 'डिप्रेस्ड क्लासिज लीग' की पहली परिषद् के पहले दिन की कार्यवाही की आध्यक्षता करते हुए डॉ.अम्बेडकर ब्राह्मणों के पवित्रता और उच्चता पर विखंडन करते हुए बताते हैं कि- "जन्म से ही कोई कनिष्ठ या अपवित्र नहीं होता लेकिन जाति-प्रथा ने जन्माधारित श्रेष्ठता को ही एकमात्र मानदंड बनाकर अयोग्य ब्राह्मणों को श्रेष्ठ और योग्य शूद्र को उस श्रेष्ठता से वंचित कर दिया। इस असमानता और विषमता का कारण जाति-प्रथा ही है। जो पिछड़े-दलित वर्ग को शिक्षा अध्ययन और धन प्राप्ति के साधनों से वंचित कर उनकी प्रगति और उन्नति के सभी रास्ते बंद कर देती हैं"[1]

ज़ाहिर है कि इस समाज व्यवस्था में विषमता की बुनियाद है जो हिंदुओं को जन्म के आधार पर श्रेष्ठ मानती है इस व्यवस्था में ब्राह्मण ही श्रेष्ठ है, उसके ही पूरे क्षेत्र पर आधिकार प्राप्त हैं यह विषमता मानव निर्मित समाज-व्यवस्था की देन है। दलितों की दुर्दशा के मूल में धर्म, वर्ण-व्यवस्था की साज़िश है। इसलिए इन पशुवत समाज की मुक्ति के लिए यहाँ कुछ महान योद्धाओं ने काम किया है। जिसमें महात्मा ज्योतिराव फूले, शाहू महाराज, आगे चलकर डॉ.बाबासाहेब अम्बेडकर ने दलितों को जन्म अधिकार दिलवाने हेतु जीवन पर्यंत संघर्ष किया, और मनुष्यत्व दिलाया।

3.2.1.परंपरागत मूल्य 'जाति-व्यवस्था':

भारत देश में सामाजिक संरचना 'जाति-व्यवस्था' पर आधारित व्यवस्था हैं जाति-व्यवस्था के उत्पन्न होने से पूर्व भारतीय समाज व्यवस्था वर्ण-व्यवस्था पर आधारित, विषमतावादी व्यवस्था है। इस व्यवस्था ने दलितों के जीवन में अंधकार भर दिया है। उनके लिए भूतकाल, वर्तमानकाल, भविष्यकाल एक जैसा ही गौरवमयी रहा इसके उलटे दलितों का भूतकाल, वर्तमानकाल, भविष्यकाल यातनामयी रहा। ऐसी विषमतावादी व्यवस्था पर डॉ.अम्बेडकर ने दलितों में मनुष्यत्व का भान दिलाया। उनका मानना था कि 'जाति-प्रथा' ने दलितों की जन-चेतना को नष्ट कर दिया। जिससे एक जाति का दुसरे जाति से कुछ संबंध न रहा। इसलिए उनमें सार्वजनिक सहमति का होना असंभव था, तब निश्चित ही

[1]. अपेक्षा, जुलाई- सितम्बर,2004, पृ.6

है कि ब्राह्मणों को समाज में सबसे उच्च स्थान चाहिए था। वह मिलकर रहने की कल्पना भी नहीं कर सकता। इस संदर्भ में डॉ.अम्बेडकर कहते हैं कि- "हिन्दुओं के लिए उनकी जाति ही जनता है। उनका उत्तरदायित्व अपनी जाति तक सीमित है। उनकी निष्ठा अपनी जाति तक ही सीमित ही है। सही व्यक्ति के प्रति (अगर वह उनकी अपनी जाति का नहीं है), उनकी सहानुभूति नहीं होती। गुणों की कोई सराहना नहीं है। अगर सहायता दे तो वह केवल जाति मात्र तक सीमित है।"[1]

3.1.2.विद्यालय

शिक्षा-संस्थानों में नागरिकों को तैयार किया जाता है। देश को चलाने के लिए अच्छे से अच्छे नागरिकों का निर्माण करना ही शिक्षा का मुख्य उद्देश्य हैं तो साफ़ है कि शिक्षा कि जगह पर सभी बच्चों को समान रूप से देखा जाना जाहिए। लेकिन हमारी 'समाज व्यवस्था' के तहत शिक्षा संस्थानों में दलितों के साथ बहुत ही अन्याय होता है। जीवन के पहले अध्याय यानी शिक्षा की जगह से ही उन्हें यातनाओं का सामना करना पड़ता है। पाठशाला में बच्चे तो भेदभाव करते ही हैं लेकिन बच्चों के साथ सवर्ण शिक्षक भी उन्हें मानों जानवरों के बच्चे समझते हैं उनका हर कदम पर अपमान करते हैं उन पर छुआ-छूत का नियम लगाया जाता है। अनेक प्रकार की यातनाओं का सामना करना पड़ता है। जिसे हम 'जूठन' आत्मकथा में देखने का प्रयास करेंगे।

'जूठन' में दलित को मनुष्य न मानने की सच्चाई दर्ज है। यह आत्मकथा आधुनिक युग की है। लेखक का जन्म भी आज़ाद भारत में ही हुआ है। आधुनिकता और आज़ादी के संदर्भ में दलित-जीवन का जो भी थोड़ा-बहुत सकारात्मक अवदान है, उसके बावजूद सवर्ण समाज दलित को मनुष्य न मानने की अपनी सदियों पुरानी मानसिकता से चिपका हुआ है। इस कदर मानों कि भारत का सवर्ण समाज हमेशा के लिए खो चुका है। लेखक का जन्म उत्तर प्रदेश के मुज़फ़्फ़र नगर ज़िले के बरला गाँव में हुआ है। बरला सवर्ण अहंकार से ग्रस्त त्यागियों का गाँव है। वे भू-स्वामी है और नौकरियों में भी उनकी संख्या अच्छी-ख़ासी हैं लेखक और उनकी 'चूहड़ा जाति' के सभी लोग त्यागियों के तिरस्कार और अत्याचारों का शिकार होते हैं यहाँ सवर्ण व्यवहार और लहज़ा वैसा ही पेश आता है जैसा सदियों से चला आ रहा है। उन्होंने अपने छात्र जीवन के बारे में बताया हैं कि- "त्यागियों के बच्चे 'चूहड़े' का

[1].बाबासाहेब डॉ.अम्बेडकर सम्पूर्ण वाङमय, पृ.78, भाग-1

कहकर चिढ़ाते थें। कभी-कभी बिना कारण पिटाई भी कर देते थें। एक अजीब सी यातना-पूर्ण ज़िंदगी थी, जिसने मुझे अंतर्मुखी और चिड़चिड़ा तुनकमिज़ाजी बना दिया था। स्कूल में प्यास लगे तो हैंडपंप के पास खड़े होकर किसी के आने का इंतज़ार करना पड़ता था। हैंडपंप छूने पर बवेला हो जाता था। लड़के तो पीटते ही थे। मास्टर लोग भी हैंडपंप छूने पर सज़ा देते थें। तरह-तरह के हथकंडे अपनाए जाते थें ताकि मैं स्कूल छोड़कर भाग जाऊँ और मैं भी उन्हीं कामों में लग जाऊँ, जिनके लिए मेरा जन्म हुआ था। उनके अनुसार स्कूल आना मेरा अनाधिकार चेष्टा थी।"[1] यह बात तो सवर्ण बच्चों के व्यवहार की है जिन्हें उनके घर में ऐसी शिक्षा दी जाती थी। लेकिन शिक्षक तो समझदार और बुज़ुर्ग हुआ करते थें वह भी लेखक के साथ कैसे पेश आते हैं जिससे लेखक का मन झकझोर जाता था। दलित छात्र होने के नाते ओमप्रकाश वाल्मीकि से हैड-मास्टर पहले दिन से ही स्कूल के लंबे चौड़े प्रांगण में दो दिन तक झाड़ू लगवाते हैं तीसरे दिन वह बालक चुपके से कक्षा में कुछ सीखने के लिए बैठता है। यहाँ शिक्षक का कुटिल रूप उन्हीं के शब्दों में बताते हैं कि- "अबे चूहड़े के मादरचोद कहाँ घुस गया अपनी माँ का। उनकी दहाड़ सुन कर मैं थर-थर काँपने लगा था। एक त्यागी लड़के ने चिल्लाकर कहाँ 'मास्साब वो बैट्ठा है कोणे में' हैड मास्टर ने मेरी गर्दन दबोच ली थी, उनकी उँगलियों का दबाव मेरी गर्दन पर बढ़ रहा था। जैसे कोई भेड़िया बकरी के बच्चे को उठा लेता है। कक्षा से बाहर खींचकर उसने मुझे बरामदे में ला पटका। चीख कर बोला, 'लगा पूरे मैदान में झाड़ू. नहीं लगाई तो गाँड में मिर्ची डाल के बाह काढ़ दूँगा।"[2] कथित शुद्ध व स्पृश्य अभिजात लोगों को दलितों पर हाथ उठाते समय 'अस्पृश्यता' का भूत नहीं सवाँरता और न दलित स्त्रियों के साथ अनैतिकता का हमला करते वक्त। यहाँ कहा जा सकता है कि एक अध्यापक छात्र से सेवा सफ़ाई की आदत ड़ाले तो अच्छी बात है। यही राष्ट्रीय योजना के तहत सभी छात्रों से स्कूल की सफ़ाई कराई जाएँ तो स्वीकार्य भी है किंतु यहाँ तो बेगारी ही करनी पड़ती थी। यह अछूत होने की सज़ा थी जिसे दलित छात्रों को भोगना पड़ा। यही स्थिति आज भी गाँवों में दिखाई देती है। गाँवों में ही क्यों शहर में भी ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं जिसे दलित छात्रों को झेलना ही पड़ता है। इस संदर्भ में दलित साहित्यकार प्रेम सिंह बताते हैं कि- "लेखक और उसके दलित साथियों के प्रति स्कूल और बाद में इंटर कॉलेज के शिक्षकों का व्यवहार

---

[1]. जूठन, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.13

[2]. जूठन, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.15

क्रूरता और नीचता की हदों को पार करने वाला है। एक-दो को छोड़ कर सभी शिक्षक लेखक के साथ दुर्व्यवहार और हिंसा करते हैं हैड-मास्टर उससे कक्षा के समय में झाड़ू लगवाते हैं। कोई शिक्षक लात-घूसों से मारता है तो कोई उससे सुअर के गोश्त की बोटियाँ खाने का हिसाब पूछता है। ....आज़ाद भारत के सवर्ण शिक्षकों का दलित छात्रों के साथ यह व्यवहार चौकांनेवाला है। मानवता और राष्ट्र के प्रति इस कदर खुला अपराध शायद कहीं होता हो।"[1] लेखक जब द्रोणाचार्य नामक पाठ पढ़ाए जाने के बाद अपने मन में उठे शंका का निराकरण अपने शिक्षक से पूछते हैं, जो एक विद्यार्थी का अधिकार भी है। अश्वत्थामा को तो दूध की जगह आटे का घोल पिलाया गया और उस पर महाकाव्य रचा गया। हमें चावल का माँड़ क्यों? लेकिन किसी महाकवि ने हमारे जीवन पर एक शब्द भी क्यों नहीं लिखा? यही प्रखर तर्क और ज्ञान जो उस शिक्षा के आगे का प्रश्न करता ओमप्रकाश वाल्मीकि दलित साहित्यकार बनते हैं इस पर मास्टर साहब का क्या रवैया होता है? लेखक अपने शब्दों में कहते हैं कि- "चूहड़े के तू द्रोणाचार्य से अपने बराबरी करे है।.... ले तेरे ऊपर मैं महाकाव्य लिखूँगा।" उसने मेरी पीठ पर सटाक-सटाक छड़ी से महाकाव्य रच दिया था। वह महाकाव्य आज भी मेरी पीठ पर अंकित है। भूख और असहाय जीवन के घृणित क्षणों में सामंती सोच का यह महाकाव्य मेरी पीठ पर ही नहीं, मेरे मस्तिष्क के रेश-रेश पर अंकित है।"[2] इस संदर्भ को पत्रकार कँवल भारती व्यक्त करते हैं कि- "यह आत्मकथा वास्तव में पीठ पर अंकित महाकाव्य ही है, जो मास्टर ने नहीं व्यवस्था ने अंकित कि है। यह व्यवस्था सवर्ण के लिए स्वर्ग और दलितों के लिए नरक का निर्माण करती है।"[3]

शिक्षकों द्वारा दलित छात्रों के साथ उत्पीड़न के कठोर यातना क्रम प्राथमिक स्कूलों से ही शुरू होते हैं उच्च कक्षा में पहुँचने पर उत्पीड़न व भेदभाव के रूप बदल जाते हैं 'अस्पृश्यता' शारीरिक रूप से हटकर 'बौद्धिक व मानसिक' रूप ग्रहण कर लेती है क्योंकि उन्हें (शिक्षक का) ड़र रहता है कि यथास्थितिवादी व्यवस्था के समाप्त होने के ख़तरों से भयभीत होना है? कारण अनेक हो सकते हैं ऐसा ही अनुभव 'मेरा सफ़ल मेरी मंज़िल' में डॉ.आर.जाटव को हुआ है। उन्होंने अपनी ग़रीबी में पढ़ाई की। उच्च शिक्षा प्राप्त करने हेतु पी.एच.डी.का विषय एक होता है और मौखिक परीक्षा में प्रश्न दूसरे

---

[1]. अपेक्षा, जुलाई-सितंबर,पृ.94,2003

[2]. जूठन, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.34-35

[3]. दूसरा शनिवार -कँवल भारती, 12 एप्रिल 1997.पृ.30

प्रकार के पूछते हैं, जिसका थीसिस से कोई संबंध नहीं होता इस संदर्भ में लेखक बताना चाहते हैं कि- "वह उन मुद्दों पर वादविवाद करना चाहते थें। जिनका थीसिस के मूल विचारों से कोई सरोकार नहीं था। लालाजी की प्रश्न करने की शैली कुछ भिन्न थी, जबकि डॉ. तिवारी ने बीच-बीच में सीधे डॉ. अम्बेडकर के समाज दर्शन से सम्बन्धित प्रश्न ही पूछे जिनके मैंने भली भाँति उत्तर दिये थे। लेकिन लालाजी एक अम्बेडकरवादी का 'सदमा उपचार' करना चाहते थें ताकि उसे आघात लगे और वह दहशत भी खाए। फ़लतः उन्होंने मौखिक परीक्षा के बाद आगरा विश्वविद्यालय को सिफ़ारिश कर दी कि परीक्षार्थी को पुनः छह माह के पश्चात द्वितीय वाईवा-वोसि हेतु बुलाया जाए।"[1]

यहाँ पर 'जूठन' में वाल्मीकि को बृजपाल सिंह (शिक्षक) प्रैक्टिकल में कम अंक देकर फेल करते रहे हैं। मसलन, दलित छात्र का आगे शिक्षा पाना असंभव होता है, और यही सवर्ण मास्टरों की चाल होती है। वैसा ही अनुभव डॉ.डी.आर. जाटव को हुआ उन्हें तो उच्च शिक्षा हेतु इतना कष्ट देने का मतलब है, वहाँ से छात्र छूटकारा पाना या मानसिक तनाव देकर शिक्षा से हाथ धुलवाना। इस संदर्भ में डॉ.रजत रानी मीनू कहती है कि- "यह ऐसी समाज व्यवस्ता है जिसमें परंपरागत ज्ञान की दिशा में जैसे-जैसे ऊँचे उठे भेदभाव बढ़ता जाता है। क़ायदे कानून सब कमज़ोर पड़ जाते हैं। दलितों की उच्च शिक्षा संस्थानों में भागीदारी कम होती है।"[2]

आज के भूमण्डलीकरण के समय में दलितों के बच्चों की पढ़ाई में भागीदारी निश्चित तौर पर कम ही कही जा सकती हैं आज समाज तेज गति से बढ़ रहा है लेकिन दलितों की प्रगति जितनी होनी चाहिए उतनी नहीं हो पा रही हैं उच्च शिक्षा संस्थानों में भी दलितों की भागीदारी कम ही होती जा रहे हैं।

इस 'जाति-व्यवस्था' ने दलितों को कितना सताया इसका अंदाज़ा नहीं लगा सकते। उस समय इनके मन पर क्या-क्या गुज़रती होगी? बचपन से लेकर मरने तक इन लोगों को जाति ने सताया है। पहली हिंदी की दलित स्त्री लेखिका कौसल्या बैसन्त्री को भी यह अनुभव होना कोई नई बात नहीं थी। क्योंकि वह भी तो दलित ही थी। लेखिका का प्रदेश अलग पड़ता है। वह महाराष्ट्र के नागपुर शहर

---

[1].मेरा सफ़र मेरी मंज़िल,पृ.38

[2].वसुधा, दलित विशेषांक.पृ.108

में पैदा हुई थी। लेखिका को भी इस जाति का अनुभव हुआ है। अब तक जितने भी अनुभव हम ने देखे हैं वह सभी हिंदी प्रदेश के थे लेकिन लेखिका का अनुभव महाराष्ट्र का रहने के बावजूद उन्हें अछूता नहीं छोड़ा। लेखिका जब स्कूल में जाती है तब वह छोटी बच्ची थी, जो जाति को लेकर हमेशा परेशान रहती थी, क्योंकि उसे सदैव ड़र बना रहता था कि कोई आकर उससे उसकी जाति न पूछे. इस संदर्भ को वह अपने दर्द भरे शब्दों में बताती हैं कि- "मैंने स्कूल के किसी कार्यक्रम जैसे, खेल-कूद, नाटक वैगरह में कभी भाग नहीं लिया। मुझमें हीनता की भावना भरी थी। मैं खो-खो, कबड्डी वैगरह"[1] लेखिका खेलना चाहती है लेकिन वह दलित होने के कारण उसे उस सवर्ण जातियों से बहुत डर थे। इसलिए उस खेल में भाग नही ले सकी।

3.2.3.दलित बस्ती :

आज हज़ारों साल बीत गए परंतु हिंदू समाज में परिवर्तन नहीं आया। धार्मिकता की अग्नि में हज़ारों सालों से भुने हुए अस्पृश्य समाज को इस धर्म ने कभी मनुष्य नहीं माना, कभी इज़्ज़त नहीं दी, उनकी संस्कृति में कुत्ते, बिल्लियों को जगह थी, लेकिन दलित मनुष्य होकर भी उनसे हर तरह से परहेज़ किया गया। उन्हें पानी पीने का हक नहीं था। अच्छे कपड़े पहनने का अधिकार नहीं था, सब कुछ मनुवादी वर्ण-व्यवस्था में दलितों के लिये वर्जित था। इस व्यवस्था में दलितों की परछाया से भी परहेज़ किया गया। इसलिए दलितों की बस्तियाँ वहाँ होती हैं जहाँ सवर्ण समाज पूरी तरह से निवृत्त हो आता है। मुख्य गाँव के बाहर दक्षिण और पूरब में इनकी बस्तियाँ होती थी। जिसे उनके विशेष नामों से बुलाया भी जाता जैसे-महारवाड़ा, मांगवाड़ा, चमारवाड़ा आदि। इस संदर्भ में डॉ.बाबासाहेब अम्बेडकर बताते हैं कि - "हर गाँव में दो हिस्से होते हैं, स्पृश्यों के घर और अस्पृश्यों के घर. भौगोलिक दृष्टि से ये बिल्कुल अलग होते हैं, दोनों के बीच में काफ़ी दूरी होती है। किसी भी दिशा में दोनों प्रकार के घर अलग-अलग नहीं होते और न ये पास ही होते हैं, अस्पृश्यों के घर उनकी जाति के नाम से जाने जाते हैं, जैसे-महारवाड़ा, मांगवाड़ा, चामार रोटी, खाटिकाना आदि। राजस्व खातों और डाकखानों में अस्पृश्यों के घर कानून गाँव का हिस्सा माने जाते हैं। लेकिन हक़ीक़त में गाँव से अलग होते हैं, गाँव में रहने वाला हिंदू जब गाँव का ज़िक्र करता है तो उसका आशय उसमें सवर्ण हिंदू निवासियों को शामिल करना होता

[1].वसुधा, दलित विशेषांक.पृ.108

है, जो स्थानीय रूप से वहाँ रहते हैं। इसी तरह जब कोई अस्पृश्य गाँव की बात करता है तो उसका आशय उस गाँव में से अस्पृश्य और उनके घरों से रहित गाँव से होता है। यह ज़रूरी नहीं कि इन दोनों को मिलाकर ही गाँव बने। इस तरह हर गाँव में स्पृश्य और अस्पृश्य नाम से दो अलग-अलग समूह होते हैं दोनों के बीच कोई समानता नहीं होती।"[1]

हर गाँव में इस प्रकार का विभाजन होता हैं, यह समूह स्वयं में अलग-अलग एक इकाई होती है और कोई भी एक-दूसरे को अपने में शामिल नहीं करता लेकिन ध्यान देने की बात यह है कि सवर्ण लोग दलितों के गाँव से पूर्ण रूप से संबंध भी नहीं तोड़ते क्योंकि सवर्णों के बहुत सारे कष्टदायी और निम्न काम दलितों पर थोपे जाते हैं उनके द्वारा करवाए जाते हैं देखा जाए तो हिन्दुओं के गाँव हिन्दुओं की समाज-व्यवस्था की प्रयोगशाल ही दिखाई देती है। जिसमें हिन्दू गाँव में समाज-व्यवस्था का पूरा-पूरा पालन करते हैं जब कभी दलित अपने गाँव की बात करता है तो उसे यातनामयक्षणों से गुज़रना पड़ता है। यही ज़मीन-आसमान का अंतर दिखाई देता है। इसलिए डॉ. अम्बेडकर दलितों को अपनी अलग से बस्ती करने के लिए कहते हैं, इसका कारण वह यह मानते हैं कि अगर दलित अलग बस्ती करके रहेंगे तो वहीं वहाँ के मुख्य रहेंगे और उन्हीं का गाँव रहेगा।

गाँव के किनारे यह बस्ती थी। मतलब सवर्णों में और दलितों में एक रेखा खींची जाती थी। एक ओर सवर्ण तो दूसरी ओर दलित रहते थें, यही सच्चाई है। 'जूठन' में ओमप्रकाश वाल्मीकि का जन्म 'चमार' घर में हुआ था, जो आर्थिक परिस्थिति से भी जूझता रहता है। उनका गाँव बरला था, जिसमें मुसलमान और हिंदू भी रहते थें। फिर दोनों भी भेदभाव करते थें यहाँ पर वाल्मीकि बताते हैं कि- "चन्द्रभान तगा के घर के ठीक सामने एक छोटी सी जोहड़ी थी,जिसने चुहड़ों के बगड़ और गाँव के बीच एक फ़ासला बना दिया था।..... जोहड़ी के किनारे पर चूहड़ोंके मकान थे, जिनके पीछे गाँव भर की औरतें, जवान लड़कियाँ, बड़ी-बूढ़ी यहाँ तक कि नई नवेली दुल्हनें भी इसी डब्बों वाली के किनारे खुले में भी पर्दों में रहने वाली त्यागी महिलाएँ घूँगटे काढ़े दुशाले ओढ़े इस सार्वजनिक खुले शौचालय में निवृत्ति पाती थी।.... चारों तरफ़ गंदगी भी होती थी। ऐसी दुर्गंध कि मिनट भर में साँस घुट जाए। तंग गलियों में घूमते-सुअर, नंग-धएँग बच्चे, कुत्ते, रोज़मर्रा के झगड़े, बस यह था वह वातावरण जिसमें

[1]. बाबासहाब डॉ.अम्बेडकर सम्पूर्ण वाङमय, खंण्ड-9, पृ.101

बचपन बीता। इस माहौल में यदि वर्णव्यवस्था को आदर्श मानने वालों को दो-चार दिन रहना पड़ जाए तो उनकी राय बदल जाएगी।"[1] दलितों को मनुष्य न बनने देने की उस सवर्ण व्यूह रचना का प्रभावी चित्रण हुआ है। इस संदर्भ में प्रेम सिंह जी अपने विचार व्यक्त करते हैं कि- "जूठन में दलित को मनुष्य न बनने देने की उस सवर्ण व्यूह-रचना का प्रभावी चित्रण हुआ है, जो लोक से लेकर परलोक तक रची गई है। मनुष्य एक निश्चित प्राकृतिक वातावरण और सामाजिक परिवेश के बीच जन्म लेता है। अपने आस-पास की प्रकृति और समाज के साथ अंतःक्रिया करते हुए उसका आंतरिक जगत समृद्ध होता है, उसका मूल्यबोध और सौंदर्यबोध विकसित और पुष्ट होता है।"[2]

3.2.4.हीनताबोध :

ब्राह्मण-व्यवस्था में दलितों के नाम तक ठीक से रखने का नियम नहीं था। इससे हुआ यह कि उनमें हीनता बोध ने जन्म लिया। कारण उनके जो भी नाम होते उसे भी सवर्ण समाज बिगाड़कर बुलाता था। इसी नाम की वज़ह से दलितों में हीनता बोध ने जन्म लिया। इसके प्रति वे नाराज़ ही दिखाई देते हैं नाम के कारण असंतोष भी दिखाई देता है।

नाम को लेकर घर में, स्कूल में, समाज में कैसा अनुभव हुआ है इसे लेखक ने बताया है। 'जूठन' में वाल्मीकि को उनके घर के नाम के कारण बहुत मित्र ब्राह्मण समझ बैठे, जैसे ही जात का पता चल जाता तब उसमें दरार आ जाती है, इस प्रसंग को लेखक व्यक्त करते हैं- "महाराष्ट्र प्रवास के दौरान ऐसे अनुभव हुए कि लोग वाल्मीकि सरनेम के कारण मुझे ब्राह्मण समझ बैठे थे। ऐसा ही भ्रम (बंबई) में एक देशपाँडे ने पाल लिया था। अक्सर अपने घर बुला लेते थें। घंटों बैठक बैठक जमती थी। कवि थे वे. एक रोज़ उनकी बातों से लगा कि वे मुझे ब्राह्मण समझ रहे हैं। मैनें उसी समय अपने सर नेम का भेद खोल दिया तो वे कुछ गुमसुम हो गए थे। अचानक हमारे बीच एक गहरी खाई बन गई थी। फिर हम कभी भी सहज नहीं हो पाए थे।"[3]

---

[1].जूठन, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.11

[2].अपेक्ष, जुलाई-सितंबर, पृ.92.2003

[3]. जूठन, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.150

इस व्यवस्था में मनुष्य मुख्य नहीं है बल्कि उस की जाति मुख्य है। उस 'जाति' को पहचानने के लिए उसके नाम तक वैसे ही रखने की प्रथा का जन्म करवाया गया। लेखक को समाज में इसका अनुभव तो हुआ लेकिन क्या घर में वह इस नाम को लेकर खुश थे?- "मेरी पत्नी चंदा मेरे इस सरनेम को कभी आत्मसात नहीं कर पाई। न इसे अपने नाम में जोड़ती है। मेरे निकम्मेपन की गिनतियों में यह सरनेम भी एक है, जिसका ज़िक्र यदा-कदा वह कर देती है। अपने नाम के साथ वह वंश गोत्र 'खैरवाल' जोड़ना ज़्यादा पसंद करती है। आगे वह कहती हैं "यदि हमारा कोई बच्चा होता हो मैं इनका सरनेम ज़रूर बदलवा देती।"[1]

अतः कहाँ जा सकता है कि दलितों को सर नेम लगाने से कितनी पीड़ा का सामना करना पड़ता है। यह सर नेम कोई ऐसी चीज़ थोड़ी ही हैं जिसे फेका जा सके? आजकल तो 'अपनी जाति' अपने नाम के साथ लगाने का गर्व महसूस कर रहे हैं इसको दलित समाज ने आज पहचान के रूप में लिया है। उदाहरण के रूप में देखा जाए तो आंध्र प्रदेश में बहुत बड़ा दलित आंदोलन चला जिसके सूत्रधार 'मंदा कृष्णा मादिगा' थे। उन्होंने अपने नाम के साथ अपनी जाति 'मादिगा' लगाई जिससे वह गर्व महसूस करते हैं कहने का तात्पर्य आज दलितों में आत्माभिमान जाग रहा है। इसलिए वे अपने जाति में भी अपना गर्व महसूस कर रहे हैं लेखक वाल्मीकि को इस सरनेम के कारण अनेक बार दुःखी होना पड़ा लेखक देहरादून में नौकरी के लिए जाते हैं मकान किराए से लेते हैं वहाँ वाल्मीकि समाज के लोग भी रहते हैं एक लड़की का लेखक की पत्नी से स्नेह होता है और उन्हें भाभी कहती है उसकी शादी के लिए भी लेखक ने बहुत काम किया था लेकिन शादी के कार्ड पर सभी के नाम होते हैं लेखक का नाम नहीं होता इससे लेखक की पत्नी को बहुत दुख होता है और वह उसे खोदकर कारण पूछती हैं तब वह कहती हैं- "भाभी, यहाँ कोई नहीं जानता कि हम वाल्मीकि है सभी को यही पता है, खैरे है। भैया का नाम छपते ही भेद खुल सकता था। मंजु रुआँसी हो गई थी।"[2] इसमें बिचारी मंजु का क्या दोष है? हमारी समाज व्यवस्था ही वैसी बनाई गई है।

---

[1]. जूठन, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.154-155

[2]. जूठन, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.157

इस प्रकार दलितों को 'नाम' के कारण भी यातनाओं का सामना करना पड़ा हैं यह स्थिति केवल हिन्दी में ही नहीं बल्कि अन्य दलित आत्मकथाओं में भी हम पाते हैं ज़ाहिर हैं कि दलित समाज अपने नाम से बिल्कुल खुश नहीं था। इसके लिए ज़िम्मेदार सिर्फ़ सवर्णवादी व्यवस्था की चाल ही थी। जिसने दलितों के जीवन में अँधेरा भर दिया था। उनको कम से कम नाम तक अच्छे रखने की इजाज़त नहीं थी ऐसी यह घिनौनी व्यवस्था थी।

3.2.5.सामाजिक क्रूरता की पराकाष्ठा 'यातना':

चातुर्वर्ण्य व्यवस्था 'विषमता पर' पर आधारित व्यवस्था है, जिस पर हिंदू धर्म का निर्माण हुआ है। इस बात को कोई नकार नहीं सकते. इसी व्यवस्था ने जाति-पाँत और अछूतपन को जन्म दिया उनका नीतिशास्त्र भी जात-पात का समर्थक है। हिन्दूओं की नैतिकता पर जाति का इतना बुरा परिणाम हुआ है कि जाति के सार्वजनिक संवेदनशीलता को जाति ने नष्ट कर दिया है। हिंदुओं का समाज उनकी जाति ही है। वह केवल अपनी जाति के लिए ही ज़िम्मेदार है। उसकी प्रामाणिकता भी उसकी जाति तक ही सीमित है। सभी सद्‌गुण जाति से संबंधित है और नीति तत्व जाति सीमा से ही घिरे हुए हैं अच्छे आदमी के प्रति दया नहीं. दुखियों के प्रति करुणा नहीं. दया है तो जाति तक ही है। हिन्दू नीति तत्व जाति पर आधारित है। यही उनका जीवन मूल्य है। यही उनका सामाजिक, नैतिक आधार है। इस संदर्भ में डॉ.अम्बेडकर अपने 'जाति-प्रथा उन्मूलन' में लिखते हैं कि- ब्राह्मणों में इस बात की क्षमता नहीं है कि वे अपनी जाति से भिन्न अन्य जाति के व्यक्ति के गुणों का सही मूल्यांकन कर सकी । गुणों की सराहना तभी होती है, जब वह व्यक्ति अपनी जाति का हो। उनकी पूर्ण नैतिकता उतनी ही निम्न कोटि की है, जितनी जंगली-जातियों की होती है। आदमी कैसा भी हो, सही या ग़लत, अच्छा या बुरा, बस अपनी जाति का होना चाहिए। न उन्हें गुणों की प्रशंसा से मतलब है, न बुराई के विरोध से. उनके लिए मुद्दा सिर्फ गुणों की प्रशंसा से है, न बुराई के विरोध से। जिनके लिए मुद्दा सिर्फ़ इतना है कि अपनी जाति का पक्ष ले या नहीं। क्या हिन्दुओं ने अपनी जाति के हितों स्वार्थों की रक्षा करने में अपने देश के प्रति विश्वासघात नहीं किया है।"[1] दलित लेखकों ने अपना जीवन जीते हुए बहुत सारी यातनाओं को झेला है। जीवन के हर क्षेत्र में सवर्ण इन्हें अपमानित करते थें जिसके कारण वे दुःखी भी होते थें।

[1]. बाबासाहेब डॉ.अम्बेडकर सम्पूर्ण वाङमय, पृ.78, भाग-9

लेकिन इन लेखकों ने अनेक प्रकार की यातनाएँ झेलते हुए अपना व्यक्तित्व बनाय रखा है। जिसे हम देख सकते हैं

'जूठन' में लेखक को अनेक यातनाओं का सामना करना पड़ा था जिसके कारण उनमें भी सौम्य रूप को देखा जा सकता है। लेखक की ग़रीबी की वज़ह से और वर्ण-व्यवस्था के कारण किये गए जुर्म से लेखक को एक दिन घिनौना कार्य करना पड़ा था लेखक की माँ ने लेखक को ही ख़ाल उतारने भेजा था, मरे हुए जानवर की ख़ाल उतारने से दस-पंद्रह रुपये की आमदानी मिलेगी यही उनकी आशा थी, किंतु इस काम के बाद लेखक के मन में क्या होता है? इसे लेखक व्यक्त करते हैं- "छुरी पकड़ते हुए मेरे हाथ काँप रहे थे। अजीब से संकट में फँस गया था। चाचा ने छुरी चलाने का ढ़ंग सिखाया। उस रोज़ मरे भीतर बहुत कुछ था जो टूट रहा था। चाचा की हिदायत पर मैने बैल की ख़ाल उतारी थी। मैं जैसे स्वयं ही गहरे दलदल में फँस रहा था, जहाँ से मैं उबरना चाहता था उस यातना यादना को मैने भोगा था, आज भी उसके ज़ख़्म मेरे तन पर ताज़ा हैं"[1] ऐसे विकट समय पर बात करते हुए लेखक ने अपने जीवन में सफ़लता पाई हैं लेकिन उस समय लेखक को कितनी यातना हुई होगी वही जानते हैं, अपमान तो उनकी ज़िंदगी में बार-बार होता था।

'हिन्दुवादी' समाज व्यवस्था में जितनी ऊँची राहनीमान होगी उतना उँचा माना जाता है। लेखक भी इसी रोग के शिकार है। जिनकी परिस्थिति निम्न हो उन्हें निम्न माना जाता था हिन्दू-व्यवस्था ने दलितों का जीवन इतना असहाय बनाया कि उन्हें अपनी असहायता की शर्म ही नहीं आती थी। मरे हुए जानवरों को उठाना, उसे चीरफाड़ करना और उसका मांस खाना इसे भी वे अपना हक मानते थें क्योंकि ग़रीबी के सामने उन्हे गंदापन दिखता ही नहीं था। फिर भी ऐसे घिनौने काम करके भी दलितों ने अपने वैयक्तिता को बनाए रखा इसमें उनका महत्व छीपा है।

ज़ाहिर है कि दलित लेखकों को अपने ध्येय तक पहुँचने के लिए कितना संघर्ष करना पड़ा है फिर भी उन्होंने वह सहा और अपनी मंज़िल गाठी हैं दलितों की आवस्था ही उस प्रकार बनाई गई थी। जिससे उन्हें हर पल गुलामगिरी करनी पड़ी थी। हिंदू धर्म ने दलितों के मन पर ही कब्जा किया था।

---

[1]. जूठन, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.47

3.2.6.सामाजिक विद्रोह :

जब एक सीमा का उल्लंघन होता है तो वह सीमा टूट जाती है। इसी प्रकार दलितों की स्थिति को भी देख सकते हैं दलितों ने पहले तो सौम्य रूप से अपना दुःख व्यक्त किया लेकिन कुछ समय बाद उनका आक्रोश भी बाहर आया। इसका चित्रण हम 'जूठन' आत्मकथा में देखते हैं जब-जब उनका गुस्सा बढ़ता गया तब-तब उन्होनें अपना असली रूप बताने की कोशिश कि है। उनका 'आक्रोश' ही सामने आया है।

3.2.6.1.आक्रोश :

दलितों ने अपना गुस्सा अपने आक्रोश द्वारा बताने की कोशिश की है, तो कभी विरोध में। इसका चित्रण हम 'जूठन' आत्मकथा में पाते हैं कभी सौम्य रूप दिखाई दिया है तो कभी उग्र रूप यह सब करते हुए उन्होंने अपना व्यक्तित्व बनाये रखा है यही महत्वपूर्ण बात है।

जब मनुष्य के मन पर चोट लगती है तो उसकी भी कुछ मर्यादा होती है लेकिन दलितों को इस मर्यादा से कुछ लेनदेन नहीं था क्योंकि उनका मन मरा हुआ था। उनमें कुछ भी आशा की किरण नहीं थी। ऐसा ही प्रसंग 'जूठन' में ओमप्रकाश वाल्मीकि को हुआ है। वह जब कॉलेज में जाते हैं जब वहाँ के सवर्ण लड़के चिढ़ाते हैं उनके कपड़े और उनके देहाती लहज़े पर ज़ोर से हँसते हैं और क्या करते हैं लेखक बताते हैं- "एक ने मेरी पैंट खींचते हुए कहाँ 'किस टेलर से सिलवाई है? हमें भी उसका पता दे दो।" लेखक आगे बताते हैं- "फट जाएगी।..उसे छोड़ दो।" इस घटना से लेखक बहुत दुःखी होते हैं उनका मित्र बहादुर उन्हें दूर खड़े होने केलिए कहता है और वह उन सवर्णों के साथ क्या करता है इसे भी लेखक बताते हैं- "बहादुर ने इशारे से उसे बुलाया जैसे ही पास आया, बहादुर ने दो-तीन हाथ उसे जड़ दीये. अचानक हुए हमले से वह घबरा गया था। गिड़गिड़ाते हुए बोला 'दाई जी।..क्यूं मार रहे हो? मेरी गलती क्या है? बहादुर ने उसकी कमीज़ का कालर पकड़कर अपनी ओर खींचा, बोला तेरे कपड़े कहाँ सिलते हैं? नंगा करके भेजूँ या दर्ज़ी को यहाँ बुलाऊँ...फिर किसी से दर्ज़ी का

पता पूछेगा। उसने हाथ जोड़कर माफ़ी माँगी थी, दाई जी माफ़ कर दो गलती हो गई।"[1]

उपर्युक्त यातना और आक्रोश दलित आत्मकथाओं में लेखकों के व्यक्तिगत जीवन की पहचान है। उनके जीवन में अनेक ऐसी घटनाएँ घटी हैं, जिसमें इन्हें अनेक बार अपमानित होना पड़ा है। तो कई बार आक्रोशित होना पड़ा है, आख़िर यह समस्या है क्या? मुझे लगता है इंसानियत पाने की, स्वाभिमान, स्वतंत्रता आदि के लिए ही दलितों में छटपटाहट स्पष्ट हुई है, लेकिन हिन्दू-व्यवस्था ने दलितों के जीवन में अंधकार ही भर दिया है। उनके जीवन में अनेक समस्याओं ने जन्म लिया हैं इस संदर्भ में डॉ.अम्बेडकर कहते हैं- "अस्पृश्यों को जिन गंभीर समस्याओं का सामना करना पड़ता है, उनमें क्रम से इंसानों का दर्जा पाने की समस्या के बाद दूसरी समस्या भेद-भावपूर्ण व्यवहार की आती है। अस्पृश्यों के साथ हिंदुओं द्वारा कितना भेदभाव किया जाता है, इसके परिणाम की कल्पना करना किसी विदेशी व्यक्ति के लिए असंभव है। जीवन में कोई ऐसा क्षेत्र नहीं है, जहाँ अस्पृश्य और हिन्दुओं की एक-दूसरे के साथ प्रति-स्पर्धा न होती हो और जिनमें अस्पृश्यों के साथ भेदभाव न किया जाता हो। यह भेदभाव बहुत ही मर्मांतक तरीक़े का होता है।"[2]

3.3. जूठन में आर्थिक चित्रण :

अर्थशास्त्र वह शास्त्र है, जिसमें राज्य की प्राप्ति तथा उसकी रक्ष संबंधी अध्ययन किया जाता है। इतना ही नहीं वह मनुष्य के जीवन में बहुत ही महत्त्वपूर्ण भी माना जाता है। कहाँ जाए तो आर्थिक स्थिति पर ही जीवन निर्भर होता है। इस आर्थिक स्थिति को नियन्त्रित करने के लिए 'धर्म' की उत्पत्ति हुई। 'अर्थ' को जीवन का भौतिक साधन माना जाता है। आर्थिक स्थिति ही मनुष्य के संतोष और उसके विविध वस्तुओं को प्राप्त करने का माध्यम है। जीवन में जिन साधनों की अपेक्षा रहती है वे 'अर्थ' के बिना सुलभ नहीं है अर्थात् मानवशास्त्र का जीवन ही 'आर्थिक' स्थिति पर निर्भर है। इसलिए कहाँ जाता है कि 'धनम् मूलम् इहम् जगत।' अर्थात् धन ही सबका मूल है। लेकिन यह उक्ति दलितों के संदर्भ में सही प्रतीत नहीं होती क्योंकि इस व्यवस्था में धन सबके मूल में नहीं है बल्कि 'जाति' ही अहम

---

[1].जूठन, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.86-87

[2]. बाबासाहेब डॉ.अम्बेडकर सम्पूर्ण वाङमय, पृ-139

मुद्दा है। इसलिए 'मनुस्मृति' में कहाँ गया हैं कि-

"शकेनाषी हि शूद्रेण न कार्यो धन संचय

शूद्रो हि धनमा साध ब्राम्हणेव बाधते।"[1]

अर्थात् दलितों का संचय किया हुआ धन ब्राह्मण कभी भी ले सकता है। वह ब्राह्मण को कष्ट देता है इसलिए ब्राह्मण कभी भी दलितों का धन छीन सकता है। ऐसे नियमों द्वारा इस व्यवस्था ने दलितों को पूरी तरह से निर्धन रहने के लिए बाध्य किया। इतना ही नहीं बल्कि ऐसी व्यवस्था को एक पीढ़ी नहीं दो पीढ़ी नहीं इसके पीछे उनका स्वार्थ ही प्रबल था।

इस व्यवस्था के विषय में अनेक विद्वानों ने विचार भी किया है कि किस प्रकार भारत की 'आर्थिक व्यवस्था' दलितों के लिए लाभदायक है या नुकसान दायक है। कुछ लोगों की विचारधारा को हम देख सकते हैं नेहरू जी का भारत में प्रगतिशील दृष्टिकोण दिखाई देता है। उन्होंने अपने देश को समाजवाद पर निर्माण करना चाहा। किन्तु हो नहीं सका। उनके विचारों में 'समाजवादी' दृष्टिकोण निहित हैं उन्होंने राज्य के आम जनता के बारे में विचार किया हैं, उनका विचार था कि- "समान आर्थिक न्याय और सबके लिए अवसर सहित, केवल वर्ग-विहीन समाज ही हो सकता है, वह समाज जो मानवता के उच्च भौतिक एवं सांस्कृतिक स्तर के लिए एक नियोजित आधार पर संगठित होगा।..प्रत्येक रोड़ा जो मार्ग में आता है उसे हटाना पडेगा, यदि संभव हुआ तो सभ्यता से, और यदि अनिवार्य हुआ तो शक्ति से और इसमें किंचित संदेह नहीं लगता कि दमन भी प्रायः आवश्यक होगा।"[2]

भारत में 'मार्क्स' का आर्थिक चिंतन कुछ अटपटा लगता है। क्योंकि उन्होंने स्वीकार किया कि समाज में दो वर्ग विद्यमान है। एक 'शोषित वर्ग', उनके श्रम के उत्पादन का फ़ल या लाभ सदैव पूंजीपति वर्ग उठाता है। जबकि खून-पसीना सर्वहारा वर्ग का बहता है। दूसरा 'शोषक वर्ग', अपनी आर्थिक व राजनैतिक शक्ति के बलबूते पर ऐश्वर्यपूर्ण जीवन का आनन्द लेता है। इसलिए मार्क्स समाजवादी क्रान्ति द्वारा शोषक वर्ग के साथ राज्य को भी नष्ट करना चाहते थें। ऐसा करने से 'पूंजीवाद' का नाश संभव मानते हैं और मजदूर वर्ग उत्थान की ओर प्रगति करेगा यह आशा रखते हैं परन्तु उनका

---

[1].मनुस्मृति-10 /129

[2].भारतीय समाज एवं विचारधाराएँ, पृ,324

मानना यही था कि सामाजिक क्रान्ति केवल मजदूर वर्ग या सर्वहारा वर्ग ही ला सकती है। जिससे 'मजदूर राज्य' स्थापना ही उनका उद्देश्य था।

मार्क्स यहाँ पर 'समानता' की बात करते हैं, बहुत उपयुक्त बात है किंतु क्या भारतीय समाज में वह लागू हो सकती है? इस पर प्रश्न चिह्न लग जाता है। जिसका समाधान मार्क्स के इस सिद्धान्त से होना मुश्किल है क्योंकि यहाँ पर 'वर्ग' नहीं बल्कि 'वर्ण' की समस्या मुख्य हो जाती है, इस संदर्भ को S.K. Biswas व्यक्त करते हैं कि- "Caste is not just a social institution caste is not merely a political from nor is it a religious phenomenon only. Caste is basically an economic structure. It is basically the economic plinth and spine of social edifice. Caste system though primarily an economic structure of Hindu, society, it is definitely a religious organ ....Indeed the caste system is some sort of we may say a four in one, a religious, political, social and economic structure।"[1] इस संदर्भ में मार्क्स का सिद्धांत कहा ठहरता है यहाँ पर 'वर्ग' की समस्या नहीं है बल्कि 'वर्ण' की समस्या 'मुख्य समस्या' है। डॉ.अम्बेडकर ने मार्क्सवाद का गहरा अध्ययन किया था। उन्होंने यूरोपीय देशों में अपने प्रवास के दौरान पूंजीवाद और उसके दमन चक्र को क़रीब से देखा था तो भारतीय समाज में दलित वर्ग में पैदा होने के कारण 'जाति व्यवस्था' के कटु अनुभव तो उनके पास थे ही। वे किसी भी सिद्धांत, दर्शन और नियम को उन करोड़ों लोगों की दृष्टि से देखते, जो दलित, शोषित और ग़रीब है। इसलिए उनकी समाजवाद की अवधारणाएँ अन्य समाजवादी अवधारणाओं से भिन्न हैं इस संदर्भ में कँवल भारती डॉ. अम्बेडकर का हवाला देते हुए बताते हैं कि- "डॉ.अम्बेडकर मानते हैं कि कम्युनिज्म सर्वहारा की मुक्ति का सिद्धांत है। यदि सर्वहारा समाज का वह वर्ग है, जो अपनी आजीविका के साधन पूर्णतया तथा केवल अपने श्रम की बिक्री से हासिल करता है, किसी पूंजी से हासिल किए गए मुनाफ़े से नहीं, तो भारत में दलित जातियाँ ही सर्वहारा वर्ग है।....भारत में जिस समय वर्ण-व्यवस्था अस्तित्व में आयी उसी समय सर्वहारा भी अस्तित्व में आया। इसलिए भारत का सर्वहारा वर्ग किसी औद्योगिक क्रांति का परिणाम

[1]. Umbellar and Social justice, vol.1,p.No.122

नहीं है। वह एक ऐसा वर्ग है, जो जन्म से ही सर्वहारा है, जन्म से ही दलित है और जन्म से ही दास।"[1]

भारत में वास्तव में देखा जाए तो 'दलित, शोषित' ही यहाँ का सर्वहारा है मार्क्स की भाषा में। लेकिन यहाँ पर 'जाति' का मुद्दा मुख्य है। जब दो श्रमिक काम करके कारखाने से बाहर निकलते हैं या अपने गाँव जाते हैं तो सवर्ण श्रमिक का रवैया दलित श्रमिक के प्रति अपने आप बदलता है। और वह अपने उच्च कहलाने वाले बस्ती में जाता है तो दलित अपनी हीन-दीन बस्ती में। यही दोनों को अलग करने वाली बात है। जो मार्क्सवादी कभी समझ नहीं सकते।

भारतीय समाज का निर्माण और विकास बड़े विलक्षण रूप से हुआ है। यह देश सदियों से विभिन्न समस्याओं से घिरा हुआ, जकड़ा हुआ है। यहाँ के सामाजिक सांस्कृतिक, राजनैतिक, संस्थाओं के परिवर्तन का स्वरूप भी बड़ा विचित्र बड़ा अद्‌भुत है। मनु वादी हिंदू धर्म का मूलाधार विषमता है। यही उसके समाज व्यवस्था का आधार है। जिसमें 'जातिप्रथा' का महत्त्वपूर्ण स्थान है। आज भी इस जातिप्रथा के समर्थक मौज़ूद है। इसका समर्थन इस आधार पर भी किया जाता है कि जातिप्रथा श्रम के विभाजन का एक अन्य नाम भी है। लेकिन क्या यह लाभकारी है? नहीं! इसी व्यवस्था ने जाति को और मज़बूत बनाया है। जातिप्रथा केवल श्रम का विभाजन नहीं है यह श्रमिकों का विभाजन है। इस संदर्भ में डॉ. अम्बेडकर कहते हैं- "जातिप्रथा मात्र श्रमिकों का विभाजन नहीं है, बल्कि यह श्रम के विभाजन से बिल्कुल भिन्न है। यह एक श्रेणी बद्ध व्यवस्था है, जिसमें श्रमिकों का विभाजन एक के ऊपर दूसरें क्रम में होता है। किसी भी अन्य देश में श्रम के विभाजन के साथ श्रमिकों का इस प्रकार का क्रम नहीं होता। श्रम का यह विभाजन स्वतः नहीं होता। यह स्वाभाविक अभिरुचि पर आधारित नहीं है। सामाजिक और वैयक्तिक, कार्यकुशलता के लिए आवश्यक है कि किसी व्यक्ति की क्षमता को इस बिंदु तक विकसित किया जाए कि वह अपनी जीविका का चुनाव स्वयं कर सके। जातिप्रथा में इस सिद्धांत का उल्लंघन होता है, क्योंकि इसमें व्यक्तियों के पहले से ही कार्य सौंपने का प्रयास किया जाता है, जिसका चुनाव प्रशिक्षित मूल क्षमताओं के आधार पर नहीं किया जाता, बल्कि माता-पिता के सामाजिक स्तर पर होता है....। देखा जाए तो व्यवसायों का यह स्तर यह जातिप्रथा का परिणाम है, निश्चय ही घातक है।"[2]

---

[1]. तद्‌भव, पृ.141, जून, 2003

[2].बाबासाहेब सम्पूर्ण वाङ्मय, भाग-1, पृ.66

जातिप्रथा के कारण ही यहाँ पर चारों वर्णो के श्रम का विभाजन किया गया जिसमें ब्राह्मण को सर्वोच्च स्थान प्राप्त हुआ और दलितों को गुलामगिरी का काम करना पड़ा। इस व्यवस्था में परिवर्तन के लिए कोई छूट नहीं थी। एक वर्ग दूसरा व्यवसाय नहीं कर सकता था। ऐसा नियम बनाया गया। ऐसी स्थिति में दलितों के लिए घिनौने कार्य सौंपे गए। दलितों का शरीर और मन दोनों पर इस व्यवस्था ने कब्जा किया। दलितों को तीनों वर्गों की सेवा करने का ही आदेश दिया और इसके पीछे धार्मिक कारण लगाए अगर कोई दलित ऐसा नहीं करेगा तो उसे स्वर्ग प्राप्ति नहीं होगी। ऐसा कुचक्र चलाया गया।

मनु के विधान ने दलितों का जीवन अंधकार में धकेल दिया। उनसे ग़ुलामों की भाँति दिन-रात काम करवाए गए। बदले में बची कुची जूठन खाने के लिए डालते गए। मनु के अनुसार दलितों को कैसा होना चाहिए इसे बताता है- "किसी भी शूद्र को संपत्ति का संग्रह नहीं करना चाहिए चाहे वह इसके लिए कितना भी समर्थ क्यों न हो, क्योंकि जो शूद्र धन का संग्रह कर लेता है वह ब्राह्मणों को कष्ट देता है। खाने से बचा हुआ अन्न तथा पुराने वस्त्र, बचा हुआ अनाज और गृहस्थी का पुराना सामान उसे अवश्य दिया जाए।" आगे उसका विधान डॉ. अम्बेडकर बताते हैं- "मृतक के वस्त्र इनके वस्त्र होंगे, वे टूटे-फटे बर्तनों में भोजन करेंगे, उनके गहने काले लोहे के होंगे और वे एक स्थान से दूसरे स्थान पर आते-जाते रहेंगे।"[1]

दलित समर्थ रहने के बावजूद धन इकट्ठा नहीं कर सकता था और न धन कमा सकता था। चातुर्वर्ण्य व्यवस्था ने दलितों को पंगु बना दिया था। डॉ. अम्बेडकर का मानना था कि यह व्यवस्था बहुत ही दोषपूर्ण व्यवस्था है जिसमें दलितों को विद्या का संवर्धन नहीं करने दिया गया। उन्हें पूरी तरह से तीनों वर्णों पर आश्रित ठहराया गया। जिससे वह हर एक चीज़ के लिए उन पर आधारित हो ऐसी व्यवस्था की गई।

दलित श्रमिकों के अर्थशास्त्रिय नुकसान को अम्बेडकर ने स्पष्ट किया है, इस संबंध में उनके विचार हैं कि- "In an agricultural country agriculture can be the main source of living. But this source of earning a living is generally not open to the

[1]. बाबासाहेब सम्पूर्ण वाङ्मय, भाग-1, पृ.116-117

untouchables. This is for a varity of reasons. In the first place, purchase of land is beyond their means. Secondly, even if an untouchable has the money to purchase land he has no opportunity to do so in most parts the Hindus would resent an untouchable coming forward to purchase land thereby trying to become the equal of the touchable class of Hindus. Such an act of daring on the part of an untouchable would not only be frowred upon but might easily invite punishment. In some parts they are disable by law form purchasing land for instance, in the province of Punjab there is a law called the Land Alienation Act।"[1] कृषि प्रधान देश में खेती ही जीवन जीने का मुख्य साधन हो सकती हैं। परंतु यह मुख्य साधन मूलतः दलितों के लिए विविध कारणों से खुला नहीं है। पहला कारण, ज़मीन की खरीदी करना यह उनके बस की बात नहीं हैं। दूसरा कारण, अगर दलित ज़मीन खरीद लेने के स्थिति में हो तब भी वह वैसा नहीं कर सकता क्योंकि उनके लिए ज़मीन खरीद लेने की संधई नहीं हैं, मतलब सवर्णों ने वैसे कानून बनाए हैं कि दलित ज़मीन खरीद नहीं सकता। विविध भागों में दलित ज़मीन खरीदने आगे बढते हैं तो मान लो वह सवर्णों के बराबर आएँगे और ऐसा प्रयत्न दलितों के ओर से होने का मतलब हैं दंड विधान को निमंत्रण देना। कुछ भागों में दलित कानून के कारण ज़मीन खरीद लेने के लिए असमर्थ होते हैं। उदाहरणार्थ, पंजाब में 'Land Alienation Act।' का प्रावधान किया गया हैं उसके कारण दलित समर्थ रहते हुए भी ज़मीन खरीद नहीं सकते।

अतः कह सकते हैं कि भारत के श्रमिक कभी एक हो नहीं सकते क्योंकि यहाँ पर 'जाति' नाम का रोड़ा आड़े आता है, मानव-मानव के बीच खाई बनकर रहती है। उसका जोरों से पालन भी किया जाता है। तभी तो हजारों सालों से यह प्रथा अस्तित्व में आयी है। आखिर इस असमानता का क्या कारण है? और आर्थिक स्थिति में इतना बडा अंतर क्यों आया है? इस संदर्भ में हिन्दी दलित साहित्यकार जयप्रकाश जी के विचार द्रष्टव्य हैं कि- "आर्थिक असमानता ही सब कुछ नहीं है। हाँ यह एक अहम वज़ह हो सकती है। मगर जो वास्तविक समस्या है वह कहीं हमारे सामाजिक व्यवस्था में छिपी बैठी

[1]. Umbellar and Social Justice, Vol.2, p.No.51

है। जिसकी ओर हर विद्वान एवं आलोचक आज तक अनदेखी करते आए है। तथाकथित दलित आंदोलन को सही दिशा देने की जगह बियाबान में भटकने छोड दिया है।"[1]

आज के 'भूमण्डलीकरण' के दौर में दलितों की 'आर्थिक स्थिति' कैसे हो रही है इस संदर्भ में कंचा ऐलय्या अपने विचार व्यक्त करते हैं कि-" In the real of economic life, globalization has offered expanded and varied opportunities for the rich and made the poor it, In India, where caste occupations remain the source of survival for lower caste communities, globalization has killed many such trades and displaced traditional labour from the fields, creating nightmarish conditions for the poor. Dalit-Bahujan movements have to grapple with this situation and resist economic globalization।" [2]

यहाँ पर ऐलय्या जी का मानना हैं कि आर्थिक भूमण्डलीकरण से अमीर लोग अमीर बनते जाएँगे और गरीब लोग ग़रीब। इस भूमण्डलीकरण ने हस्त कला, कारीगरों का जीना मुश्किल कर दिया है। इसके विरोध में दलितों का आंदोलन उभर सकता है। आज की हालात देखकर जो लोग सदियों से दबाए गए थे, उनमें आशा की किरण जगी थी। किन्तु भूमण्डलीकरण से उनके जीवन में अंधकार छाने का भय निर्माण हुआ।

3.3.1.सामन्ती समाज में 'जुल्म':

सामंती समाज में दलितों का जिस प्रकार शोषण होता था आज भी कुछ कम रूप में नहीं होता है, बल्कि उसका रंगरूप कुछ अलग दिखाई देता है। देश को स्वातंत्र्य प्राप्त होकर आज 63 वर्ष पूर्ण हो गए किंतु आज भी हर रोज़ वार्ताओं के ज़रिये हम पाते हैं कि दलितों पर दिन-ब-दिन अन्याय, अत्याचार होता जा रहा है। इन सभी सामंती समाज के चिह्नों का चित्रण हम दलित आत्मकथा 'जूठन' में पाते हैं। जिसमें दिन-ब-दिन दलित समस्याएँ सामने आती हैं। दलितों के जीवन को हर पल समस्याओं

---

[1]. युद्धरत आम आदमी, विशेषांक 34-35, पृ.44

[2]. Buffalo Nationalism, p.No.159

का सामना करना पड़ता हैं। जिसके अनेक रूप दिखाई देते हैं।

दलित समाज को सामन्तवादी समाज में किस प्रकार का जुल्म सहना पडता था, इसका चित्रण 'जूठन' आत्मकथा में दिखाई देता है। सुबह उठने से रात सोने तक इन लोगों के घर, खेतो में काम करना पड़ता था। सिर्फ काम ही नहीं बल्कि काम के साथ-साथ अनेक जुल्म भी ढाँए जाते थें। जबर्दस्ती से काम लिया जाता था। अगर कोई काम नहीं करता तो उसका शोषण भी किया जाता था। 'जूठन' आत्मकथा में 'जुल्म' का भी चित्रण आया हैं जिसे हम देख सकते हैं।

दलितों को सदियों से कितनी यातनाओं का सामना करना पड़ा है। ब्राह्मण मालिक बन बैठे थे और दलित उनके ग़ुलाम। ब्राह्मणों के दास। दलितों का काम केवल तीनों वर्णों की सेवा करना बताया गया। सामंती समाज व्यवस्था में भी इस दास प्रथा का जन्म हुआ था जिसे डॉ. कमला गुप्ता बताती है- "मानव को पशुत्व की कोटि तक पहुँचाने वाली दास प्रथा की ग्रहीत प्रवृत्ति सामंती समाज की ही देन है। इस प्रथा के अंतर्गत मानव, मानव न रह कर मात्र मूक पशु बन गया जिसकी गति अपने स्वामी के साथ थी, जिसका जीवन स्वामी की सेवा के लिए था और उसकी मृत्यु स्वामी का विनोद।"[1]

'जूठन' में लेखक जब स्कूल जाते हैं तब वे दसवीं कक्षा में होते हैं। परीक्षा कि तैयारी करते हैं। दो पेपर भी होते हैं तीसरे पेपर की तैयारी चालू रहती है। तब गाँव का ज़मींदार लेखक के पास आता है और ज़बरदस्ती से बेगार करने ले जाता है। लेखक जाने के लिए तैयार नहीं थे फिर भी वह कहता है - "रात को पढ़ लियो....अब मेरे साथ चल ईख बोना है। फौजा ने आदेश दिया। मैंने उससे बहुत कहाँ कि मुझे पढ़ना है, कल मेरा पेपर है, लेकिन वह नहीं माना। ज़बरदस्ती बाँह पकड़कर खींचते हुए खेत पर ले गया। ड़रा-धमकाकर काम पर लगा दिया। गालियों की बौछार में मेरा मस्तिष्क दहकने लगा। मेरे भीतर आग भर गई थी उस रोज़। त्यागियों के ये जुल्म मेरी स्मृति में बहुत गहरे तक भरे हुए हैं जिनकी तपशि में मैं अनेक बार झुलसा हूँ।"[2]

इस प्रथा ने दलितों के मानसम्मान को कुचल दिया था। इस प्रथा का जन्म सामंती समाज की ही देन है जिसे दलितों ने कई पीढ़ियों तक भोगा है। सामंती व्यवस्था में विलासिता की तुष्टि ज़्यादा

---

[1].हिन्दी उपन्यासों में सामन्तवाद, पृ-132

[2]. जूठन, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.72

दिखाई देती है। जिसमें ग़रीबों को कुचलकर धन-इकट्ठा किया। निर्धन जनता से धन खींचने के अनेक प्रकरण सामने आए। कभी कभी दलितों पर शारीरिक अत्याचार भी होने लगे। निरीह दलित शोषण के भाग्य का विधान मानकर अपनी असमर्थता और असहाय व्यवस्था का परिणाम मानकर निरंतर इस चक्र में पिसते रहे। सामंती उच्च वर्ग दोनों और से दलितों की हड्डियों से पासे निचोड़ते रहे। दलितों को पूरी तरह से खोखला बना दिया। आज भी दलित की यही स्थिति है रात-दिन काम करने के बावजूद उन्हें दो वक्त की रोटी नहीं मिलती।

3.3.2.श्रम का मूल्य 'जूठन':

दलितों को सवर्णों के घर-द्वार और बहार खेत में, दूसरे गाँव जाना ऐसे अनेक प्रकार के काम करने पडते थें। लेकिन काम के बदले जूठन दिया जाता था। जूठन देते समय भी दलितों को नाना प्रकार का अपमान सहना पडता था क्योंकि सवर्णों को लगता था कि दलितों पर वे उपकार कर रहे हैं। इतना ही नहीं अनेक प्रकार की गालियाँ भी दी जाती थी।

बेगारी प्रथा ने दलितों के जीवन में अंधेरा ही भर दिया था। 'जूठन' में भी लेखक ने इस प्रथा का वर्णन किया है। उनकी आर्थिक परिस्थिति ठीक न होने के कारण हिंदू व्यवस्था के तहत उनके पास न खेत है न बॉडी न ही रहने के लिए ठीक से घर। उनके पास शरीर नाम की एक चीज़ थी उनके पूरे परिवार को माँ से लेकर भाई सभी को तगाओं (हिंदू, मुसलमानों) के घर में (मर्दों का बैठकखाना तथा मवेशियों को बाँधने की जगह) में साफ़-सफ़ाई करना पड़ता था। गाय, भैंस, बैल का गोबर उठाना पड़ता था, सर्दी में यह काम कष्टदायक होता था फिर भी पेट के लिए करना ही पड़ता था। गोबर और मूत्र पूरे दालन में फैलने पर दुर्गंध होती थी फिर भी उन्हें गोबर ढूंढके निकालना पड़ता था। इन सभी कामों के बदले क्या मिलता था लेखक अपने शब्दों में बताते हैं- "इन सब कामों के बदले मिलता था दो जानवर के पीछे फ़सल के समय पाँच सेर अनाज यानी लगभग ढ़ाई किलो अनाज। दस मवेशी वाले घर से साल भर में 25 सेर (लगभग 12-13 किलो), अनाज दोपहर को प्रत्येक घर से एक बची- कुची रोटी, जो ख़ास तौर पर चूहड़ो को देने के लिए आटे में भूसी मिलाकर बनाई जाती थी। कभी-कभी जूठन भी भंगन की टोकरी में डाल दी जाती थी।"[1]

[1]. जूठन, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.19

ज़ाहिर है कि दो वक्त की रोटी के लिए दलितों को सवर्णों के घर में कष्टदायी काम करना पड़ता था। ब्राह्मणों के लिए केवल आराम काम करने का नियम किया गया था। जिसका समर्थन गांधी जैसे विभूति नें भी किया था। दलितों के पास ज़मीन न होने के कारण उन्हें अनेक बेगार के काम करने पड़ते थें।

इस प्रकार हम देखते हैं कि दलितों कि स्थिति जानवरों से कुछ कम न थी। कहने के लिए दलित मनुष्य थे लेकिन उन्हें मनुष्यत्व का भान नहीं था। ऐसी स्थिति से दलितों की मुक्ति करवाने हेतु डॉ. अम्बेडकर अपने पीड़ित बांधवों को सजग करते हैं और फटकारते हुए कहते हैं- "हर रोज़ हक से घर-घर जाकर बाँसी रोटियाँ मंगना इसकी तुम लोगों को आदत पड़ गई है। इस प्रघात से गाँव में तुम्हारी इज़्ज़त नहीं है। इस रिवाज़ से इस जाति का स्वाभिमान नष्ट हुआ है। 'कुछ भी कहो, चप्पल से मारो लेकिन तुकड़ा डालो' ऐसी इन दलितों की वृत्ति बनी है। इस रिवाज़ कि वज़ह से स्वतंत्रता से तुम उन्नति नहीं कर सकते क्योंकि आज अगर तुम ने मंदिर में जाने का साहस किया तो कल तुम्हारी बाँसी रोटियाँ बंद हो जाएगी और तुम भूखे मरोगे। इस प्रकार झूठा अनाज, बाँसी रोटी के तुकड़े के लिए अपना मनुष्यत्व बिकना, यह बात बड़े खेद और शर्म की है। यह तुकड़ा मांगना छोड़कर गाँव के इतर लोगों जैसी खेती करने से क्या होगा? इससे स्वतंत्र जीवन जी सकते।"[1]

ज़ाहिर है कि डॉ. अम्बेडकर अगर दलित समाज को इतना समझाते हैं तो इसके पीछे यही कारण हैं कि दलित अपना जीवन अच्छे से अच्छा व्यतीत करें। और मनुष्य बने। स्वाभिमान से जीना सीखे यही उनका कहना था। दलित अगर स्वतंत्रता से खेती करेंगे तो वह अपना खुद का जीवन खुद जी सकते थें। इसलिए इसका राज़ जानकर ही ब्राह्मणों ने ऐसी व्यवस्था बनाई थी। जिसमें दलितों को कष्ट करने के सिवाय कुछ उपाय नहीं था।

3.3.3.आरक्षण का विरोधी स्वर :

शैक्षणिक संस्थाओं में जैसे ही अन्य पिछडें वर्ग के लिए 'आरक्षण' की घोषणा की गई देश में अनेक जगह इसका विरोध दिखाई दिया। कांग्रेस सरकार ने निर्यण लेते ही विरोध हुआ। 'सप्रंग'

[1]. बाबासाहेब सम्पूर्ण वाङ्मय, भाग-2, पृ. 27

सरकार में मानव संसाधन विकास मंत्री अर्जुन सिंह जी इस वाद-विवाद के शिकार हुए। क्योंकि 1990 के 'मंडल आयोग' के समय भी वे इस मुख्य मुद्दे में थे। इसलिए सवर्णवादी उन पर निशाना बनाए हुए हैं। जबकी इससे किसी को नुकसान होने वाला नहीं था, बल्कि जितनी सीटे पहले से हैं उसमें बढाने के निर्णय लिया गया था। ऐसे में किसके घर का क्या जा रहा है समझ में नहीं आता हैं। इन विरोधियों से बात करते समय अर्जुन सिंह जी कहते हैं- " मैं सदन और सभी लोगों को आश्वस्त करना चाहता हूँ कि सप्रंग सरकार और इसका सेवक होने के नाते मैं देखना चाहता हूँ कि निजी और गैर-सहायता प्राप्त संस्थाओं में 93 वे संविधान संशोधन के तहत अनुसूचित जातियों, जनजातियों और अन्य पिछडे वर्गों को दिये गए आरक्षण का कार्यान्वयन हो।" ऐसा होने के बावजूद कुछ लोग अर्जुन सिंह पर आरोप लगाते हैं ऐसे लोगों से अर्जुन सिंह कहना चाहते हैं कि- " यह समाज के किसी तबके को आगे या पीछे ले जाने का मुद्दा नहीं है। बल्कि सभी वर्गों में संतुलन स्थापित करने का हैं।"[1]

'आरक्षण' लागू करने के पीछे कौनसी धारणा थी इसे अर्जुन सिंह जी ने स्पष्ट किया हैं। लेकिन फिर भी देश में अनेक जगह इसने भारी रूप धारण कर लिया। इस विवाद ने हर रोज़ हर एक शहर में इसके विरुद्ध जुलूस निकाले- " देश भर में आज मेडिकल कॉलेजों के छात्र 'यूथ फार इक्वालिटि' के झंडे तले पिछले एक सप्ताह से आरक्षण का विरोध कर रहे हैं।"[2]

ज़ाहिर हैं कि देश के प्रधान मंत्री कहे जाने वाले बौद्धिक पुरुष से ही जब ऐसा विरोध हो तो सामान्य मनुष्य क्या सोचेंगे? और आज वही हो रहा है बुद्धिजीवी वर्ग के साथ साथ आम आदमी भी इसका विरोध कर रहा है। लेकिन देखा जाए तो जिस उद्देश्य से इस आरक्षण को लागू किया था, और जितना लागू होना चाहिए था उतना तो आज उसका फायदा भी दिखाई नहीं देता। जितने सीटे भरनी थी, उतनी नहीं भरी जाती।

इस तरह देखा जाता हैं कि जिसके लिए आरक्षण लागू किया गया था वह पूरा नहीं होता और सरकार हर बार आरक्षण बढ़ाने का वादा करती हैं। उसमें उनका स्वार्थ ही भरा है, क्योंकि वोट की राजनीति के लिए भी ऐसा किया जाता है। लेकिन दलितों के उत्थान के लिए कुछ नहीं किया जाता।

---

[1]. हिन्दी मिलाप, पृ. 1, 17 मई, बुधवार 2006

[2].हिन्दी मिलाप, पृ. 1, 3 मई, 2006

'जूठन' आत्मकथा में हम देखते हैं कि किस प्रकार दलितों को इस आरक्षण कि वज़ह से अपमान, दुख, यातना झेलनी पड़ी। क्योंकि आज के संदर्भ में इतना विरोध हो रहा है तो इसके पहले कैसी स्थिति होगी इसे इस आत्मकथा के माध्यम से देखा जा सकता है।

जब-जब देश में आरक्षण का प्रावधान किया गया, तब तब देश में सवर्णवादी मानसिकता ने उग्र रूप धारण किया। अगर हम देखे कि जब से आरक्षण लागू किया गया है तब से देश में विरोध ही विरोध हुआ है। ऐसा ही चित्रण इस आत्मकथा के माध्यम से हम देखेंगे कि किस प्रकार उस समय देश में आरक्षण विरोधी आंदोलन ने जन्म लिया था। इस संदर्भ में 'जूठन' में लेखक ने बताया है कि- "उन्हीं दिनों गुजरात में आरक्षण विरोध ने उग्र रूप धारण कर लिया था। ग्रामीण क्षेत्रों में आरक्षण विरोधियों ने बेइंतहा जुल्म ढाए थे। चारों ओर हिंसा का तांडव था। गांधी नगर, बड़ौदा आदि नगरों में गांधी की मूर्तियों के नीचे खड़े होकर आरक्षण विरोधी दलितों के प्रति घृणा फैला रहे थे, जिसका प्रभाव महाराष्ट्र में भी दिखाई पड़ने लगा था। सरकारी, अर्द्ध-सरकारी, कार्यालयों में दलित अधिकारियों, कर्मचारियों को प्रताड़ित किए जाने की घटनाएँ बढ़ने लगी थी। सवर्णों ने 'शोषित कर्मचारी संघ' जैसे छद्म संगठन बनाए थे जो सुनियोजित ढंग से दलितों के विरुद्ध साज़िश रच रहे थे।"[1]

'आरक्षण' विरोधी जुलूसों ने भयंकर रूप धारण कर लिया था। देश के बुद्धिजीवी भी इसका विरोध कर सकते हैं तो आम लोग क्यों नहीं करेंगे। इसका उदाहरण हम देख सकते हैं। जब डॉ. अम्बेडकर ने पहले और दूसरे गोलमेज़ में दलितों के लिए पृथक निर्वाचन क्षेत्र की माँग की थी तब अँग्रेज़ सरकार ने इसे मान्यता भी दी थी। पर यहाँ के राष्ट्रपिता कहे जाने वाले महात्मा गांधी ने भी इसका इतना विरोध किया की अपनी जान की बाज़ी लगाने के लिए भी तैयार हो गए। 'दलितों के लिए जब पृथक निर्वाचन क्षेत्र' का प्रस्ताव लागू होने वाला था तब वे दलितों के संदर्भ में कहते हैं- "लेकिन मैं जानता हूँ कि जिस अधोगति की चक्की में वे पिसे हैं, उसके लिए पृथक निर्वाचन मंडल ने तो प्रायश्चित है और न ही इलाज। अतः मैं सविनय महामहिम की सरकार को सूचित करता हूँ कि यदि उनका निर्णय दलित वर्गों के लिए पृथक निर्वाचक मंडलों के गठन का होगा, तो निश्चय ही मैं आमरण अनशन

[1].जूठन, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.130

करूँगा।" आगे वे कहते हैं कि- "मुझे अपने प्राणों की बाज़ी लगाकर आप के निर्णय का प्रतिरोध करना है। ऐसे में मैं केवल आमरण अनशन की घोषणा करके ही रुक सकता हूँ। इसमें मैं नमक और सोडा सहित अथवा रहित जल के अलावा किसी प्रकार का अन्न ग्रहण नहीं करूँगा। यह अनशन समाप्त कर दिया जाएगा। यदि इसके दौरान ब्रिटिश सरकार अपने निजी प्रस्ताव द्वारा अथवा जनमत के दबाव के अधीन अपने निर्णय को बदल दे और दलित वर्गों के लिए सांप्रदायिक निर्वाचक-मंडलों की अपनी योजना को वापस ले ले। दलित वर्गों के प्रतिनिधि सामान्य निर्वाचन-क्षेत्रों से समान मताधिकार के अधीन चुने जाँए, भले ही वह कितना भी व्यापक हो।"[1] राष्ट्रपिता कहलाने वाले महात्मा गांधी भी अपनी जान की बाज़ी लगाने तैयार हुए थे। कारण था 'दलितों को आरक्षण' राजनीति में आरक्षण, इससे होने वाला नुकसान उन्हें पता था इसलिए तो इतना बढ़ा कदम गांधी जी ने उठाया था और बाद में देश के नागरिकों ने। जब 1990 में 'मंडल आयोग कमीशन' आया था, तब देश में चारों तरफ़ 'आरक्षण' का विरोध ही दिखाई पड़ रहा था। देश में अनेक जगह पर हिंसा ने जन्म लिया था। जगह-जगह पर दंगे हो रहे थे। लोग आत्महत्या करने के लिए भी तैयार हो गए थे कारण था आरक्षण को मिटाया जाए। ज़ाहिर है कि स्वतंत्रता के समय से आज तक इस 'आरक्षण' का विरोध ही दिखता है क्योंकि आरक्षण की वज़ह से दलितों में थोड़ा परिवर्तन हो रहा है वह सवर्ण बर्दाश्त करने के लिए तैयार नहीं है। उन्हें इस बात का दुख होता है कि इसका जवाब नहीं पर हमारे हज़ारों सालों से छीने गए अधिकारों का क्या? हज़ारों साल सवर्णों ने हर क्षेत्र में आरक्षण ही तो काबिज किया था उसका क्या? थोड़ा पीछे जाकर विचार करेंगे तो शायद उनकी आँखें खुल सकती है और आज 55 वर्ष से आरक्षण लागू हुआ है तो उसके लिए पूरे देश में दहशत का वातावरण निर्मित होता है, इस संदर्भ में दलितों की समर्थक रमणिका गुप्ता कहती है- "आरक्षण की नीति लागू करने के प्रस्ताव में जातिवाद का नाग फुफकारने लगा।

सदियों से सामाजिक अन्याय झेलते-झेलते पिछड़े दलित वर्ग के ख़िलाफ़ प्रबुद्ध लोग, बुद्धिजीवी और अधिकांश साहित्यकार कमर कसकर खड़े हो गए। हांलाकि इस कानून से पिछड़ो और दलितों की ग़रीबी दूर नहीं होनी थी, उन्हें सत्ता में साझेदारी करने का एक रास्ता भर दीये जाने की बात थी,

[1]. बाबासाहेब अम्बेडकर सम्पूर्ण वाङमय, खंड-10, पृ. 252-253

लेकिन सवर्णों को यह भी सह्य नहीं था। अख़बार, मीडिया सब मिल पड़े आरक्षण नीति के विरोध में।"[1] शिक्षा में राष्ट्रीय आरक्षण नीति लागू नहीं होती है वहाँ दलित शिक्षकों की संख्या नगण्य हो जाती है। आज पूरी योग्यता शर्तों के बावजूद अनारक्षित उम्मीदवार को ही वरीयता मिलती है। स्वतंत्रता के 64 वर्षों के बाद भी यह स्थिति सोचनीय बनी हुई है।

3.3.4.सूचना क्रांति का अभाव :

आज का संसार 'सूचना क्रांति' का संसार हैं। आज दुनियाँ एक गाँव के रूप में दिखाई देती हैं क्योंकि कहाँ पर क्या हो रहा है? इसका पता केवल कुछ सेकंडों में लगता हैं। आज मनुष्य ने कहाँ से कहाँ प्रगति कर ली है? लेकिन दलितों के संदर्भ में यह बात कुछ संदेहास्पद लगती है। क्योंकि आज भी दलित समाज उसी स्थिति में जी रहा है जैसा पहले था। ऐसा नहीं बल्कि पहले से थोड़ा परिवर्तीत दिखता है। लेकिन पहले जो दलितपन उसके शरीर पर था आज उसका रूप कुछ बदल कर मानसिक रूप ने धारण किया है। आज भी दलितों के पास वह सुख-सुविधा उपलब्ध नहीं हैं जो सवर्ण भोग रहे हैं। आज भी उसकी प्राथमिक आवश्यकताएँ पूरी नहीं हो पाती हैं। टेलिफोन आज का प्रमुख सूचना तंत्र हो गया है, लेकिन दलितों के पास वह भी उपलब्ध नहीं है। ऐसे समय दलितों का किस प्रकार नुकसान होता है, इसे हम 'जूठन' आत्मकथा के माध्यम से देख सकते हैं।

सदियों से हाशिये पर ढकेल दिया गया यह समाज क्या भूमण्डलीकरण से सामना करने के लिए तैयार है? 'जूठन' में लेखक जब चंद्रपुर नौकरी करने के लिए जाते हैं, तब उनकी माँ की मृत्यु होती है और यह ख़बर लेखक को दो महीने बाद पहुँचती है, इसके कारण लेखक को बहुत दुख होता है। इतना ही नहीं जब लेखक के मन में शंका उत्पन्न होती है कि क्या पिताजी के साथ भी ऐसा ही होगा? शंका ही वास्तव में बदल जाती है, इस प्रसंग को लेखक दर्दभरी यातनाओं के साथ व्यक्त करते हैं- "चंद्रपुर आने के एक सप्ताह बाद ही माँ गुज़र गई थी। लेकिन मुझे दो महीने बाद ख़बर मिली थी। गाँव से देवेन्द्र ने पोस्टकार्ड लिखा था, जो घूमते-घूमते दो महीने बाद मिला था। कार्ड पढ़कर मैं अपने आपको संभाल नहीं पाया था। माँ की अंतिम यात्रा में शामिल नहीं हो पाने की पीड़ा काँटे की तरह

[1]. सांप्रदायिकता के बदलते चेहरे, पृ.67-68

मेरे सीने में गड़ गई थी, जिसे इतने वर्षों बाद भी भूल नहीं पाया हूँ।"[1] इस दर्द को लेखक भूल ही नहीं पाए कि इसके बाद क्या हुआ लेखक आगे बताते हैं- "मुझे लगातार यह एहसास टीस दे रहा था, माँ की तरह जैसे पिताजी भी न गुज़र जाँए। वही हुआ। उन्हें देखने गया था। मैं शायद ट्रेन में था उस समय चंद्रपुर आकर कई दिन बाद चिट्ठी मिली थी।"[2]

इससे स्पष्ट होता है कि इस भूमण्डलीकरण के दौर में दलित कहाँ खड़ा है। अगर लेखक की माँ की या पिता की मृत्यु होती है तो उनके पास वह सुविधा नहीं थी जो तुरंत उनको पहुँचा सके। मतलब 'फ़ोन' जैसी सुविधा लेखक के पास नहीं थी जिससे उनको तुरंत समाचार मिल सके। आज भी दलित तबक़े के पास फ़ोन जैसी सुविधा नहीं है। उनके पास दो वक्त की रोटी खाने के लिए नहीं है तो फ़ोन की बात ही क्या कि जा सकती है। आज के सूचना क्रांति ने दुनिया के बीच भौगोलिक दूरियों को काफ़ी कम कर दिया है ऐसा कहाँ जाता है मगर इसमें दलित किस ख़ेमे में बैठते हैं। इस संदर्भ में जितेन्द्र भाटिया कहते हैं- "देखा जाए तो पिछली कई शताब्दियों से वैज्ञानिक विकास का अधिकांश इस्तेमाल एक वर्ग विशेष के हितों के संरक्षण या उसे अधिकाधिक सुविधाएँ प्रदान करने के लिए होता रहा है, जबकि समाज का शेष तबक़ा या तो विकास की इन सुविधाओं से वंचित रहा है, या फिर वह इसके व्यावसायिक प्रयोग की बाज़ार-नीति में महज़ एक मोहरा बनकर रह गया है। संभवतः इसीलिए आज हमारे लिए अपने इस विज्ञान का नमन करने से पहले इसके वर्ग-चरित्र एवं इसकी पक्षधरता को समझना और उस पर प्रश्न-चिन्ह लगाना भी ज़रूरी होता जा रहा है।"[3] इस तरह देख सकते हैं कि भूमण्डलीकरण के दौर में इस वैज्ञानिक विकास का अधिकांश लाभ किन लोगों को होता है और किन लोगों को नहीं होता। यहाँ का जो सत्ताधारी वर्ग या विशेषाधिकारी वर्ग है वही पूँजीपति वर्ग है। और यहाँ का वंचित तबक़ा इन सुविधा से दूर रहा है वही दलित तबक़ा है जो अधिकार हीन या सत्ता हीन है।

---

[1].जूठन, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.133

[2].जूठन, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.134

[3].आलोचना, मार्च, 2001, पृ.147

3.4. 'जूठन' में धार्मिक चित्रण :

'धर्म' एक सामाजिक व्यवस्था है। समाज की संरचना और उसके नियंत्रण में धर्म की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। धर्म का अभिप्राय वस्तुतः जीवन के एक तरीके या आचरण की एक संहिता से है जो व्यक्ति के रूप में और समाज के एक सदस्य के रूप में व्यक्ति की क्रियाओं को नियंत्रित करती है। धर्म का अर्थ धारण करने के रूप में लिया जाता है, अर्थात् व्यक्ति जो धारण करता है वह उसका धर्म है। इस दृष्टि से यदि कोई चोरी करता है, डकैती डालता है, व्यभिचार करता है, हिंसा और हत्या करता है, ठगी बेईमानी करता है, यह उसका धर्म है। किन्तु धर्म का अर्थ यह नहीं है। धारण करने के अर्थ में भी धर्म का अभिप्राय उसके कर्म से है, इसमें नैतिकता का होना आवश्यक है। समाज के एक सदस्य के रूप में व्यक्ति से यह अपेक्षा की जाती है कि वह ऐसा आचरण या कर्म करेगा जो समाज को स्वीकार हो या उसे अच्छा लगे। किसी भी सामाजिक संहिता का आधार समाज की स्वीकृति में निहित होता है। धर्म मनुष्य की सामाजिक आवश्यकता है। वह धर्म-विहीन होकर नहीं जी सकता।

भारतीय समाज-व्यवस्था 'चातुर्वर्ण्य व्यवस्था' है। इस व्यवस्था में अनेक दोष हैं। 'चातुर्वर्ण्य व्यवस्था' अनेक जातियों-उपजातियों में बंटी हुई है। जिसके फ़लस्वरूप आपसी भाईचारा और समानता का अभाव निहित हैं। इन जातियों और उनकी उपजातियों में विवाह, आपसी विवाह संबंध, रिश्तेदारी, बंधुत्व आदि वर्जित रहे हैं। जिसको 'धर्म' का कवच पहना कर अपने आप को बंद कर लिया है। अगर हिन्दू 'धर्म' में कोई जाना चाहता है तो दूसरे धर्म में जा सकता था लेकिन आना चाहता है तो नहीं आ सकता, ऐसी व्यवस्था बनाई गई थी। केवल सैद्धांतिक अपितु व्यवहारिक दृष्टि से भी वह एक बंद सामाजिक 'स्तरीकरण-व्यवस्था' में बँधा हुआ धर्म है।

ऐसी व्यवस्था में दलितों की सभी स्थितियाँ अत्यंत दयनीय थी। मंदिरों में उनके प्रवेश पर प्रतिबंध, खान-पान तथा मिलने-जुलने में छूआ-छूत, शादी-विवाह में भेद-भाव पुरोहितों एवं समुदाय के अन्य सेवा-कर्मियों की सेवाओं से वंचित, ब्राह्मणों के समान रीत-रिवाजों, त्यौहारों आदि के न मनाने पर रोक आदि के कारण दलितों की स्थिति जानवरों से भी बदत्तर रही है। सवर्णों के पास 'धर्म' नाम की ऐसी चाबी थी जिससे सभी समस्याओं का मार्ग अपने आप खुलता था। यहाँ के धर्म ने दलितों को पशुसम माना है। अपने धर्म ग्रंथों में ऐसी झूठी घटनाएँ रची है जिससे दलितों का जीवन विपन्नावस्था

को प्राप्त होता है। इस देश में 'धर्म' के नाम पर ब्राह्मणों ने अपने आप को सुरक्षित रखा और दलितों को दास बनाया। आज भी ब्राह्मणवादी अपने 'धर्म' के नाम से सत्ता हासिल कर रहे हैं। यहाँ धर्म संबंधी विद्वानों के विचारों को पाया जा सकता है। मार्क्स ने धर्म का खण्डन किया है। वे कहते हैं- "धर्म अफ़ीम है।" मतलब धर्म में मनुष्य को नशा चढ़ता है। या मनुष्य के जीवन में धर्म 'नशा' का काम करता है। जिससे वह जागृत नहीं बल्कि निद्रावस्था को प्राप्त करता है।

हिन्दु जाति-व्यवस्था में धार्मिक दृष्टि से ब्राह्मणों को विशेषाधिकार प्राप्त हैं वैसे ही दलितों की कुछ निर्योग्यताएँ भी हैं। जैसे-दलितों को परम पवित्र वेदों का अध्ययन नहीं करना चाहिए। दलितों का कोई संस्कार वैदिक मंत्रों से नहीं होना चाहिए ब्राह्मणों को दलित छू नहीं सकते। दलितों के जीवन को ही नीच माना गया। देवी-देवता के मंदिर से दूर रहने का अधिकार था। दलितों को मोक्ष का अधिकार नहीं माना गया। उनका कोई उपनयन संस्कार भी नहीं था। जबकि सवर्णों के लिए उपनयन संस्कार होता था। जन्म से ही वह श्रेष्ठ माना जाता था। इस संदर्भ में 'हिंदुत्व का दर्शन' में डॉ.अम्बेडकर कहते हैं- "भारतीय इतिहास के ताने को धर्म न केवल हर स्थान पर बाना बनकर अड़े आता है, बल्कि हिन्दू मन के लिए वह ताना भी है और बाना भी। हिंदू जीवन में धर्म अपने जीवन काल में कैसा आचरण करें, तथा उसकी मृत्यु के उपरांत उसके शरीर का क्या किया जाए? धर्म उसे बताता है कि स्त्री के साथ मिलनेवाला सुख कब और कैसे प्राप्त करें? जब बच्चा पैदा हो जाए, कौन-कौन से धर्मानुष्ठान किए जाते हैं? उसका क्या नाम रखा जाए, उसके सिर के बाल कैसे काटे जाएँ, उसको पहला भोजन कैसे कराया जाए? वह कौन सा व्यवसाय करे? किस स्त्री के साथ विवाह करे? यह बात उसे धर्म बताता है। वह किसके साथ भोजन करे, कौनसा अन्न खाए कौन-सी सब्ज़ी विधिवत है, और कौन सी निषिद्ध, उसकी दिनचर्या कैसी हो, कितनी बार वह भोजन करे और कितनी बार प्रार्थना करें, धर्म इन सबका नियमन करता है। हिन्दू का ऐसा कोई कार्य नहीं, जिसका धर्म में अंतर्भाव न हो अथवा जिसके लिए धर्म का आदेश न हो। यह बहुत विचित्र प्रतीत होता है कि शिक्षित हिन्दू इस बात को अधिक महत्व नहीं देते, मानों यह कोई उपेक्षा की बात हो।"[1]

[1]. बाबासाहेब डॉ,अम्बेडकर सम्पूर्ण वाङमय, पृ. 40

सही तौर पर देखा जाए तो 'धर्म' की उत्पत्ति भी इसी युग के दौरान हुई, धीरे-धीरे 'धर्म' ने पूरे समाज को अपने शिकंजे में जकड़ लिया तथा शासक वर्ग धर्म का रक्षक बन गया। राजा की पूजा भगवान के आधिकारिक तत्व के रूप में होने लगी। उसके शासन को मजबूर करने के लिए कितने ही ग्रंथों व किताबों की रचना की गई जिनसे यह साबित किया जा सके कि भगवान का अस्तित्व है और भगवान के बगैर समाज का चलना नामुमकिन है। आज धर्म का रूप बदला है भौगोलिक स्थितियों के कारण विभिन्न धर्मों का जन्म हुआ। इनका प्रसार इतने लंबे समय तक चला कि आज लगता है कि मानो भगवान के बिना कोई कार्य संभव नहीं होता। इस प्रकार मनुष्य खुद अपनी ही कल्पना का दास बन गया।

आज विश्व में विज्ञान ने विजय हासिल कि है। जिससे 'धर्म' पंडितों को अब धर्म ही नष्ट होने का डर लग रहा है। विज्ञान ने मनुष्य के जीवन में अनेक प्रकार के परिवर्तन किए है सुबह से लेकर रात सोने तक विज्ञान के बगैर हमारा काम ही नहीं चलता। इसके चलते धर्म पंडितों को डर लगता है तो वे क्या करते हैं? इस संदर्भ को मनमोहन व्यक्त करते हैं- "ऐसी बहुत सारे उदाहरण है कि इन धर्म गुरुओं में विरोधी आवाज़ को दबाने के लिए हिंसा व क्रूरता का सहारा लिया, कई युद्ध भी लड़े गए, धर्म रक्षा के लिए और वैज्ञानिकों को जिंदा जलाया व जेल की सज़ा भी सुनाई गई। बैरुनी व गैलिलियो इसके उदाहरण हैं। धार्मिक अत्याचारों का इतिहास घिनौना हैं। बेशक, एक समय धर्म व उसकी नैतिकताओं ने समाज को जोड़ने व अग्रसर करने में अहम भूमिका अदा की हो, अगर ऐसा न होता तो धर्म की जड़े इतनी मज़बूत न होती और न ही उसका फैलाव इतना हो पाता। पर सामाजिक विज्ञान कहता है कि कोई विचार-आचार, नैतिकता शाश्वत नहीं हो सकती, यानी ऐसी दवा जो बीमारी में, हर युग में ली जा सके। समय के अनुसार समाज आगे चलने लगता है तब पुरानी धारणाएँ, समाज में रुकावट बन कर खड़ी हो जाती है। इन अंतर्विरोधों को हल करने के लिए नए-नए धर्मों का जन्म होता है। नए धर्म गुरु बन जाते हैं। बौद्ध, जैन, सिख, इस्लाम आदि धर्मों का जन्म अपनी-अपनी सामाजिक विशेषताओं के कारण हुआ। जब समाज में अत्याचार, अन्याय भेद-भाव अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाता है, तब इन अंतर्विरोधों को तत्कालीन हल करने के लिए, धर्मों का उदय हुआ जिसमें

केंद्र खतरा भगवान का ही रहा।"[1] इस तरह 'धर्म' को कायम रखने के लिए यहाँ के पोंगा-पंडितों ने क्या-क्या चाल नहीं चलाई? यह स्पष्ट होता है और आज भी शासक वर्ग पुराने धार्मिक आचार-विचार, अंधविश्वासों व कुरीतियों के जुए को आम आदमी के कंधे पर बनाए रखना चाहता है ताकि इसके सहारे उसके शासक की नींव मज़बूत रहे। धार्मिक शिला का बोझ सबसे ज़्यादा, समाज के शोषित-पीड़ित वर्ग दलित के कंधों पर ही है। दलितों का ही बहुत बड़ा भाग इसमें बढ़-चढ़कर हिस्सा लेता है। उसके पीछे की भावना मुक्ति की ही होती है। लेकिन वे जानते हैं कि आज-धर्म व भगवान उसकी कोई मदद् नहीं कर सकता। धर्म को मानना (हिन्दू धर्म) काल्पनिक वस्तु के सहारे की इच्छा नितांत मुर्खता ही है।

हिन्दू 'धर्म व्यवस्था' कलंकित करनेवाली ही है। इसमें 'मनुष्यता' के लिए कोई भी स्थान नहीं हैं। अगर कोई स्थान भी है तो अपने जाति तक ही मर्यादित है। 'जूठन' आत्मकथा में उक्त समय की 'धार्मिक परिस्थितियाँ' मतलब उस समय हिन्दू, मुस्लिम, ईसाई, दलित आदि की 'अस्मिता' किस प्रकार थी, उसे समझा जा सकता है।

3.4.1.अस्पृश्यता का पोषक हिन्दू समाज :

'हिन्दू धर्म' यहाँ के सभी 'धर्मों' का ठेकेदार हैं। यहाँ 'धर्म' के माध्यम से पूरे अधिकार प्राप्त होते हैं। इसके माध्यम से सभी सुख-सुविधा प्राप्त होती है। इस व्यवस्था में 'धर्म' ही 'मुख्य' है और मनुष्य 'गौण' है। असमानता पर आधारित 'धर्म' है। इसलिए इस आत्मकथा में हिन्दुओं का जो भी वर्णन आया है, उनका रवैया दलितों के प्रति कैसा दृष्टिगत होता है?

यह है 'हिन्दू व्यवस्था' की 'धर्म' पर आधारित नीति जो पशु को तो सम्मान देती हैं परंतु मनुष्य को इज्ज़त नहीं देती। मनुष्य को मनुष्य से दूर रखती है। ऐसे धर्म में मनुष्य के लिए स्थान नहीं हैं तो क्यों ऐसे धर्म में रहना चाहिए, इसके परिणामस्वरूप देश में अनेक लोगों ने ईसाई, सिख, मुसलमान, बौद्ध धर्म को स्वीकार किया है। डॉ.अम्बेडकर ने अपने दलित समाज को सम्मान दिलाने हेतु कितनी

[1].अपेक्षा, पृ.56, जनवरी-मार्च, 2005

चेतना भरी थी। जो एक पशुवत समाज था उसे मनुष्यत्व और पशु का अंतर ही न मालूम था ऐसे समाज को स्वाभिमानी बनाना कोई खेल नहीं, इसलिए उस समय के ब्राह्मणवादी व्यवस्था ने डॉ.अम्बेडकर को क्या-क्या नहीं कहाँ था। फिर भी डॉ.अम्बेडकर ने ध्यान नहीं दिया और दिन-रात दलितों की सेवा की।

दलित समाज में पैदा होना हिन्दुओं के नज़र में पाप ही समझा जाता है। इसलिए हिंदू दलितों को कोसो दूर रखते थें, रखते हैं। उनको स्पर्श करना भी अपवित्र माना जाता है। हिन्दू, दलितों से घिनौने कार्य करवाते हैं फिर भी उन्हें दूर रखते हैं। ऐसी ही हिन्दू मानसिकता का चित्रण 'जूठन' में लेखक ने किया है। लेखक पढ़ते समय अंबरनाथ के छात्रावास में थे। जहाँ उनका आर्डिनेन्स फैक्टरी ट्रेनिंग संस्थान में नंबर लगा था उस समय की बात है लेखक के सरनेम के कारण उन्हें अधिक लोग 'सवर्ण' समझते थें। वहाँ पर कुलकर्णी परिवार से उनकी और उनके मित्र सुदामा पाटील का घनीष्ठ संबंध था लेकिन वे जानते नहीं थे कि लेखक दलित हैं। अचानक एक दिन उनके घर कांबले प्राध्यापक आए थे और मिसेज कुलकर्णी ने उन्हें चाय तो दि लेकिन उनका कप भी अलग था और वे बाद में अन्दर भी नहीं ले गई इससे वाल्मीकि को इसका ध्यान हुआ और उन्होंने अपने मित्र से पूछा तब सुदामा पाटिल ने बताया कि वहाँ के ब्राह्मण बहुत जातिवादी हैं। इस प्रसंग को लेखक बताते हैं- "मराठी ब्राह्मण वह भी पूजा के ब्राह्मण महारों को अपने बर्तन छूने नहीं देते। इसलिए उनके अलग बर्तन रखे जाते हैं। चाय के झूठे कप मिसेज कुलकर्णी उठाने आई थी, लेकिन कांबले का कप कुलकर्णी उठाकर ले गया था।" यह सब सुनकर मेरी कनपटियाँ गर्म हो गई थी, जैसे किसी ने गर्म पारा उडेल दिया हो।"[1]

ज़ाहिर है कि इस आत्मकथा में हिन्दू धर्म का दृष्टिकोण दृष्टिगत हुआ है। जिसमें दलितों के लिए सवर्णों के पास कुछ भी दया नहीं हैं। वे अपने पास दलितों को क्यों बैठने देंगे? और समानता परक व्यवहार कैसे करेंगे? इस संदर्भ में दलित साहित्यकार डॉ.डी.आर.जाटव जी कहते हैं- "हिन्दू धर्म अथवा ब्राह्मणवाद स्वतः वर्णाश्रम धर्म का दर्शन हैं और वह नियतिवादी, समाज दर्शन का पोषक हैं। अतः वह भारतीय लोगों में सामाजिक एकता नहीं ला सकता। यहाँ तक कि वह सब हिन्दुओं को भी संगठित नहीं कर सकता। वह हिन्द विभाजन का प्रतीक हैं, न कि हिन्दू विद्वान अपने सहधर्मियों

[1].जूठन, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.115-116

अर्थात् शूद्रो, अछूतों के प्रति ज़हर उगलते हैं। वे अब भी वर्ण-जाति एवं छूआछूत व्यवस्था का समर्थन करते हैं। छूआछूत को धार्मिक जीवन का अंग बतलाया जाता हैं। और उसके व्यवहार पर भी बल दिया जाता हैं। हिंदू समाज की तथाकथित उच्च जातियाँ किसी भी प्रकार का जातिगत सुधार नहीं चाहते। वैसा करने से उनके पैतृक विशेषाधिकार कम होते हैं।"[1] इसलिए तो हिन्दू-धर्म कभी भी जाति को खत्म करने की बात नहीं करता क्योंकि उसमें उनका स्वार्थ छिपा है। जिनसे वह समानता नहीं चाहता बल्कि असमानता ही चाहता है।

3.4.2कट्टरता का प्रतीक 'मुसलमान' :

भारत देश में अनेक जातियाँ निवास करती हैं, यहाँ अनेक बोलियाँ बोली जाती हैं। मुख्य रूप से हिंदू, मुसलमान, ईसाई, सिख, बौद्ध, दलित, आदिवासी ऐसे अनेक प्रकार की जातियाँ यहाँ रहती हैं। कहने का मतलब है प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से इन सबका साहित्य पर प्रभाव पड़ता है। वैसे ही जूठन आत्मकथा में उक्त समय मुसलमान जाति का अंशिक रूप में चित्रण आया है। अतः यह आत्मकथा दलितों की हैं इसलिए उस समय में 'मुसलमान' कैसे दिखाई पड़ते हैं इसे देखा जा सकता है।

पहले वे दलितों को अपने नज़र में गिरा हुआ मानते हैं और बाद में अपनी जनसंख्या बढ़ाने हेतु उन्हीं को अपने धर्म के अन्तर्गत शामिल करना चाहते हैं। ऐसे में उन्हें क्या कहाँ जाए? समझ में नहीं आता। हिन्दुओं ने भी दलितों का समय-समय पर इस्तेमाल किया और फेक दिया। कष्टदायी और घृणित कार्य करने के लिए दलितों का भरपूर उपयोग किया, लेकिन मानवीयता के क्षेत्र में उन्हें कोसों दूर ढ़केल दिया। वैसे ही मुसलमानों का भी नज़रीया कुछ कम नहीं था ऐसे प्रसंग को 'जूठन' में लेखक बताते हैं कि- "बरला गाँव में कुछ मुसलमान त्यागी भी थे। त्यागियों को भी तगा कहते थें। मुसलमान तगाओं का व्यवहार भी हिन्दुओं जैसा ही था। कभी कोई अच्छा साफ-सुथरा कपड़ा पहनकर यदि निकले तो फब्तियाँ सुननी पड़ती थीं। ऐसा हमेशा होता था। साफ़-सुथरे कपड़े पहनकर कक्षा में जाओ तो साथ के लड़के कहते 'अबे चुहड़े का नए कपड़े पहनकर आया है।' मैले पुराने कपड़े पहनकर स्कूल जाओ

[1]. भारतीय समाज एवं विचारधाराएँ, पृ.395

तो कहते, 'अबे चुहड़े के दूर हट, बदबू आ रही है।"[1] इस तरह इस आत्मकथा में मुसलमानों का व्यवहार किसी हिन्दू से कम नहीं हैं। असमानता के लिए वास्तव में देखा जाए तो मुसलमानों में जगह नहीं हैं लेकिन हिन्दुओं का अनुकरण करके मुसलमानों ने भी इसे ग्रहण किया है। लेकिन आज के संदर्भ में इस देश में दलित जैसे अल्पसंख्यक हैं वैसे ही मुसलमान भी अल्पसंख्यक हैं। इसे ध्यान में रखते हुए अगर यह लोग आपस में भाईचारा रखते हैं तो शायद बात कुछ और हो जाएगी।

3.4.3.भाईचारे का प्रतीक 'ईसाई' :

भारत में अनेक धर्म विद्यमान हैं, जिसमें 'ईसाई धर्म' का भी स्थान है। यह धर्म भारत में तब आया जब भारत पर आंग्रेजों का राज्य था। उन्होंने यहाँ के सामाजिक बुराईयों का अध्ययन किया। और उन्हें यहाँ धर्म-प्रचार के लिए मौका मिला। जिसका उन्होंने भरपूर फायदा कर लिया ईसाई मिशनरियों ने यहाँ के ग़रीब, पदलित एवं पिछड़ी जातियाँ जो दुःख में थी, उनका साथ दिया, उनकी मदद की और अपने धर्म में आने का आग्रह किया। इस धर्म में 'मानवतावाद' पर ज्यादा बल दिखाई देता है। भारत में भी इसका प्रसार प्रचार हुआ।

उस समय भारत के सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन मे ईसाई धर्म ने अपना प्रभाव डाला और यहाँ का हिन्दू धर्म और सजग हो गया। 'जूठन' आत्मकथा में ईसाई धर्म कैसा है, किंचित मात्रा में वर्णन आया हैं, जिसे हम देख सकते हैं। 'जूठन' में लेखक ने एक ईसाई का चित्रण किया है, जिससे वह बताते हैं कि उनके मोहल्ले में एक ईसाई आते थें और बिना पैसे लिए मुफ़्त में पढ़ाई पढ़ाते थें। इस प्रसंग को लेखक बताते हैं कि- "हमारे मोहल्ले में एक ईसाई आते थें। नाम था सेवक राम मसीही। चुहड़ों के बच्चों को घेरकर बैठे रहते थें। पढ़ना, लिखना सीखाते थें। सरकारी स्कूलों में तो कोई घुसने नहीं देता था। सेवकराम मसीही के पास सिर्फ मुझे ही भेजा गया।" आगे लेखक बताते हैं कि वह कैसे पढ़ाते थें- "मास्टर सेवकराम मसीही ने खुले, बिना कमरों, बिना टाट-चटाईवाले स्कूल में अक्षर ज्ञान शुरु किया था।"[2] यहाँ पर सेवकराम की सेवा उस समय दलित बस्ती के लिए वास्तव में देखा

---

[1]. जूठन, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.13

[2].जूठन, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.12

जाए तो बहुत महत्त्वपूर्ण लगती है। क्योंकि जिस समाज में सवर्ण लोग दलितों को छूना मात्र से परहेज करते थें ऐसी अवस्था में कोई आकर अगर दलित बच्चों को पढाता है तो वह बहुत ही अच्छी बात है। लेकिन यहाँ सवर्ण समाज यह भी देखने के लिए तैयार नहीं होता। वे उसे मारने तक जाते हैं।

'ईसाई धर्म' में मानव सेवा के लिए कुछ तो स्थान है। इसलिए वे लोग दलितों की बस्तियों में घुम-फिर कर दलितों की सेवा करते हैं। ऐसे में घृणा करने वाले ब्राह्मण अच्छे लगेंगे या मानवतावादी, प्रेमसंपन्न ईसाई। इसी वज़ह से यहाँ के दलितों ने ईसाई धर्म स्वीकार कर लिया। अगर कई दिनों से भूखे आदमी को कोई प्यार से खाना खिला दे तो उसके मन में क्या आयेगा? या वह इस प्रसंग को कैसे स्वीकार करेगा? इससे यही दिखाई देता है कि इस अत्मकथा में जो भी 'ईसाई धर्म' का चित्रण आया है वह कहीं न कहीं इन्सानियत वाला ही हैं।

3.4.4.बौद्ध धर्म एवं दलित :

बौद्ध धर्म ने अध्यात्मवाद को अस्वीकृत करके, लोगों को एक नवीन समाज चिंतन की ओर प्रेरित किया। बौद्ध धर्म ने स्वयं सामाजिक सम्बन्ध और तात्त्विक चिंतन के क्षेत्र में अपने मापदण्ड स्थापित किये। उसने ब्राह्मणवाद की दमनकारी तथा कष्टदायक नीतियों एवं व्यवहारों का कड़ा विरोध किया और एक जनतांत्रिक व्यवस्था में विश्वास प्रकट करते हुए, लोगों के दृष्टिकोण में मौलिक परिवर्तन पर बल दिया। बौद्ध धर्म तथा ब्राह्मणवाद के बीच संघर्ष वास्तव में भारतीय समाज इतिहास का एक खरा तथ्य रहा है। इसे दृष्टि में रखा जाए तो दलितों के जीवन में बौद्ध धर्म ने आशा की किरण जगाई हैं। किन्तु बौद्ध धर्म स्वीकार करने से पूर्व दलितों की स्थिति कैसी थी और बौद्ध धर्म स्वीकार के बाद दलितों की परिस्थिति में कैसे परिवर्तन आए? इसे हम 'जूठन' आत्मकथा के माध्यम से देख सकते हैं।

3.4.4.1.बौद्ध धर्म स्वीकार पूर्व दलितों की स्थीति :

भारतीय समाज व्यवस्था में दलित सबसे 'निम्नावस्था' को प्राप्त था। इसे तो जानते हैं। लेकिन दलितों पर इतनी सामाजिक गुलामगिरी होने के बावजूद दलितों पर उनके धर्म के अनुकरण का प्रभाव पड़ गया था। जिससे वे अपने जीवन में उन्हीं के धर्म के अनुकरण करते हैं लेकिन हिन्दुवादी व्यवस्था

ने यह भी तय किया था कि दलितों के भगवान कुछ अलग होंगे। हिन्दू के जो भगवान होंगे वे दलितों के नहीं होंगे। और न ही वे उसकी पूजा कर सकेंगे। इसलिए जब कभी दलित अपनी भगवानवाली धारणा को प्रकट करते थें तब वे अपने भगवानों को पूजते थें। दलितों का मुख्य संस्कृति से बहिष्कार तो किया गया लेकिन दलितों ने उनकी नकल ही की है। उनके देवताओं के नाम भी अलग होते थें। उनके देवी-देवता अलग दिखाई देते थें। हर कार्यक्रम में उनकी पूजा की जाती थी। 'जूठन' में वाल्मीकि इस प्रसंग को बताते हैं- "सुअर हमारे ज़िंदगी का एक अहं हिस्सा थे। शादी-ब्याह, हारी-बीमारी, जीवन-मृत्यु सभी में सुअर की महत्ता थी। यहाँ तक कि पूजा-अर्चना भी सुअर के बीना अधूरी थी। आंगन में घूमते सुअर गंदगी के प्रतीक नहीं बल्कि सामाजिक समृद्धि के प्रतीक थे जो आज भी वैसे ही है। हाँ शिक्षित वर्ग ने स्वयं को इन मान्यताओं से अलग कर लिया है।"[1]

भारतीय हिन्दू-व्यवस्था में दलितों के मन-मस्तिष्क पर किस प्रकार का कब्जा कर लिया था। उन्हें यह पता नहीं था कि वे गंदगी में पलनेवाले पशु को भी देवता मान बैठे। क्योंकि हिंदू व्यवस्था के नियमानुसार भगवान कि पूजा करनी चाहिए, इसी नियम को लागू करवाने हेतु दलितों ने गंदे पशु को भी नहीं छोड़ा यह हिन्दू की ही नक़ल थी, लेकिन उनके भगवान की पूजा करने नहीं देते थें। अगर कोई भगवान के मंदिर में घुस जाता है तो उसकी हत्या करना भी मामूली बात थी- "महाराष्ट्र में सबसे प्रसिद्ध मंदिर पण्डरपूर का है। इसमें विठोबा-रुक्माबाई की मूर्तियाँ है। इस मंदिर में दलित संत चोखा मेला की हत्या कर दी गई, कारण था वह पूजा करने के लिए मंदिर के अंदर घुस गया था। इस मंदिर के दरवाज़े अछूतों के लिए सदैव से बंद रहे हैं।" [2] फिर भी दलित हिन्दू धर्म की ही नक़ल करते हैं।

दलितों में उस समय अपना भी कोई देवता हो, यह भावना थी और आज भी किसी न किसी रूप में वह भावना है। लेकिन रूप बदला है। धर्म का भारतीय समाज में बहुत बड़ा स्थान है। हिन्दू धर्म ही दलितों को मानसिक रूप से पंगु बनता है, यह डॉ.अम्बेडकर ने अच्छी तरह पहचाना था, इसलिए उन्होंने इस धर्म की पोल खोल दी। उनका मानना था कि भारत में आर्थिक सुधार लाने से कुछ नहीं होने वाला है। यहाँ पर धर्म का ही प्रमुख बोलबाला है, यहाँ मनुष्य के जीवन में हर क्षण धर्म ही मुख्य मायने रखता है। इसलिए हिन्दू-व्यवस्था में धर्म ही 'मुख्य' है मनुष्य 'गौण' । वे अपने 'जातिप्रथा

---

[1]. जूठन, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.24

[2]. हिन्दुओं के व्रत और त्यौहार, पृ.178

उन्मूलन' के भाषण में लिखते हैं- "भारत में लखपति लोग अकिंचन, साधुओं और फ़कीरों की आज्ञा क्यों मानते हैं? भारत में लाखों दरिद्र अपनी मामूली चीज़ों को भी जो उनकी एक मात्र संपत्ति होती है, बेचकर बनारस और मक्का क्यों जाते हैं? भारत के इतिहास में इस बात का चित्रण है कि 'धर्म सत्ता का स्रोत' है, जहाँ पुजारी को सामान्य व्यक्ति से अधिक महत्त्व प्राप्त है और कभी-कभी तो यह प्रथम मजिस्ट्रेट से भी अधिक होता है। भारत में हर चीज़, यहाँ तक की हड़ताल और चुनाव पर भी आसानी से धर्म का प्रभाव पड़ता है, और वह ऐसी घटनाओं को धार्मिक मोड़ दे देता है।"[1] इसलिए ढोंगी साईबाबा जैसे पण्डों के पैर भारत के राष्ट्रपती भी पडते हैं। आम लोगों को गुमराह करते हैं। यहाँ 'धर्म' के माध्यम से ही राज्य भी चलता है। वोट पाने के लिए बड़े-बड़े नेतागण ऐसे ढोंगी साधुओं का सहारा लेते हैं। क्योंकि उनके पास आम-जनता का बोलबाला ज्यादा रहता है। इसी कारण ऐसे साधुओं को भी महत्त्व प्राप्त हुआ है।

3.4.5.बौद्ध धर्म स्वीकार के बाद दलितों की स्थिति :

भारत में 'हिन्दू धर्म' की कठोर और यथार्थ आलोचना डॉ.अम्बेडकर के पहले शायद ही किसी ने की है, और जिन कुछ लोगों ने आलोचना की है वे भी अंत में हिन्दू समाज के सुधारवादी आंदोलन के अंग बन गए हैं। डॉ.अम्बेडकर ने ही इस व्यवस्था पर मूल प्रहार किया। उन्होंने अपने चिंतन और आंदोलन का प्रारंभ ही हिन्दू धर्म, हिन्दू समाज-व्यवस्था के विरोध में किया। यह बात उनके समकालीन राजनेताओं में नहीं दिखती। महात्मा गांधी जैसे राजनीतिक नेता तो घोषित रूप से अपने आप को कट्टर सनातनी हिन्दू मानते थें। इसलिए उन्होंने सही दिशा में कभी प्रयास ही नहीं किया। इस संदर्भ में डॉ. विमल कीर्ति कहते हैं कि- "महात्मा गांधी धर्म को आलोचना के परे की चीज़ मानते हैं। वे किसी भी रूप में धर्मग्रंथों की आलोचना पसंद नहीं करते। उनके लिए वेदादि, भगवत गीता, रामायण आदि धर्म साहित्य अपौरुषेय है। इसलिए मानवी आलोचना से परे की चीज़ है। धर्म भी उनकी इस आलोचना से परे की चीज़ नहीं है, उन्हें धर्म ग्रंथों की अपौरुषयता, पवित्रता, धर्म प्रामाण्य, धर्म ग्रंथ प्रामाण्य शब्द प्रामाण्य इस तरह की कोई बात मंजूर नहीं है।"[2]

---

[1]. बाबासाहेब डॉ.अम्बेडकर सम्पूर्ण वाङमय,भाग-6, पृ.62

[2].बौद्ध धर्म के विकास में डॉ.बी.आर. अम्बेडकर का योगदान, पृ136-137

राष्ट्रपिता कहलाने वाले गांधी भी धर्म का समर्थन कर रहे थे। उन्हें केवल समाज में सुधार चाहिए न कि परिवर्तन। इसलिए सुधार का ढोंग रचा जा रहा था उसके पीछे कारण था 'वोट बैंक' का इसलिए वे दलितों को हाथ से न जाने देने के चक्कर में थे। पर डॉ.अम्बेडकर अच्छी तरह समझ रहे थे कि जब तक दलित समाज हिन्दू समाज का अंग बना रहेगा तब तक उसे गुलामी से मुक्ति नहीं मिलेगें। हिन्दू समाज में दलितों को कोई फ़ायदा नहीं था, न सुधार, न परिवर्तन संभव था। यह सब सोचकर ही डॉ.अम्बेडकर ने धर्मांतरण की घोषणा की।

ज़ाहिर है कि उस समय बौद्ध धर्म का प्रचार हो रहा था और दलितों में भी चेतना जाग रही थी। ऐसा ही अनुभव ओमप्रकाश वाल्मीकि का भी है वे 'जूठन' में कहते हैं-अम्बेडकर जयंती कार्य क्रम में भी महार ही अधिक दिखाई पड़ते थें। बाबासाहब भीमराव अम्बेडकर ने बौद्ध धर्म की दीक्षा ली थी। महार भी उनके साथ बौद्ध हो गए थे।" आगे वे कहते हैं- "बौद्ध धर्म की अनेक पुस्तकें मैनें राहूल जी के अनुवादों से पढ़ी थी, अंगुत्तर निकाय, मझम निकाय, संयुक्त निकाय, सुत्तपिटिक, दीर्घ निकाय, बौद्ध दर्शन आदि राहुल जी की पुस्तकों ने मेरे भीतर एक नई चेतना पैदा की थी।"[1] उस समय के दलित समाज में चेतना के चिंगारियाँ उलझ रही थी और लोग हिन्दू व्यवस्था को समझने की कोशिश कर रहे थे। इसलिए उस समय के दलितों को डॉ.अम्बेडकर ने जो धर्म दीक्षा दी वह बहुत मूल्यवान साबित हुई। एक तरफ़ 'ब्राह्मणी व्यवस्था' अपने अंतर्गत दलितों को स्थान नहीं देती है तो दूसरी तरफ़ उन्हें दूसरे धर्म में जाने का अवसर भी बर्दाश्त नहीं करती। कैसी विडम्बना थी। जब डॉ. अम्बेडकर ने धर्मांतरण करने की घोषणा की थी तब भी यहाँ का सनातनी वर्ग आग-बबूला होकर डॉ.अम्बेडकर के ख़िलाफ़ खड़ा हुआ था। देश में एक ऐसा वातावरण निर्माण हुआ था कि सब डॉ.अम्बेडकर के विरुद्ध बोलने लगे थे। डॉ.अम्बेडकर को अनेक लोगों ने इस धर्मांतरण से रोका था लेकिन डॉ.अम्बेडकर ने बहुत सोच-समझकर बौद्ध धर्म को स्वीकार किया। वे हिन्दू धर्म के तिरस्कार से ऊब गए थे। लेकिन वे इस्लाम, ईसाई और सिख तीनों धर्मों की विशेषताओं पर बहस भी करते थें, फिर भी उन्होंने अपना कदम सोच-समझकर आगे चलाया।

---

[1].जूठन, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.146

3.5.'जूठन' में राजनीतिक चित्रण :

समाज से व्यक्ति को दूर नहीं किया जा सकता। व्यक्ति के अभाव में समाज की निर्मिति संभव नहीं होती। शासन अथवा राज्य व्यक्ति-व्यक्ति के बीच स्थित संबंधों को नियंत्रित करने के लिए अथवा पूरे समाज पर नियंत्रण रखने के लिए ज़रूरी होता है। 'शासन संस्था' का जन्म ही इसी अपरिहार्य स्थिति के कारण हुआ है। शासन व्यवस्था एक अनिवार्य अपरिहार्य स्थिति है और वह हमेशा राजनीतिक सत्ता पर आधारित होती है।

भारत की समाज व्यवस्था जन्म पर आधारित है। इसमें ब्राह्मण वर्ण सर्वश्रेष्ठ और शेष सभी क्रमिक सामाजिक असमानता पर है। यह ब्राह्मण वर्ग सदियों से समाज में विशेष सुविधा भोगी वर्ग है। इस वर्ण की अर्थ-व्यवस्था पूरी तरह से दान पर, पूजा-पाठ, यज्ञ, कर्मकांड आदि पर निर्भर करती है। यह व्यवस्था सदियों से भारतीय इतिहास में अनुत्पादक ही रही है। यह व्यवस्था इतिहास में सामाजिक, सांस्कृतिक दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ तो रही है, किंतु समय आने पर या इस वर्ग के विशेषाधिकारों को समाप्त करके जब सभी आम आदमी या सामान्यजनों के अधिकारों के साथ इस समाज को रखने का प्रयास हुआ उस समय इस वर्ग ने सत्ताधारियों के विरुद्ध षड़यंत्र किया है। इस व्यवस्था ने अपने स्वार्थों के लिए षड़यंत्र रचे थे। जिससे इतिहास काल में देखा जाए तो पंडा, पुरोहित ही नहीं रहा बल्कि राजनीतिक शासक भी रहा है, इस संदर्भ में विमल कीर्ति कहते हैं- "ब्राह्मणी धर्म, संस्कृति, दर्शन और समाज व्यवस्था ने देश को कमज़ोर किया है। इसलिए देश विदेशी आक्रमणों का मुक़ाबला नहीं कर सका। विदेशी आक्रम णों के सत्ता काल में ही नीची जातियों को कुछ राहत मिली है और उच्च जातियों के विशेषाधिकार समाप्त करने के प्रयास हुए है। विदेशी धर्म, शासक और विचारों के प्रभाव से ही जाति-व्यवस्था और ब्राह्मणी वर्चस्व दुर्बल बनती रही है।"[1]

राजनीति राष्ट्र का एक महत्वपूर्ण और निर्णायक अंग है। राष्ट्र की सशक्त और सक्रिय व्यवस्था है। प्रत्येक राष्ट्र की अपनी राजनीति होती है जिसकी देख-रेख में देश की उन्नति और अवनति आधारित है। प्रत्येक राजनीति का एक व्याकरण होता है। विधान सम्मत और जन सम्मत इस व्याकरण के चलते देश के राजकाज को सफ़लतापूर्वक सम्पन्न किया जाता है और इस व्याकरण की सीमाएँ भी होती हैं।

---

[1]. बौद्ध धर्म के विकास में डॉ.बी.आर. अम्बेडकर का योगदान, पृ.79

जब इन सीमाओं का अतिक्रमण होता है या विधान सम्मत व्याकरण की उपेक्षा की जाती है तो पूरे देश में और जन सामान्य में वैषम्य अथवा अस्त-व्यस्त का वातावरण छा जाता है। जीवन का कोई भी क्षेत्र राजनीति से अछूता नहीं रहता है। अगर राजनीति स्वस्थ हो देश भी स्वस्थ मूल्य से परिचालित व संचालित होता है। अतः एक स्वस्थ व्यवस्था के लिए स्वस्थ राजनीति की सख्त ज़रूरत है। आज़ादी के बाद भारतीय संविधान निर्मित हुआ है। जिस देश के हर दलित वर्ग को स्वतंत्र रूप में जीने का अधिकार और स्वतंत्र से बोलने और अपनी बात कहने का प्रावधान किया गया।

आज़ादी तो मिली है। पर आज़ाद भारत में भोग का अधिकार कुछ विशिष्ट वर्ग व चंद चालाक लोगों ने अपने हस्तगत कर लिया है। दूसरे शब्दों में आज़ादी के फ़ल प्राप्त करने के दावेदार के रूप में केवल राजनेता, जन प्रतिनिधि, पूँजीपति और सामंत ही आते हैं। दलित वर्ग के हित में योजनाएँ तैयार तो की जाती हैं, लेकिन उन पर कब्जा इन्हीं लोगों का है। छोटी सी छोटी समस्या के समाधान के लिए दलितों को अधिक से अधिक संघर्ष करना पड़ रहा है। दलित एक तरफ़ आज़ादी के फ़ल और सुख-सुविधाओं से वंचित होकर अत्यंत बढ़ते व्यक्तिगत भेदभाव, संप्रदायिकता, शोषण के शिकंजों में फँसकर मुक्ति की राह तलाशते हुए छटपटा रहा है।

3.5.1.दलित सत्ता का निर्माण 'दलित पार्टियाँ' :

भारत देश लोकशाही पर चलने वाला देश है। इसमें स्वतंत्रता पर बल दिया जाता है। लोकशाही को चलाने के लिए एक पक्ष और दूसरे विपक्ष की ज़रूरत होती है। जब यहाँ के चुनाव लड़े जाते हैं तब अनेक पार्टियाँ अपने जीत के लिए अपने उम्मीदवार खड़ा कर देती है। लेकिन चुनाव ले के लिए मुख्य पार्टी मानी जाती है। जब पार्टी ही नहीं होगी तो चुनाव कैसे लड़ा जाएगा? इसलिए हम 'जूठन' आत्मकथा में राजनीति का चित्रण देखेंगे। उसमें चुनाव लड़ते समय किस प्रकार पार्टियाँ दिखती है उसे दर्शाया जाता है।

'जूठन' में लेखक वाल्मीकि बताते हैं कि डॉ.अम्बेडकर ने राजनीति-सत्ता के लिए किस प्रकार का गठन चाहा था। उनके महापरिनिर्वाण के कारण उनका वह स्वप्न पूर्ण नहीं हो पाया था। तब उनके अनुयायियों ने उनका स्वप्न तो पूर्ण किया, लेकिन वे उसमें असफ़ल रहे आखिर क्या कारण था वह असफ़ल रहने का? इसे लेखक अपने शब्दों में बताते हैं- "डॉ.अम्बेडकर ने राजनीति-सत्ता के लिए

रिपब्लिकन पार्टी का गठन किया था, लेकिन उनके महापरिनिर्वाण के बाद रिपब्लिकन पार्टी अनेक गुटों में बंट गई थी। प्रत्येक नेता स्वयं को बाबा साहेब का वारिस मानकर अध्यक्ष बनने की होड़ में शामिल था, जिसका परिणाम यह हुआ कि एक एक नेता की एक-एक पार्टी बन गई थी।"[1]

दलित राजनीति के सूत्र एक साथ एक हाथ में कभी नहीं आ पाये। इसके कारण क्या हो सकते हैं? ऐसा अगर प्रश्न निर्माण हुआ तो यही कहना होगा कि वैयक्तिक 'राग-द्वेष और सत्ता' के लिए ही यह पार्टी अनेक गुटों में विभाजित होती गई। अगर देखा जाए तो डॉ.अम्बेडकर का मानना था कि विरोधी दल की एक अच्छी पार्टी होनी चाहिए। जो कि जनता के लिए काम कर सके ऐसा उनका विचार था। इसलिए उन्होंने इस पार्टी की कल्पना की थी लेकिन कुछ न हो सका। इस तरह 'जूठन' आत्मकथा में हम इस प्रकार के पार्टियों को देख सकते हैं जो दलितों से जुड़ी हैं।

3.5.2.वैज्ञानिकता की परख 'प्रचार' :

सामाजिक समानता और आर्थिक समानता, इस पर आधारित समाज का निर्माण यही राजनीतिक दर्शन का कार्य है। जिससे 'समानतापरक' लोकशाही का निर्माण हो सकता है। लोकशाही पर आधारित राज्य स्थापन करने के लिए किन-किन चीज़ों की आवश्यकता होती हैं उसे हम देखेंगे। जिसमें उम्मीदवार तो खड़ा होता है लेकिन लोगों को चेतन शील बनाने के लिए प्रचार-प्रसार करने की भी ज़रूरत होती हैं। जिससे अच्छे लोकशाही का निर्माण हो सके।

लोकशाही इस प्रकार होनी चाहिए कि 'बगैर खून-खराबा और दंगों के सिवाय जो सरकार सामाजिक क्षेत्रों में, आर्थिक क्षेत्रों में परिवर्तन करती हैं वही लोकशाही पर आधारित सरकार हो सकती हैं।' जब चुनाव होते हैं तब उसका प्रचार करना भी जरूरी होता है क्योंकि आम लोगों के मन में आए कि कौन सी पार्टी अच्छी है और कौन सी पार्टी उनका वादा निभा सकती है। इसी बिंदु को हम जूठन आत्मकथा में देखने को प्रयत्न करेंगे।

उस समय पार्टी की अपेक्षा उम्मीदवार को ही ज्यादा परखा जाता था जिसके चलते लोग खुद निर्णय लेते थें। लेकिन आज की परिस्थिति मे देखा जाए तो परिस्थिति कुछ और ही दिखती है और

---

[1].जूठन, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.129-130

कई बार दुबारा मतदान भी होता है। 'जूठन' में वाल्मीकि जी ने अपने समय उनके मित्र चुनाव लाड़ रहे थे, उनका साथ दिया था। चुनाव प्रचार के लिए वह गाँव-गाँव घुमे थे। इससे उनके मन में वहाँ की दलित बस्तियाँ देखकर अनेक विचारों ने घेर लिया था। इस प्रसंग को लेखक अपने शब्दों में बताते हैं- "चुनाव-प्रचार में रुकड़ी के आसपास के गाँव, मोहल्ले में हम लोग पैदल घूमे थे। उन दिनों लोगों के जीवन को और अधिक पास से देखने का मौक़ा मिला था। उनके दुःख दर्द सुने थे। ऐसे लोगों की संख्या ज़्यादा थी। जो लोकतंत्र और मत का सही-सही अर्थ भी नहीं जानते थें। एक काग़ज का टुकड़ा बॉक्स में ड़ालकर वे क्या करते हैं, उनकी समझ के बाहर था। कितनी मासूमियत थी उन लोगों में, जो आज़ादी के मूल्यों और अर्थों से अनजान थे। सचमुच आजादी के मूल्यों और अर्थों से अनजान थे। सचमुच आज़ादी वहाँ तक पहुँची ही कहाँ थी, सत्ता के दलाल उनका शोषण और इस्तेमाल कर रहे थे।"[1]

भारत में लोकतंत्र ही सभी वर्गों को समान अधिकार दे सकता है। जिस लोकतंत्र में स्वातंत्रता, समानता, बंधुता, हो वहाँ पर सभी लोग सुख और शांति से रहेंगे ऐसा डॉ.अम्बेडकर का मानना था। और डॉ.अम्बेडकर अपने समाज को चेतनशील बनाने के लिए, उनके अपने राजनैतिक अधिकार को प्राप्त करने के लिए किस प्रकार सभाओं का आयोजन करते थें, जबकि उनका स्वास्थ भी ठीक नहीं रहता था फिर भी तबियत की परवाह न करके सभाओं का आयोजन करते और यह सभाएँ सुनने लाखों लोग इकट्ठा होते। ज्ञान का प्रसाद ले जाते। डॉ.अम्बेडकर ने अपने दलित समाज को समान राजनैतिक हक्क मिलने चाहिए इसलिए अपनी राजनैतिक पार्टी निकाली थी। जिससे उनके हक्क प्राप्त हो सके। यह उनकी मान्यता थी।

डॉ.अम्बेडकर का यही स्वप्न था कि जब तक सत्ता दलितों के हाथों में न आएगी तब तक उनका विकास संभव न था। आज भी इसका परिणाम दिख रहा है आज दलितों के हाथों में थोडी-बहुत सत्ता आई है उसका उपयोग कर लेना दलितों का कर्तव्य है।

---

[1].जूठन, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.92

3.6. 'जूठन' में सांस्कृतिक चित्रण :

संसार में मनुष्य ही 'संस्कृति' का निर्माणकर्ता है। मनुष्य के बिना संस्कृति के निर्माण की कल्पना असंभव है, क्योंकि संस्कृति के केन्द्र में निर्विवाद रूप से मनुष्य है। पशु और मनुष्य में सबसे बड़ा अंतर ही है कि पशु कोई संस्कृति निर्माण नहीं कर सकता है। संस्कृति के निर्माण में प्रकृति जितनी प्रभावी है उससे कहीं अधिक संस्कृति के निर्माण में मनुष्य की बुद्धि काम करती है। केवल प्रकृति और उसके तत्व मिलकर संस्कृति का निर्माण नहीं कर सकते, उसमें मनुष्य का सर्वोपरि महत्व व पूर्ण स्थान है।

संस्कृति व्यक्ति की मानसिक तथा बौद्धिक गतिविधियों, समाज के आचार-विचार, उन्नति, अवनति, रीति-रिवाज़, धार्मिक, राजनैतिक व सामाजिक अवस्थाओं एवं परंपराओं का परिचायक है। संस्कृति मानव समाज की विशिष्टता है जो उसे अन्य प्राणियों से पृथक करती है। संस्कृति का प्रयोजन जीवन को परिष्कृत एवं प्रकाशित करना होता है। इसे हमारा व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन शिष्ट एवं सभ्य बनता है। संस्कृति से ही मानव जीवन में सत्य, अहिंसा, प्रेम, परोपकार, उदारता, सहयोग, दया, सहानुभूति आदि गुणों का विकास होता है। जिससे मानव स्वयं उन्नति के पथ पर अग्रसर होकर समाज को भी उन्नत करने में सक्रिय सहयोग देता है। डॉ.राजेन्द्र पाण्डेय इस संदर्भ में कहते हैं कि- "संस्कृति समाज का व्यक्तित्व है। विचार, भावना आचरण तथा कार्यकलापों के विभिन्न प्रस्तों से संस्कृति की सिद्धि होती है। आध्यात्मिक आदर्शों एवं परंपराओं के रूप में भी संस्कृति के कार्य हैं, नए संस्कृति को परिच्छिन्न तथा मूर्त रूप देता है।"[1]

संस्कृति एक ऐसी चीज़ है जिसे लक्षणों से तो हम जान सकते हैं, किंतु उसकी परिभाषा नहीं दे सकते। हर सुसभ्य आदमी संस्कृति ही होता है। अनेक शताब्दियों तक एक समाज के लोग जिस तरह खाते, पीते, रहते, सहते, पढ़ते-लिखते, सोचते और राज-काज अथवा धर्म-कर्म करते हैं, उन सभी कार्यों से उनकी संस्कृति उत्पन्न होती है। जो कुछ भी करते हैं उसमें हमारी संस्कृति उत्पन्न होती है। यहाँ तक कि हमारे उठने, बैठने, ओढ़ने, घूमने, फिरने और रोने, हँसने भी हमारी संस्कृति की पहचान होती हैं। असल में संस्कृति ज़िंदगी का तरीका है और यह तरीका सदियों से जमा होकर उस समाज में छाया रहता है जिसमें हम जन्म लेते हैं।

---

[1]. भारत का सांस्कृतिक इतिहास, राजेन्द्र पाण्डे, पृ.3

डॉ.वासुदेव अग्रवाल का मत है कि- "संस्कृति मनुष्य के भूत, वर्तमान और भावी जीवन का सर्वांगपूर्ण प्रकार है। हमारे जीवन का ढंग हमारी संस्कृति है। संस्कृति हावा में नहीं रहती, उसका वर्तमान रूप होता है। जीवन के नाना विधि रूपों का समुदाय ही संस्कृति है।"[1]

अंत में हम कह सकते हैं कि असल में संस्कृति ज़िंदगी का एक तरीक़ा है और यह तरीका सदियों से जमा होकर उस समाज में छाया रहता है, जिसमें हम जन्म लेते हैं। संस्कृति विवेक बुद्धि का, जीवन को भले प्रकार जान लेने का नाम है। संस्कृति मनुष्य का भीतरी विकास और उसकी नैतिक उन्नति है। एक दूसरे के साथ सद्व्यवहार है, दूसरे को समझने की सक्ती है।

3.6.1.समता की संवाहक 'दलित संस्कृति' :

इस देश में अनेक संस्कृतियों ने जन्म लिया है। लेकिन जो भी संस्कृतियाँ दिखाई देती है उनमें से ईसाई और बौद्ध संस्कृतिओं में ही थोडे-बहुत प्रमाण के रूप में आम जनता की ओर ध्यान दिया गया। हिन्दू संस्कृति में तो केवल हिन्दू लोगों के लिए ही स्थान था। दलितों के लिए कोई भी स्थान नहीं था। उस संस्कृति में केवल और केवल देव, भगवान, धर्म-ग्रंथों पर ज्यादा ज़ोर दिया गया था। लेकिन 'दलित संस्कृति' जाति है। क्योंकि सदियों से जाति-व्यवस्था के कारण इन्हें अनेक प्रकार की यातनाओं का सामाना करना पड़ा था। 'सम-समान समाज की स्थापना' ही 'दलित संस्कृति' का मुख्य केन्द्र बिन्दु है।

डॉ.अम्बेडकर के विचारों पर ही चलने वाला समाज दलित समाज है। उनके विचार भी इतने व्यापक है कि देश के ही नहीं विश्व के मानव का भी शुभ चाहते हैं। उनका दार्शनिक पक्ष बुद्ध से जुडा है। इसलिए कहीं न कहीं यहाँ पर बौद्ध संस्कृति का प्रभाव दिखाई पड़ता है। 'दलित संस्कृति' कैसी होनी चाहिए, इस संदर्भ में डॉ. अम्बेडकर कहते हैं- "हमारे जीवन, कर्तव्य और संस्कृति की ओर हमारा ध्यान नहीं हैं। अन्तर्मुख होकर विचार करने से हमारे सामने वह भयावह स्थिति स्पष्ट हो जाएगी कि हमारे जीवन-मूल्य और सांस्कृतिक मूल्यों को बचाने के लिए दलित साहित्यकारों को जागरूक और प्रयत्नशील हो जाना चाहिए। तुम्हारे उपन्यास, कथाओं की सीता लक्ष्मण रेखा पार करके आगे जा चुकी

[1].आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के उपन्यासों में सांस्कृतिक चेतना, शिवशंकर त्रिवेदी, पृ.19

हैं। शकुन्तला को दुष्यन्त अपना सही परिचय नहीं दे रहा है, इसलिए शकुन्तला को वनवास हो रहा है। ऐसी स्थिति में साहित्यकारों को मैं आह्वान करता हूँ कि वे विभिन्न साहित्यक विधाओं के द्वारा उदात्त जीवन मूल्यों और सांस्कृतिक मूल्यों को रेखांकित करें। अपने लक्ष्य को मर्यादा में मत बांधों, उसे और अधिक विशाल बनने दो। वाणी का विस्तार करो, अपनी लेखनी को केवल अपने प्रश्नों तक सीमित मत रखो। उसे तेजस्वी बनाओ जिससे गाँव में फैला अंधकार दूर हो सके। यह मत भूलो कि इस भारत देश में उपेक्षित दलितों का बहुत बडा विश्व हैं। अपनी रचनाओं के द्वारा उनकी वेदना को समझकर उनके जीवन को उज्ज्वल बनाने की कोशिश करो। यही मानवता की सच्चाई हैं।"[1]

'दलित संस्कृति' का मुख्य केन्द्रबिन्दु 'विश्वमानवता' है। जिसमें सभी मनुष्य के लिए जगह हैं। डॉ.अम्बेडकर की मान्यता थी कि संसार में 'मनुष्य ही सर्वोपरि हैं' उससे बढ़कर कोई नहीं लेकिन तथाकथित जाति-व्यवस्था ने इस मनुष्यता को कभी स्थान नहीं दिया। इसलिए 'दलित संस्कृति' मनुष्य को सर्वोपरि मानती हैं।

3.6.1.1.दलित त्यौहार :

सदियों से दलित समाज निम्नावस्था को प्राप्त था इसलिए उनमें सोच-विचार करने की कोई शक्ति नहीं थी। इसी कारण उनमें अनेक त्यौहार, पूजा, अर्चन, भगवान और न जाने कितने प्रथाओं का प्रचलन होता था। यह सब उनकी भूल नहीं थी बल्कि भारतीय समाज व्यवस्था में ऐसे घिनौने कार्य करने के लिए वैसी व्यवस्था कि थी। ऐसा कहने के बजाय ऐसा कहाँ जाता है कि मनुष्य की विचार करने की क्षमता को ही खत्म कर दिया गया था। जालि ग्रंथों का सहारा लेकर इस व्यवस्था ने अपने हित में और दलितों के अहित में ऐसी व्यवस्था की। जिसका पालन करना हर एक का कर्तव्य समझा जाता था। इसलिए बिना विचार किए ही समाज में अनेक देव-धर्मों ने बिना तर्क के जन्म लिया था। इस संदर्भ में मनुवादी-व्यवस्था कितनी घिनौनी है इसे रजनीश ओशो अपनी बातों में बताते हैं- "बड़े-बड़े अपराधी है, किंतु लगता है मनु उनमें सर्वोपरि है...मनु इस देश के लिए एक अभिशाप सिद्ध हुए है। उन्होंने करोडों लोगों से उनकी मानवी गरिमा छीन ली है, वे पशुओं की तरह जी रहे हैं।" आगे वे

[1]. दलित साहित्य की धार्मिक सांस्कृतिक मान्यताएँ, दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र, पृ.73

'मनुस्मृति' के विषय में कहते हैं- "भारत को जो अभिशाप है, 'मनुस्मृति' उनमें से एक है और वह अभी भी हमें सता रही है। पाँच हज़ार साल बीत गए है, लेकिन मनु अभी भी हमारे सत्ता में रहा है। उसने हिन्दू समाज को चार वर्णों में बाँट दिया, बहुत कुरूप....उसने समाज के एक चौथाई हिस्से को मनुष्यता से भी नीचे गिरा दिया। उनको गुलाम बनाया और अभी भी जारी है...तो मैं मनुस्मृति के पक्ष में नहीं हूँ मैं तो सिर्फ़ यही चाहता हूँ कि मनुस्मृति की सब किताबें जला दी जाए, और मनु की प्रेतात्मा से हम मुक्त हो जाए। उसने हमें बहुत सता लिया।"[1]

दलित भी कहने के लिए हिन्दू ही थे लेकिन वह अलग पूजा करते हैं, ऐसे प्रसंग को 'जूठन' में लेखक बताते हैं - "कहने को तो बस्ती के सभी लोग हिन्दू थे। लेकिन किसी हिन्दू देवी-देवताओं की पूजा नहीं करते थें। जन्माष्टमी पर कृष्ण की नहीं, जहारपीरकी पूजा होती थी या फिर 'पौन' पूजे जाते थें। वे भी अष्टमी के नहीं 'नवमी' के ब्रह्म मुहूर्त में। इसी प्रकार दीपावली पर लक्ष्मी का पूजन नहीं, माई मदारन के नाम पर सुअर का बच्चा चढ़ाया जाता है या फिर कड़ाही की जाती है। कड़ाही यानी हलवा पूरी का भोग लगाया जाता है।"[2] आगे लेखक बताते हैं दलितों के अलग देवता होते हैं- "प्रत्येक घर में देवताओं की पूजा होती थी। ये देवता हिन्दू देवी-देवताओं से अलग होते हैं, जिनके नाम किसी पोथी-पुराण में ढूँढ़ने से भी नहीं मिलेंगे। लेकिन किसी भी परिवार में चले जाइए जिनका संबंध इस बिरादरी से है, वहाँ इन देवी-देवताओं की पूजा देखने को मिलेगी। जन्म हो या कोई शुभ कार्य शादी-विवाह या मृत्य-भोज, इन देवी-देवताओं की पूजा बिना अधूरी है।"[3] मनुवादी वर्ण-व्यवस्था ने दलितों के मन पर किस प्रकार छाप छोड़ी थी ब्राह्मण के दैवत अलग थे और उन्हीं का अनुसरण दलित करते हैं तो उनके भगवान अलग दिखाई देते हैं। दलितों को पूरी तरह से ब्राह्मणी-व्यवस्था ने मानसिक गुलाम बनाया था।

दलित चाहे जितनी भी पूजा करे वह दलित ही होते हैं। इसलिए इस ब्राह्मणवादी धर्म का डॉ.अम्बेडकर ने प्रत्येक बार विरोध किया वे कहते हैं- "जिस धर्म में मनुष्य के प्रति घृणा मनुष्य मानता

---

[1]. दलित साहित्य, विशेषांक, 2004,पृ.26

[2]. जूठन, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.53

[3]. जूठन, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.53

है। ऐसी शिक्षा दी जाती है। उस धर्म में हम जब तक है तब तक जातिभेद नष्ट नहीं होगा। अपने मन से जातिभेद और अस्पृश्यता यदि नष्ट करना है तो धर्मांतर करना यही एक रामबाण उपाय है।"[1] डॉ.अम्बेडकर का जो दृष्टिकोण था बिल्कुल सही था, इसलिए तो उन्होंने दिन-रात मेहनत कर इन दलितों को मनुष्यत्व दिलाया मगर दुःख की बात है कि दलित समाज आज भी 'भगवाकरण' के ही रीति-रिवाजों पर तुला है। उन्हें लगता है ऐसा करने से उनका श्रेष्ठत्व बढ़ेगा। लेकिन दलित कितनी भी बड़ी पदवी पर क्यों न पहुँचे उनको दलित ही कहाँ जाता है, आखिर उन्हें उसी नज़र से देखा जाता है।

3.6.1.2.वेश-भूषा :

दलित समाज पहले से ही गरीब और दरीद्र है। ऐसे में उनकी वेश-भूषा कैसी हो सकती है? जैसी उनकी परिस्थिति होगी वैसी उनकी वेशभूषा होगी यही सच्चाई है। फिर भी उस समय दलितों की वेशभूषा किस प्रकार दिखाई देती है, उसे देखने का प्रयत्न करेंगे।

'जूठन' में लेखक जब कॉलेज में पढ़ते हैं, उस समय उनके पास सही ढंग के पहनने के लिए कपडे तक नहीं होते। जिसके कारण उन्हें कॉलेज में भी यातनाओं का सामना करना पडता है, इस संदर्भ को लेखक अपने शब्दों में बताते हैं - "उन दिनों मेरे पास कॉलेज जाने लायक कपडे भी नहीं थे। गाँव में तो गंढी बिना इस्तरी की हुई कमीज़ और पट्टे के पाजामें से ही काम चल जाता था। यहाँ सब पेट-कमीज़ पहनते थें।...कक्षा में कई बार लड़कों ने मेरे देहातीपन का मज़ाक उडाया था। ...एक ने मेरी पैंट खींचते हुए कहाँ- 'किस टेलर से सिलवाई हैं? हमें भी उसका पता दे दो।"[2] दलित समाज के पास पहनने के लिए ठीक से कपडे तक नहीं मिलते। अगर कोई कॉलेज जाते हैं तो उसे अनेक यातनाओं का सामना करना पड़ता है। यही वास्तविकता है।

दलित समाज कि वेशभूषा निश्चित तौर पर निम्न से निम्न दिखाई देती हैं। सवर्ण वादी व्यवस्था और आर्थिक परिस्थिति के कारण ही दलितों को ऐसी परिस्थिती का शिकार होना पडा है। जिसमें उन्हें न ठीक से खाने के लिए अन्न मिलता था। न ठीक से पीने के लिए पानी ।

---

[1]. बाबासाहेब डॉ.अम्बेडकर संपूर्ण वाङमय,भाग-9, पृ.35

[2]. जूठन, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.85

3.6.1.3.विवाह :

दलितों में विवाह प्रथा किस प्रकार थी इसका चित्रण 'जूठन' आत्मकथा में आया है। विवाह करते समय कहीं न कहीं दलितों ने ब्राह्मणों का अनुकरण ही किया था। मतलब दलितों की विवाह प्रथा किस प्रकार थी उसे देखा जा सकता है। किसी भी जाति की अपनी संस्कृति होती है, जिसे उसके अनुसार भी रहना पडता है। वैसे ही दलितों के विवाह कैसे होते थें। उसे देखा जा सकता है।

'जूठन' में उक्त समय के विवाह प्रथा का वर्णन लेखक ने किया है। किस प्रकार दलितों का विवाह दिखाया गया है। लेखक के मित्र की शादी तय होती है। शादी लड़की के घर में तय होने के कारण वहाँ जाना पड़ता है। वहाँ का नियम ऐसा था कि जिस लड़की की भी शादी हो, होने के बाद 'सलाम' करने का रिवाज़ था। उस रिवाज़ में गाँव के सवर्णों के घर-घर जाकर दुल्हे को सलाम करनी पडती थी। लेखक के मित्र पर भी ऐसी ही हालात आती है, जिसका उन्हें सामना करना पडा था। 'सलाम' करते समय दूल्हे की सास भी साथ होती है और वह कुछ न कुछ अपने बेटि को देने के मांग करती है। ऐसी घिनौनी प्रथा को लेखक अपने शब्दों में बताते हैं- "प्रत्येक घर के सामने खडे होकर ढ़ोल बजानेवाला जोर से ढ़ोल पीटता था जिसकी आवाज सुनकर औरतें, लडकियाँ बाहर आती थी। हिरम सिंह उन्हें सलाम करता था। वे घूंघट के कोनों से हिरम सिंह को ऐसे निहारती थी जैसे हिरम सिंह को चिडियाघर से लेकर आए हैं। किसी-किसी का व्यवहार बेहद रूखा और अपमानजनक होता था। लेने-देने पर दुल्हन की माँ को काफी कुछ कहना पडता था।....हिरम की सास कहती थी, 'चौधराइन, मेरी कोई दो-चार लौंडी तो है नी जो मेरे जमाई थारे दरवज्जे पे आवेंगे। इज्जत से लडकी को भेज सकूँ, ऐसा तो कुछ दो।' लेकिन इस गिडगिडाहट का कोई असर दिखाई नहीं पड रहा था।"[1] दलितों को ऐसे रिवाजों का सामना क्यों करना पडा होगा? कारण उनका अपमान किया जा सके। और उस गाँव में जो भी नया जमाई आया हो उसमें हीनता की भावना निर्माण हो सके, नहीं तो वह कल अपने ससुराल आएगा और ऊपर गर्दन कर चलेगा। यही सवर्ण समाज नहीं चाहता था। इसलिए ऐसे घिनौनी प्रथा का प्रचलन किया गया।

---

[1]. जूठन, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.42-43

अतः दलितों में विवाह विधी की रस्म-रिवाज़ा होती थी, दलितों की शादी की पद्धति भी किस प्रकार अलग होती थी, इसे भी देखा जा सकता है। लेकिन ध्यानदेने की बात यह है कि दलितों की शादियाँ पहले तो हिन्दू पद्धति से होती थी लेकिन दलितों ने जब बौद्ध धर्म को स्वीकार किया तब से दलितों में बौद्ध पद्धति से शादियाँ होने लगी थी। जो बहुत ही सरल पद्धति की थी।

3.6.1.4.अंधविश्वास :

'अँधेरे' का मतलब ही अंधश्रद्धा है। अंधश्रद्धा का उगम श्रद्धा से ही हुआ है। यही सत्य है। परंतु श्रद्धा का जन्म शुद्ध मन के प्रेम से, विश्वास में से निर्माण होता है। और अंधश्रद्धा का जन्म अज्ञान, भोलेपन, दृष्ट वृत्ति, बदले की भावना, स्वार्थीपन, इससे पैदा होता है। अंधश्रद्धा से मनुष्य जीवन उदध्वस्त होता है। मनुष्य परावलंबी, आलसी, ढोंगी, डरपोक होता है। देव और दैव यही अंतिम सत्य मानता है।

अंधविश्वास निर्माण होने के पीछे सामाजिक परिस्थितियाँ ही ज़िम्मेदार हैं। वास्तविकता भी यही है कि भारत में इतना बड़ा समूह अज्ञानता में पड़ा है इसका कारण ही जनता में अंधश्रद्धा का बोलबाला था। इसका पोषण भारतीय चातुर्वर्ण व्यवस्था ने किया था। धर्म के नाम पर अंधश्रद्धा का जन्म हुआ। देव, भगवानों की काल्पनिक कहाँनियाँ रचकर, यज्ञ, जप, तप, उत्सव, पूजा, अर्चन यह सब भगवान को प्रसन्न करने का अप्रमाणिक उपाय बतलाकर पीड़ित जनता के मन का संहार इस दृष्ट और लोभी वृत्ति ने ही किया है। इसलिए यह पीड़ित समाज एक-दो वर्षे नहीं बल्कि हज़ारों वर्ष अज्ञानता में पड़े रहने कि सुविधा भी इस व्यवस्था में की गई थी। क्योंकि जिसके पास ज्ञान नहीं होगा वही अंधकार में जिएगा और दलितों के लिए ज्ञान के सभी दरवाज़े बंद किए गए थे। तो कैसे दलित ज्ञानी बन सकते थें? इसलिए अज्ञानता के कारण ही अंधविश्वास का निर्माण हुआ जिसमें बुद्धि को कष्ट देने की कोई ज़रूरत ही नहीं पड़ती। जैसे पुरोहितों ने नियम बनाए उसका अनुसरण किया जाता और पुरोहित वर्ग आराम से जीवन जीता और दलित अंधकार में ही पड़ा रहता।

डॉ.अम्बेडकर ने किस प्रकार दलित समाज का मार्गदर्शन किया था। लेकिन पहले कि परिस्थितियों को देखने से बहुत दुःख ही होते है। इस अंधविश्वास ने हर तरफ़ जन्म लिया था। 'जूठन' में भी ऐसा प्रसंग आया है जिसे वाल्मीकि जी बताते हैं- "हमारे पड़ोस में बुरजा का घर था। उसके

शरीर में 'बादी' देवता आते थें। उस पल वे कई-कई तरह की आवाज़े मुँह से निकलते थें। कलाबाज़ियाँ थें। ख़ूब उछल कूद करते थें।"[1] आगे लेखक बताते हैं कि जब वे दूसरे गाँव छुट्टियों में गए तब उनके पेट में दर्द रहता है। इस पर उनके पिताजी क्या करते हैं लेखक बताते हैं- "मेरे एक रिश्ते के बहनोई आ गए थे। वे भी भगत थे।....पिताजी से बोले, क्यूं दवादारू के चक्कर में हो....इसे तो ओपरा है, (भूत की लपेट)। ज़मीन पर उकड़ू बैठकर कुछ बड़बड़ाते रहे फिर अचानक उनका शरीर हिलने लगा। उन्होंने एक कपड़ा माँगा।.... जीजा, यह क्या कर रहे हो, मुझे चोट लगी है।"[2] अंधविश्वास के कारण लोगों में सच्चाई पहचानने की आदत ही छूट गई थी। अगर किसी की तबियत ख़राब रहती तो दवाख़ाना ले जाने के बजाय सीधा भगत के पास ले जाते थें। और उस समय लोग अपने बच्चों को स्कूल में पढ़ने के लिए भी नहीं भेजते थें।

दलित समाज में कितनी अंधश्रद्धा थी, यह दिखाई देती है। अंधविश्वास का मतलब ही अंधेरा है जो आदमी अँधेरे में रहेगा। उसे प्रकाश का महत्व कैसे पता चलेगा। वैसे ही दलितों के संदर्भ में भी हुआ है। उन्हें ज्ञान के बारे में कुछ मालूम ही न था। उनमें पूरा का पूरा अज्ञान ही भरा था। जिससे अनेक कुरितियों ने, अंधविश्वास ने जन्म लिया था।

3.6.1.5.बलिदान :

चातुर्वर्ण व्यवस्था में जब तक एक जीव को दूसरे भगवान के सामने मारा नहीं जाता (सजीव), तब तक यहाँ के भगवान प्रसन्न नहीं होते। ऐसी मान्यता ने यहाँ के समाज में जन्म लिया था और अनादिकाल से आज के वैज्ञानिक युग में भी 'बलि' चढ़ाई जाती है। यहाँ मनुष्य इतना निर्दयी है कि भगवान के सामने किसी की दया नहीं करता। उसे इतना पता है कि भगवान को कैसे प्रसन्न किया जाए यही उनके मन में खटकता है। चाहे कौन सा भी काम पूरा करना है तो पहले 'बलि' देना अनिवार्य माना जाता है। 'जूठन' आत्मकथा में इस घृणात्मक पद्धति को देखा जा सकता है।

---

[1]. जूठन, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.55

[2]. जूठन, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.55

'जूठन' में लेखक वाल्मीकि जब स्कूल पढ़ते हैं तब दशहरे की छुट्टियों में देहरादून अपने भाई के साथ जाते हैं। वहाँ पर शक्तिपूजा के नाम पर क्या होता है? वे अपने शब्दों में बताते हैं- "भैंस के पास पहुँचकर पुजारी ने भैंस के ऊपर सिंदूर, चावल, हल्दी फेंके, उसके सींगों पर भी हल्दी लगाई।....साथ ही उस बलिष्ठ व्यक्ति ने दोनों हाथों से खुखरी ऊपर उठाई और पलक झपकते ही भैंस की गर्दन पर वार किया देखते ही देखते भैंस का धड़ और सिर अलग-अलग हो गए थे। भैंस के शरीर से लाल-लाल रक्त के फ़व्वारे फूट पड़े थे। रक्त गड्ढे में जमा हो गया था। भैंस की गर्दन काटते ही चारों ओर खुशी की लहर दौड़ गई थी। लोग नाचने लगे थे। ज़ोर ज़ोर से चिल्ला रहे थे। एक ओर मुर्गों और बकरों की बलि दी जा रही थी। कुल मिलाकर एक भयावह माहौल था मानों हत्याओं का मेला लगा हो।"[1]

दलित समाज में किस प्रकार का अंधविश्वास बना था। इसे देखा जा सकता है। इसके लिए ज़िम्मेदार भी यहाँ की ब्राह्मण शाही ही थी जो की अवैज्ञानिक ढ़ंग पर आधारित थी। जिसने मनुष्य के विचार को ही ख़त्म कर दिया। यह व्यवस्था अशास्त्रीय ढ़ंग पर आधारित व्यवस्था है। निरुपयोगी भी है। कनिष्ट जातियों के लिए जाचक भी थी। परंतु वह धर्म तत्व पर आधारित थी इसलिए कोई उसका विरोध न कर सका। मनुस्मृति की आज्ञा सभी पर बंधन कारक थी। वह असामाजिक व्यवस्था 1955 तक अमल में रही ऐसे वर्णाधिष्ठित समाज का कठोर विरोध नहीं हो सका। उलटा कुछ विचारंतों को मनुप्रणीत समाज-व्यवस्था ही अच्छी लगती है उसे वैसे ही बनाए रखने के प्रयत्न भी हो रहे हैं। लेकिन डॉ.अम्बेडकर को यह व्यवस्था बिल्कुल पसंद नहीं थी। उसे नष्ट करने के लिए उन्होंने जीवन भर संघर्ष किया। स्वातंत्र्य, समता और बंधुत्व पर आधारित आदर्श-समाज निर्माण करना यही उनका स्वप्न था।

निष्कर्ष :

हमारी 'समाज व्यवस्था' के तहत शिक्षा संस्थानों में दलितों के साथ बहुत ही अन्याय होता है। जीवन के पहले अध्याय यानी शिक्षा की जगह से ही उन्हें यातनाओं का सामना करना पड़ता है। पाठशाला में बच्चे तो भेदभाव करते ही हैं लेकिन बच्चों के साथ सवर्ण शिक्षक भी उन्हें मानों जानवरों के बच्चे

[1]. जूठन, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.98

समझते हैं। उनका हर कदम पर अपमान करते हैं। उन पर छुआ-छूत का नियम लगाया जाता है। उनको अनेक प्रकार की यातनाओं का सामना करना पड़ता है। जिसे हम 'जूठन' आत्मकथा में देख सकते हैं।

आर्थिक क्षेत्र में दलित अनेकानेक आर्थिक अभावों से त्रस्त थी, राजनीतिक अधिकारों से पूर्णतः वंचित थे। शैक्षिक क्षेत्र में उनके अधिकार स्पष्टतः निषिद्ध थे तथा सार्वजनिक जीवन में वे एक दास के रूप में जीवन व्यतीत करने को बाध्य थे। तत्कालीन धर्म ग्रंथों ने इन्हें अधः तन के गर्त में गिरा दिया था। क्योंकि शूद्रलोग इन असमानताओं एवं निर्योग्यताओं से पहले से ही अभिभूत नहीं थे अपितु निर्योग्यताएँ तत्कालीन हिन्दू धर्म ग्रन्थों में वर्णित व्यवस्थाओं की परिणति थी।

भारतीय समाज संरचना में वर्ण अथवा जाति एक महत्वपूर्ण घटक है। हिंदू संस्कृति का यह आधार और प्राण है। जाति के बिना व्यक्ति की पहचान या परिचय अधूरा रहता है। जन्म के साथ ही व्यक्ति के माथे पर उसकी जाति का लेबल चिपका रहता है जो मृत्यु तक उसके साथ लगा रहता है। जाति ही समाज में व्यक्ति की श्रेष्ठता और हीनता तथा सम्मान और अपमान का आधार है।

जाति व्यवस्था हिंदू समाज का मुख्य लक्षण है। असमानता ही इसका प्रमुख लक्षण है। एक जाति दूसरी जाति से भिन्न होती है। भिन्न भिन्न दो जातियों में समानता दिखाई नहीं देती। जाति के नाम पर ही भिन्न-भिन्न श्रेणियों में लोग बाँटे गये हे। जिससे सामाजिक स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं आ सका । मजबूरन बेटे को अपने बाप का पेशा ही करना पड़ा चाहे वह जितना ही प्रतिभाशाली क्यों न हो।

'जूठन' में दलित सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक आदि का चित्रण हमें देखने को मिलता है।

****

चतुर्थ अध्याय

हिन्दी का दलित साहित्य और ओमप्रकाश वाल्मीकि की कविता

प्रस्तावना :

4.1ओमप्रकाश वाल्मीकि की कविताओं में सामाजिक चित्रण

4.1.1.वर्ण व्यवस्था

4.1.2.समता-विषमता और न्याय

4.1.3.स्त्री की विविध भूमिकाएँ

4.1.4.हिंसा और अहिंसा

4.1.5.दलित वर्ग की मानसिकता का चित्रण

4.1.6.शारीरिक -जीवन कष्ट

4.1.7.दलित-जीवन मूल्यों का वर्णन

4.1.8.दलित-आत्मसंघर्ष

4.1.9.सवर्णों के प्रति नफ़रत

4.1.10.दलित-मुक्ति संघर्ष

4.1.11.अस्मिता की तलाश

4.1.12.आत्मगौरव

4.1.13.दलित चेतना

4.2.ओमप्रकाश वाल्मीकि की कविताओं में आर्थिक चित्रण

4.2.1.श्रम का महत्व

4.2.2.शोषण से मुक्ति

4.2.3.किसान का शोषण

4.2.4.दलित-भूख की समस्या का चित्रण

4.2.5.दलित का जीवन संघर्ष

4.2.6.परिश्रम का तोहफ़ा

4.2.7.दलित जीवन-प्रकाश का अभाव

4.2.8.दलित जीवन-प्रकाश की ओर

4.3.ओमप्रकाश वाल्मीकि की कविताओं में धार्मिक चित्रण

4.3.1.ईश्वर का विरोध

4.3.2.व्यंग्य

4.3.3.आक्रोश-प्रतिशोध

4.3.4.सामाजिक लोप

4.3.5.विद्रोह एवं चेतना

4.3.6.धर्म ग्रंथों का विरोध

4.3.7.दलित-श्रेष्ठता

4.4.ओमप्रकाश वाल्मीकि की कविताओं में राजनीतिक चित्रण

4.4.1.घृणा और प्रेम

4.4.2.प्रजातंत्र

4.4.2.1.आज़ादी

4.4.2.2.लोकतंत्र

4.5.ओमप्रकाश वाल्मीकि की कविताओं में सांस्कृतिक चित्रण

4.5.1.परंपरा, संस्कृति और सभ्यता का विरोध

निष्कर्ष

चतुर्थ अध्याय

हिन्दी का दलित साहित्य और ओमप्रकाश वाल्मीकि की कविता

प्रस्तावना :

दलित-कविता आम आदमी के उत्थान की हिमायती रही है। आम आदमी ही इसकी असली शक्ती है। हाशिए पर पड़े आम आदमी को केन्द्र में लाने की अकुलाहट ही इसके मूल स्वर में सम्मिलित है। भाषा भले ही खुरदरी हो और उसमें कलात्मकता की उँचाईयाँ भी न हो, तो भी भाव के स्तर पर दलित-कविता, विश्व साहित्य का श्रेष्ठ अंग बनकर उभरने की तैयारी में है। प्रायः सभी भारतीय भाषाओं में दलित कविता की अभिव्यक्ति होने लगी है।

दलित-कविता बदतर जीवन स्थितियों के खिलाफ़ बेहतर जीवन परिस्थितों के लिए यथास्थिति से विद्रोह की कविता है। यह विद्रोह मार्क्स की रक्तक्रांति जैसी हिंसात्मक, केवल राजनैतिक स्तर पर घटित होने वाला विद्रोह नहीं है, बल्कि भगवान बुद्ध, डॉ.आंबेडकर की रक्त-रहित सम्यक क्रांति का प्रेरक मंत्र है, जो सामाजिक-सांस्कृतिक स्तरों पर घटित होने वाले संतुलित परिवर्तन का आधार है।

दलितों की यातना और बेचैनी, उनका विद्रोह और संघर्ष सब कुछ उलट- पुलट कर देने की इच्छा, उनका आक्रोश और प्रहार की मुद्रा एक तनाव उत्पन्न करती है। ओमप्रकाश वाल्मीकि और दलित कवियों में जो तनाव है, वह सामन्ती वर्ण-व्यवस्था की अमानुषिकता को लेकर है। वे अपने परिवेश से बार-बार टकराते हैं। ओमप्रकाश वाल्मीकि, मोहनदास नैमिशराय, जयप्रकाश कर्दम, कंवल भारती आदि की कविताओं में इस तनाव को देखा जा सकता है।

दलित कविता अपने सामाजिक परिवेश की कविता है। जिन सामाजिक, सांस्कृतिक परिस्थितियों में दलित व्यक्ति का जीवन उलझा है, जिन यातनाओं, संघर्षों से वह गुज़रता है, सामाजिक-शोषण की जिन व्यवस्थाओं से उसका सामना होता है, दलित कविता में वह पूरी तल्खी से व्यक्त हुआ है। यह सामाजिक परिवेश कवि का तो है ही, पाठक का भी है। उस पाठक वर्ग का, जिसे अपनी कविता और साहित्य द्वारा वह जगाना चाहता है जिसमें क्रांति का संचार करना चाहता है। साथ ही उस पाठक वर्ग को भी संबोधित

है जो इस अमानवीय व्यवस्था के लिए ज़िम्मेदार है।

प्रत्येक साहित्य के आंदोलन की भांति दलित साहित्य का आंदोलन भी निश्चित तौर पर वर्तमान सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक और राजनीतिक परिस्थितियों की ही देन है। दलित साहित्य का आंदोलन अपनी समस्त सामाजिक- सांस्कृतिक परंपराओं को आत्मसात करके विकसित हुआ है।

दलित कविता हमेंशा से परिवर्तन की मांग करती है। उसने युगों-युगों से शोषित समाज, दलित, पिछड़ों को झकजोर दिया है। यह एक व्यक्ति का दर्द नहीं, पूरे समाज का दर्द है। परंपरा ब्राह्मणवादी साहित्य ने क्या दिया? उपेक्षा, अपमान आदि। दलित साहित्य का उद्देश्य केवल कविता करना नहीं बल्कि दलितों को ज़गाना है। दलित कविता समता, स्वतंत्रता, बंधुता को स्थापित करना चाहता है और टूटे, पिछड़े लोगों को उठाना चाहता है। दलित कविता समाज में जागृति लाने की कोशिश में लगी हुई है। एक प्रकार से दलित कविता प्रगतिवादी साहित्य की अगली कड़ी है।

दलित कविता विकास की चरम सीमा तक पहुँच गयी। कविता अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम बनती गयी। किंतु ब्राह्मणवादी ताक़तों ने दलित साहित्य पर कई आरोप लगाए जैसे-दलित साहित्य, साहित्य नहीं है, प्रचारी है, एक दूसरी है, नकारात्मक है, उसमें कलात्मकता नहीं है, लेखन में तटस्थता और अलिप्तता नहीं है आदि। कविता के संदर्भ में भी एक आरोप लगाया गया कि "दलित कविता को विषय वैविध्य नहीं है।" किंतु दलित कविता का अध्ययन करने के बाद यह आरोप गलत साबित हो जाता है।

इस विषय का चयन करने का उद्देश्य यही है कि जिन अलग-अलग विषयों को दलित कवियों ने अपनी कविता में प्रस्तुत किये हैं, उन्हें दिखाना।

दलित कविता के विषय वैविध्य से अभिप्राय है- विषय की विविधता से अर्थात् विषयगत विभिन्नता को दलित रचनाकार अपनी कविता में कितना प्रस्तुत कर पाए हैं। दलित रचनाकार ऐसे विभिन्न विषयों को लेकर कविताएँ लिखे हैं जिनको हम निम्न मुद्दों के आधार पर समझ सकते हैं- प्रकृति, स्त्री, माँ, बहन, विधवा लड़की, श्रम का महत्त्व, शब्द, व्यंग्य, कवि-कविता, इतिहासबोध-रूढ़ि, परंपरा, धर्म, संस्कृति, सभ्यता, समाज, राजनीति, अर्थ, हिंसा-अहिंसा, प्रजातंत्र, स्वतंत्र, समता और बंधुता, राष्ट्रीयता, घृणा और प्रेम,

समता-विषमता, न्याय, वर्ण- व्यवस्था, ईश्वर का नकार, ज़िंदगी आशा-आकांक्षा, सूक्ष्म मनोभाव, मानवीय संबंध, प्राचीन ग्रंथों का विरोध आदि।

4.1. ओमप्रकाश वाल्मीकि की कविताओं में सामाजिक चित्रण :

आधुनिक भारतीय समाज की विसंगतियों को समझने के लिए जातिप्रथा के उद्‌भव का वैज्ञानिक विश्लेषण आवश्यक है। यदि हम इतिहास के पन्नों को पलट के देखें तो स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है कि एक जाति विशेष का वर्चस्व प्रवाहमान काल से समाजके समस्त अधिकारों को हड़पता रहा है।

भारतीय समाज के अन्तर्गत जातीय भेदभाव सदियों से चला आ रहा है। हर एक जाति दूसरी जाति को दबाना चाहती है। भारतीय समाज में दलित जाति को सदियों से अछूत माना गया है। उन्हें सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक सभी दृष्टियों से वंचित रखा गया है। एक जमाने से आज तक उन्हें पाप समझा जाता है। प्रो. रामशरण शर्मा ने 'शूद्रों का प्राचीन इतिहास' नामक अपनी पुस्तक में सप्रमाण यह बतलाया है कि भारतीय समाज में आरम्भ से ही छुआछूत की प्रथा प्रचलित रही है। उन्हीं के शब्दों में वैदिक काल का अन्त होते कुछ बातें भी प्रकट होने लगीं। शूद्र के शरीर से स्पर्श होना और कुछ आचरिक अवसरों पर उसे देखना भी निषिद्ध माना जाता था।

सामाजिक जीवन की व्यवस्था के लिए समाज ही साध्य होता है। सामुदायिक जीवन में मनुष्य के विचार व्यवहार अनंत काल से विकसित समाज से संचित विचार व्यवहार का प्रतिफलन करते हैं। मनुष्य समाज का एक अंग है। सामाजिक प्राणी होने के नाते उसकी अनेक आवश्यकताएं होती हैं। इन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उसे असंख्य लोगों के सम्पर्क में आना पड़ता है, इससे अनेक सम्बन्ध स्थापित हो जाते हैं।

भारतीय सामाजिक इतिहास में वर्ण व्यवस्था का विशेष महत्त्व है। जन्म से मृत्यु पर्यन्त प्रत्येक हिन्दू के विभिन्न संस्कृति वर्ण भेद के अनुसार ही होते हैं। उनके राजनीतिक, आर्थिक परिवर्तन हुए हैं। नए-नए धर्मों की उन्नति और अवनति होती रही, परन्तु वर्ण-व्यवस्था का लोप न हो सका। यह आज भी अपने नए

रूप के साथ विद्यमान है। प्राचीन काल में हिन्दू समाज चार वर्णों में विभाजित हो गया। जैसे : उच्चवर्ण, पिछड़ा वर्ण, अनुसूचित जातियाँ, अनुसूचित जनजातियाँ आदि-आदि। इस प्रकार पहले हिन्दू समाज के शास्त्रों में कुछ नियम थे, उसी प्रकार आज के आधुनिक युग में भी है।

हमारे भारत देश में दलित समाज को अन्य समाजों से नीचा समझा जाता है और भारतीय समाज में दलित समाज को पानी पीना भी मुश्किल कर दिया है। ऊपर से पाप और पुण्य मन्तर फूँकते हैं। ऐसे भारतीय हिन्दू समाज में दलितों के लिए कोई जगह नहीं है इस विषय को लेकर बाबा साहेब अम्बेडकर अपने विचार प्रकट करते हुए कहते है कि- 'समाज में दलित लोग अपने स्वयं को नीचा नहीं समझना चाहिए अन्यों के बराबर समझना चाहिए।'[1] हमारे भारत देश में अधिक से अधिक लोग दलित थे फिर भी जाति से कम समझने के कारण दलित समाज पर कुप्रभाव पड़ा है।

समाज में अनेक रीत-रिवाज़ों ने जन्म लिया था। हिन्दू धर्म ने दलितों के जीवन में अंधकार फैला दिया था। इसीलिए बाबा साहेब अम्बेडकर ने दलितों को जागृत किया। वे कहते हैं कि- 'जीवन जिया वह कैसा जिया इसका कभी विचार किया है क्या? जीने के अनेक मार्ग हैं। पर सभी मार्ग है तो दूसरा उसके शरण में जाना है। इसमें दोनों मार्ग से जी सकते हैं, पर दूसरा मार्ग पहले से बहुत अलग है। एक मानव का जीना है तो दूसरा कीड़े का जीना है। पर धर्म के नाम पर पागल हु लोगों को शूरों का धर्म बताकर क्या उपयोग। नहर के कीड़े समान जिसने हजारों साल जिया उसे उन्हें मानव के जीने की क्या कदर?'[2]

जाहिर है कि समाज में दलितों के लिए कुछ सीमित कार्य करने के लिए भी सवर्णों ने उन्हें मजबूर किया था। सबसे नीच कर्म जो घृणित हो वह दलितों को करने के लिए कहा जाता था। उसी प्रकार सवर्ण लोग समाज के सबसे ऊंचे तबके के थे। इसलिए उनका समाज में वर्चस्व था। दलितों में उनके उपजातियों ने जन्म लिया और एक-एक जाति एक-एक कर्म करने के लिए मजबूर हो गयी। इसमें माँग जाति बाजा बजाते थे। चमार, भंगी लोग गाय के मरने पर उसे उठाना और उसका चमड़ा (खाल) निकालकर उसे सुखाने

[1].नया मसीहा, रामशंकर अग्निहोत्री , पृ.23
[2].दोहरा अभिशाप, पृ.73

के बाद खाल को बेचना था। ब्राह्मण का काम तो केवल पूजा और शिक्षा देना था। बाबा साहेब इस सन्दर्भ में कहते हैं कि- 'ब्राह्मणों को जो वर्चस्व प्राप्त हुआ वह उसके कर्म के आधार पर जिन्हें समझदारी का सामर्थ्य है। उन्हें दूसरों पर अपने वर्चस्व को बिठाना पसन्द है और वह बिठाते हैं। ब्राह्मणों ने धर्म वर्चस्व सम्पादन किया ब्राह्मणों ने दूसरी जाति के लोगों को अज्ञान के अन्धकार में धकेल दिया, जिससे वह समाज हजारों साल से समाज से कटा रहा।'[1] इसी को नीचा दिखाने का प्रयत्न किया है। और नीच धर्म के काम दिए गए हैं।

4.1.1. वर्ण व्यवस्था :

हिंदू धर्म और शास्त्रों के अनुसार भारत देश में इंसान को मुख्यतः चार वर्णों में विभाजित किया गया। वह है- ब्राह्मण, वैश्य, क्षत्रिय और शूद्र। भारत में जन्मजाति के आधार पर भेदभाव की समस्या चिरकाल से एक विकृत और घृणित रूढ़ि के रूप में विद्यमान रही है और रक्तबीज की भाँति बढ़ती जा रही है। सुरसा के मुँह की भाँति उसकी विकरालता के चलते आचार्य विनोबा भावे को तो यहाँ तक कहना पड़ा- "जाति वह हे जो जाति नहीं है।" वर्ण व्यवस्था इस समस्या की जननी तथा आर्य संस्कृति इसकी पोषक है। जिसके अंतर्गत एक जाति विशेष और एक जाति विशेष समूहों को श्रेष्ठ, स्वामी और सुविधा भोगी तथा दूसरे जाति समूहों और जाति विशिष्ट को निकृष्ट, अधिकार वंचित व सेवक घोषित करके उनके प्रति विद्यमान जातीय विभेद को न्यायसंगत ठहराया गया है। इस वर्ण व्यवस्था के कारण ही शूद्रों को सवर्ण पराये लगते हैं। एक व्यक्ति साफ-सुथरे बंगले में रहता हैं तो दूसरा गंदी नालियों के किनारे। इसका कारण भी वर्ण व्यवस्था ही है।

ओमप्रकाश वाल्मीकि अपनी 'कभी सोचा है' शीर्षक कविता में सवर्णों से सवाल करते हैं-

"कभी सोचा है
गंदे नाले के किनारे बसे
वर्ण व्यवस्था के मारे लोग

[1]. दोहरा अभिशाप, पृ.73

इस तरह क्यों जीते हैं?

तुम पराये क्यों लगते हो उन्हें

कभी सोचा है?"[1]

धर्म ग्रंथों के हिसाब से ब्रह्मा के पाँव से शूद्रों का जन्म हुआ। ब्राम्हण का सिर से, वैश्य का नाभी से, क्षत्रिय का भुजा से। दलित ने यहाँ पर पलटकर नहीं पूछा कि ब्रह्मा कहाँ से पैदा हुआ है ? दलित कवि ओमप्रकाश वाल्मीकि अपनी 'मेरे पुरखे' शीर्षक कविता में कहते हैं -

"ब्रह्मा के पाँ से जन्मे

और सिर से ब्राह्मण

उन्होंने पलट कर नहीं पूछा-

ब्रह्मा कहाँ से जन्मा?"[2]

इस वर्ण-व्यवस्था के कारण ही मनुष्य-मनुष्य में भेद है। यही नहीं बल्कि सवर्ण दलितों को मनुष्य मानने के लिए भी तैयार नहीं है। जबकि सब माँ की कोख से जन्म लेते हैं। सब की प्रजनन क्रिया एक जैसी ही है। यहाँ जन्म के अनुसार ही ब्राह्मण-शूद्र आदि हो जाता है। ओमप्रकाश वाल्मीकि अपनी 'वह दिन कब आयेगा' शीर्षक कविता में व्यंग्य करते हैं-

"मेरी माँ ने जने सब अछूत ही अछूत

तुम्हारी माँ ने सब बामन ही बामन

कितने ताज्जुब की बात है

जबकि प्रजनन क्रियाएक ही जैसी है।"[3]

वस्तुतः जातीय विभेद और वर्ण-व्यवस्था इन्सानों द्वारा इन्सानों के शोषण व दमन की आद्योपंत और

1.बस्स ! बहुत हो चुका है- ओमप्रकाश वाल्मीकि-पृ-51

2.बस्स ! बहुत हो चुका है- ओमप्रकाश वाल्मीकि-पृ-99

3.बस्स ! बहुत हो चुका है- ओमप्रकाश वाल्मीकि-पृ-103

अथक किंतु सर्वथा थका देने वाली और दंभी श्रेष्ठता की कुंठा ग्रंथि से उत्पन्न पाशविक प्रवृत्ति-ग्रंथि से प्रवाहित विचारधारा है। इससे समाज में वैर, शत्रुत्व और परायापन बढ़ने के सिवाय और कोई फायदा नहीं है। दलित कविता इन सबको भूल कर आपस में भाईचारे को बढ़ाकर मिल-जुलकर रहने के लिए आह्वान करती है।

सवर्णों पर करार व्यंग्य करते हुए ओमप्रकाश वाल्मीकि कहते हैं-

"तुम्हारे रचे शब्द
तुम्हें डंसेंगे सांप बनकर
गंगा किनारे कोई वृक्ष ढूँढ लो
कर लो भगवत का पाठ आत्मतुष्टि के लिए
कहीं अकाल मृत्यु के बाद
भयभीत आत्मा / भटकते-भटकते
किसी कुत्ते या सुअर की मृत देह में
प्रवेशन कर जाए
या फिर पुनर्जन्म की लालसा में
किसी डोम या चूहड़े के घर
पैदा न हो जाए
चूहड़े या डोम की आत्मा
ब्रह्म का अंश क्यों नहीं
मैं नहीं जानता
शायद आप जानते हों..."[1]

कवि ईश्वर का जप करने वाले ढोंगी पंडितों से प्रश्न कर रहे हैं। उनका कहना है कि तुम्हारे अपने शब्द ही तुम्हें सांप बनकर डस लेंगे। अपनी आत्म तुष्टि के लिए गंगा किनारे बैठकर भगवान का पाठ कर

[1]. बस्स ! बहुत हो चुका है- ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.13

लो। अकाल मृत्यु के बाद तुम्हारी आत्मा पता नहीं कहाँ-कहाँ भटके। यहाँ कवि द्वारा पुनर्जन्म की माया रचकर शोषण करने वालों से प्रश्न किया गया है।

4.1.2. समता-विषमता और न्याय :

इस दुनिया में हर मानव एक ही रास्ते से आता है फिर भी एक ऊँचा कहलाता है तो एक नीचा। सबको जीने का पूरा हक है, किंतु एक लखपति है तो एक रोड़ पर घूमने वाला रोड़पति। एक के पास खाने के लिए इतना सारा पड़ा है कि वह सोचता है कि पहले क्या खाऊँ? दूसरे के पास कुछ भी न होने के कारण सोचता है कि क्या खाऊँ? जो ऊँचे कुल और धनिक घरों में पैदा होते हैं वह भी धनिक और ऊँचा कहलाता है। दलित को पैसा कमाने के लिए रात-दिन मेहनत करनी पड़ती है तो दूसरी ओर सवर्ण और धनिकों का पैसे हृ , पैसा कमाता है। इस विषमता को देख दलित कवि चुप नहीं बैठता। वह इस पर भी कविता लिखता है। ओमप्रकाश वाल्मीकि अपनी 'वे नहीं जानते' शीर्षक कविता में लिखते हैं -

"कुछ लोग पैदा होते हैं लखपति हैं
और कुछ तमाम उम्र नहीं देख पाते
एक हज़ार रुपये एक साथ।"[1]

दलितों के विचार कुछ मात्रा में मार्क्सवादी विचारधारा से मिलते-जुलते हैं या फिर ऐसा कह सकते हैं कि दलितों पर मार्क्सवादी विचारधारा का प्रभाव दिखायी देता है। क्योंकि मार्क्स ने मज़दूरों पर होने वाले अन्याय के खिलाफ़ आवाज़ उठायी है, और हम देखते हैं कि मजदूरों में 75 प्रतिशत शूद्र ही हैं। मार्क्स ने मेहनत करने वालों को एक होकर लड़ने की बात कही थी, जिससे न्याय और समानत्व की स्थापना होगी। क्योंकि एक ओर ऐसा वर्ग है जो कोठी बंगलों में रहता है तो दूसरी ओर झोंपड़ पट्टी में। एक वर्ग वातानुकूल कमरे में चैन की नींद लेता है तो दूसरी ओर रात-दिन श्रम की भट्टी में तपता है। एक ऊँचा है तो दूसरा नीचा, इस विषमता का विरोध दलित कवि भी करते हैं। जयप्रकाश कर्दम की 'मेरे अधिकार कहाँ हैं?' शीर्षक

[1]. बस्स ! बहुत हो चुका है- ओमप्रकाश वाल्मीकि-पृ-86

कविता का उदाहरण देख सकते हैं-

"तुम कोठी-बंगलों में रहते
मैं रहता झोपड़ पट्टी में
तुम ए.सी. कूलरमें सोते
मैं तपता श्रम की भट्टी में।"[1]

दलित वर्ग अब जाग रहा है, वह हर क्षेत्र में समान रूप से भागीदारी चाहता है। वह समानता हर क्षेत्र में मांगता है, शासन-प्रशासन से लेकर मैला ढ़ोना, जूती गाँठना, झाड़ू लगाना आदि तक। कर्दम जी अपनी 'आरक्षण' शीर्षक कविता में कहते हैं-

"अब हर क्षेत्र में होगी
समान रूप से हिस्सेदारी
शासन प्रशासन से लेकर
मैला ढोने, जूती गांठने।" [2]

आज तक जो हुआ सो हुआ, अब दलितों में चेतना आ गयी है। वे अब अन्याय और अत्याचार नहीं सहेंगे। आज तक वे बहुत भटक चुके हैं और अब भटकना नहीं चाहते बल्कि समता के मार्ग पर चलना चाहते हैं। जयप्रकाश कर्दम अपनी 'मेरी चाह' शीर्षक कविता में लिखते हैं-

"बहुत भटका हूँ
असमानता और अन्याय की
गलियों में
मैं समता के राजपथ पर
चलना चाहता हूँ।"[1]

---

[1]. गूँगा नहं था मैं, जयप्रकाश कर्दम, पृ.43
[2]. गूँगा नहं था मैं, जयप्रकाश कर्दम, पृ.15

4.1.3. स्त्री की विविध भूमिकाएँ :

स्त्री के कई रूप है- माँ, बहन, बेटी, पत्नी, विधवा आदि। दलित कविता इन सब को केन्द्रीत करती है। पुरुष प्रधान समाज ने स्त्री का बहुत ही निर्ममता से शोषण किया है। उसे कभी मनुष्य माना ही नहीं। स्त्री हमेशा की तरह जिंदगी जीती आ रही है। उसकी स्थिति-गति में कोई खास अन्तर नही आया है।

झाड़ूवाली औरत सुबह भोर के समय उठकर घर में छोटे बच्चे को छोड़ हाथ में झाड़ू लिए निकल पड़ती है। गली-मुहल्ले की गंदगी ढ़ोते-ढ़ोते भूल जाती है कि वह अपने मासूम बच्चे को छोड़कर आयी है। उसका बच्चा भूख से रोता है क्योंकि माँ के स्तन में इतना दूध नहीं कि बच्चा पेट भर पी सके।

ओमप्रकाश वाल्मीकि अपनी 'वे नहीं जानते' शीर्षक कविता में कहते हैं-

"सूखे स्तन में
नहीं अकुलाती दूध की गंगा।"[2]

एक दलित लड़की के साथ सवर्ण व्यक्ति प्रेम का स्वांग रचता है। उसकी भावनाओं को गरमा कर शरीर से खेलता है। उसे रखैल बनाकर रखने के लिए तैयार रहता है किंतु विवाह करने के लिए नहीं, क्योंकि जाति बीच में आ जाती है। किसी दबाव में आकर शादी भी कर लेगा लेकिन उसे उस घर में वह सम्मान कभी नहीं मिलता जो मिलना चाहिए। उसे दासी बनकर ही रहना पड़ता है। उस पर हो रहे अन्याय और अत्याचार को चुपचाप सहते रहना ही पड़ता है। अगर वह अधिकारों की बात करेगी तो उसका गला दबाया जाएगा या फिर छुरे से रेत दी जायेगी, नहीं तो किरॉसीन से जला दी जाएगी।

जयप्रकाश कर्दम जी अपनी 'अस्वीकृति' शीर्षक कविता में भोली बहन को समझाते हैं-

"सिलिया, मेरी बहन
तू बड़ी भोली है
तू इस भ्रम में मत रहना

---

[1].गूँगा नहं था मैं, जयप्रकाश कर्दम, पृ.27

[2]. बस्स ! बहुत हो चुका है- ओमप्रकाश वाल्मीकि-पृ-81

वह ऐसा नहीं करेगा
तेरी भावनाओं को गरमाकर वह
तेरे शरीर से खेलेगा
प्यार का स्वांग कर
तेरा शोषण करेगा।"[1]

दलित कविता लड़की पर होने वाले अन्याय पर भी प्रकाश डालती है और अपनी कविता का विषय बनाती है। हर लड़की शादी से पहले सपना देखती है कि उसका जीवन साथी अच्छा हो। लड़की जीवन साथी को खुद चुनना चाहती है, किंतु माता-पिता के सामने उसकी कुछ नहीं चलती। यहाँ तक कि उसका सूरत भी नहीं देखती, वह अंधी लड़की की तरह जिसके गले में बाँध दि जायेगा, उसे उसके साथ चुपचाप जाना पड़ता है। चाहे वह साठ साल का बूढ़ा ही क्यों न हो ? आँखें रहने के बावजूद भी लड़की अंधी है, अंधी इसलिए कि वह अपने जीवन साथी को खुद नहीं चुन सकती है। लड़की इस अंधेपन को और अंधेरे को दूर करना चाहती है।

श्यौराज सिंह 'बेचैन' अपनी अंधेरा समाज शीर्षक कविता में कहते हैं-

"लड़की मन की
और आँखों में झोंकी हुई धूल
साफ़ करना चाहती है
क्योंकि अंधेरा
कुदरत का नहीं, समाज का है।"[2]

दहेज प्रथा के कारण ही आज स्त्रियों पर ज्यादा अन्याय हो रहा है। इतना ही नहीं इसी कारण बहुत सारी स्त्रियाँ रोज पीटी और जलायी जाती हैं। दहेज प्रथा के कारण ही लड़की माता-पिता पर बोझ बनती

---

[1]. गूँगा नहीं था मैं- जयप्रकाश कर्दम, पृ.29
[2]. दलित निर्वाचित कविताएँ, कंवल भारती, पृ.93

है। कोई भी व्यक्ति लड़की पैदा होने पर संतुष्ट नहीं होता यहाँ तक कि उस लड़की की माँ भी। आर्थिक परिस्थिति से कमजोर परिवार की लड़कियाँ दहेज के कारण कई साल तक घर में पड़ी रहती हैं।

ओमप्रकाश वाल्मीकि अपनी 'खेत उदास है' शीर्षक कविता में इस स्थिति को उजागर करते हैं।

"लड़की उदास है
कब तक छिपाकर रखेगी जन्मतिथि।"[1]

शिक्षा के प्रभाव से लड़की में बहुत परिवर्तन आया है। अक्षर के जादू ने लड़की पर बेजोड़ असर किया है। अब लड़की ने रोना, पछताना, चुप रहना और ड़रना छोड़ दिया है। अब वह बाप का बोझ नहीं बनेगी और न ही पराया धन होगी। शिक्षित लड़की खुद कमाएँगी। दूसरे पर निर्भर नहीं रहेगी। देर से शादी करेगी और देर से माँ बनेगी। लड़की नाजुक नहीं फौलाद बनेगी। शिक्षित लड़की अब दहेज देने के लिए सहमत नहीं होगी, उसका विरोध करेगी। दलित कविताकी लड़की विद्रोह कर उठती है।

श्यौराज सिंह बेचैन अपनी 'लड़की ने डरना छोड़ दिया' शीर्षक कविता में कहा है -

"ना दहेज को, सहमत होगी
कौम की काया तोड़ेगी
घुट-घुट कर
अब नहीं मरोगी
मंच पै चढ़कर बोलेगी
चुप्प रहना छोड़
दिया, लड़की ने डरना छोड़ दिया।"[2]

भारतीय पुरुष प्रधान संस्कृति नारी को श्रेष्ठ, महान् और पूजनीय कहती है। यहाँ तक कि भारत को भारत माता, गाय को गोमाता, धरती को धरती माता कहा गया। इतना ही नहीं समाज का गहना आदि। दूसरी

---

[1]. बस्स ! बहुत हो चुका है- ओमप्रकाश वाल्मीकि-पृ-24
[2]. दलित निर्वाचित कविताएँ, कंवल भारती, पृ.97

ओर उस पर घोर अन्याय, अत्याचार किया जाता है। उपेक्षा की ठंडक और आक्रोश के तेजाब से नारी व्यक्तित्व को हमेशा रौंदा जाता है। स्त्री को गहना कहने वालों से सुशीला टाकभौरे अपनी 'तुमने उसे कब पहचाना' शीर्षक कविता में कहती है।-

"साथी का दम भरनेवाले
स्वामी
तुमने उसे कब पहचाना?
क्यों कहते हो नारी को
मानव समाज का गहना।"[1]

इसी कविता में टाकभौरे आगे कहती हैं कि- हीरा बहुत मुश्किल से मिलता हैं। उसे ढूँढ़ने के लिए कोयला खदानों में जाते हैं और ढूँढ़ते हैं लेकिन घर में स्त्री-रूपी हीरे को जलाया जाता है। सुशीला टाकभौरे के शब्दों में-

"कोयला खदानों में
हीरा ढूँढ़ा जाता है
मगर घर का हीरा
कोयला जैसा
जलाया जाता है।"[2]

स्त्री चाहे किसी भी कुल, धर्म, जात की क्यों न हो, सबसे पहले वह औरत है। वह स्त्री वर्ग लिंग के कारण दबायी और सतायी जाती है। सब औरतों की प्रसव पीड़ा एक जैसी है। सब औरतों के हृदय में एक-सा वात्सल्य, ममता के स्त्रोत फूट पड़ते हैं। सबके सुख-दुःख एक हैं, फिर भी उनमें फर्क है। एक भंगी तो एक बामणी, एक डोम तो दूसरी ठकुरानी। दोनों सुबह-शाम खटकती है बेशक एक दिन भर खेत में तो

[1]. दलित निर्वाचित कविताएँ, कंवल भारती, पृ.40
[2]. दलित निर्वाचित कविताएँ, कंवल भारती, पृ.140

दूसरी घर की चारदीवारी में। शाम एक को सोने के लिए बिस्तर नरम गद्दी है तो दूसरी को कांटों पर सोना पड़ता है। छेड़ी जाती है दोनों भी किंतु उसमें भी थोड़ा-सा फर्क है- एक कार में, सिनेमा हॉल व सड़कों पर तो दूसरी खेतों, मोहल्लों में, खदानों में और सर्वहारा संस्कृति में। प्रसव पीड़ा एक सी है, एक जन्मती है अस्पताल में तो दूसरी गंदे नाली के किनारे। एक पायल है तो दूसरी सत्ताहीन है जो निर्वस्त्र घुमायी जाती है।

रजनी तिलक सवर्ण स्त्री और दलित स्त्री में अंतर अपनी 'औरत औरत में अंतर' शीर्षक कविता में कहती है।-

"एक सतायी जाती है स्त्री होने के कारण
दूसरी सतायी जाती है स्त्री और दलित होने पर
एक तड़पती है सम्मान के लिए
दूसरी तिरस्कृत है भूख और अपमान से।"[1]

दलित कविता माँ की विवशता पर प्रकाश डालती है। दलित स्त्री की ओर देखने की दृष्टि सवर्णों की ठीक नहीं होती, उसे कामुकता से देखा जाता है। गरीब और लाचार होने के कारण उसका गैर फायदा उठाते हैं या फिर बलात्कार करते हैं। उस परिणाम से जन्मे बच्चे को पिता का नाम नहीं दिया जाता, समाज उनका उपहास उड़ाता है। जहाँ उस स्त्री की कोई गलती नहीं फिर भी उसे व्यभिचारिणी कहा जाता है।

जयप्रकाश कर्दम जी अपनी 'अक्करमाशी' शीर्षक कविता में कहते हैं-

"अपनी माँ के कुकर्मों के कारण
नहीं हूँ मैं अक्करमाशी
मैं उसकी विवशता का परिणाम हूँ
पाटील की औलाद होकर भी
बाप से बेनाम हूँ।"[2]

---

[1]. दलित निर्वाचित कविताएँ, कंवल भारती, पृ.145
[2]. दलित निर्वाचित कविताएँ, कंवल भारती, पृ.73

स्त्री हमेशा गुलाम ही रहेगी। स्त्री एक उधार की जिंदगी जीती है, एक किराये का जिस्म रखती है और उसे अपने तरीके से जीने का कोई अधिकार नहीं दिया गया। वह रात-दिन मेहनत करती है, वह जब तक जीती है, तब तक उसके तीन मालिक बदल जाते हैं। पहला मालिक पिता है क्योंकि जन्म से लेकर कौमार्य तक पिता की ही जागीर रहती है। दूसरा मालिक पति है। उसे पति की मर्जी के अनुसार ही रहना पड़ता है, एक दासी बनकर। तीसरा मालिक बेटा है- जिसे वह अपने जिस्म से, अपने रक्त से, अपने गर्भ से, बड़े यत्न से पालती है। वह बेटा जवान होते ही माँ का मालिक बन जाता है। उसकी मर्जी पर ही माँ का जीवन निर्भर हो जाता है। इस तरह उसकी गुलामी का सिलसिला जारी रहता है। इसलिए शांति यादव अपनी 'उधार की ज़िंदगी' शीर्षक कविता में लिखती हैं -

"वह अपने लिए नहीं
औरों के लिए जीती है
इसलिए औरत

एक उधार की

ज़िंदगी जीती है।"[1]

4.1.4. हिंसा और अहिंसा :

अलग-अलग जाति, धर्म, विचारधारा के कारण देश में आज तक कई दंगे हुए हैं, जिनमें कई लोगों के घर जलाये गये, कितने ही मनुष्य और मासूम बच्चों के प्राण गये हैं। कुछ स्वार्थी लोगों और कट्टर पंथियों के प्रवचनों के कारण दंगा-फसाद शुरू हो जाता है और आपस में शत्रुत्व पैदा हो जाता है। गाँव से लेकर शहरों तक गलियों और रास्तों पर इंसान का कत्ल किया जाता है। यह दंगा अपना पराया कुछ नहीं देखता, परिणामतः पूरा देश विद्रूपता धारण कर लेता है। दलित कवि चिंतित हैं कि जिस देश में कबीर के ढ़ाई अक्षर प्रेम के बोये थे उसे लोग भूलकर हिंसा पर उतर रहे हैं। ओमप्रकाश वाल्मीकि अपनी 'दंगों के बाद' शीर्षक कविता में कहते हैं-

---

[1]. दलित निर्वाचित कविताएँ, कंवल भारती, पृ.203

"बदरंग पर्दों के पीछे

छिपी विद्रूपताएँ

उधड़ने लगी हैं, उगने लगी हैं

कंटीली झाड़ियाँ

हर एक हथेली पर जहाँ कभी हमने उगाये थे

कबीर के ढ़ाई आखर।"[1]

बहुत सारे लोगों को धर्म के नाम पर, जाति के नाम पर बड़ी निर्दयता से मार दिया जाता है। आज तक इतनी हिंसा हुई है कि इसके दस्तावेज़ के रूप में किसी ने नहीं लिखा है, ताकि इतिहास में देखकर हिंसा का सही-सही अर्थ निकाल सके। ओमप्रकाश वाल्मीकि अपनी 'हिंसा का अर्थ' शीर्षक कविता में कहते हैं-

"अतीत से वर्तमान के बीच

चीखों की अनुगूँज

नहीं लिखी गयी दस्तावेज़ की तरह

जो समझा सके

हिंसा का सही-सही अर्थ।"[2]

सदियों से सवर्णों ने दलितों पर जुल्म, अत्याचार और शोषण किया है, लेकिन दलित कभी हिंसा पर नहीं उतरे। शायद वे हिंसा पर उतर आते तो कभी का यह सिलसिला रुक गया होता। किंतु दलितों के पूर्वजों ने हिंसा का जवाब हिंसा नहीं सिखाया। उन्हें अहिंसा में विश्वास था, इसलिए हिंसा पर नहीं उतर आए किंतु सवर्ण इन्हें कायर और कमज़ोर समझते रहे। इसलिए आज दलितों का अहिंसा पर से विश्वास उठ गया है। जयप्रकाश कर्दम जी अपनी 'किले' शीर्षक कविता में कहते हैं -

"मेरे पूर्वजों की सीख कि

---

[1]. बस्स ! बहुत हो चुका है- ओमप्रकाश वाल्मीकि-पृ-67

[2]. बस्स ! बहुत हो चुका है- ओमप्रकाश वाल्मीकि-पृ-37

हिंसा नहीं है हिंसा का जवाब
लेकिन किसने कब
महत्त्व दिया है अहिंसा को
अहिंसा है
रास्ते पड़ी मोहल्ले की कुतिया।" [1]

4.1.5. दलित वर्ग की मानसिकता का चित्रण :

दलित को दलित बनाए रखने में अंधविश्वास और भाग्यवाद से दो तत्व प्रमुखता से अपनी भूमिका अदा करते है। उसकी मानसिकता के दो तत्त्व प्रमुखता से अपनी भूमिका अदा करते हैं - 1)अंधविश्वास, 2)भाग्यवाद। सामाजिक कुरीतियाँ भी दलित वर्ग को दलित बनाए रखने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। आधुनिक हिंदी कविता में दलित वर्ग की मानसिकता को बदलने का प्रयास किया गया है।

अब दलित में चेतना आ गयी है। आज उसे आँसू, करुणा और दया की नहीं, संघर्ष की ज़रूरत है। कवि 'तनी हुई मुट्ठियाँ' कविता में नया इतिहास रचने की प्रेरणा देते हुए कहते हैं-

"मेरी पीढ़ी ने अपने सीने पर
खोद लिया है संघर्ष
जहाँ आँसुओं का सैलाब नहीं
विद्रोह की चिंगारी फूटेगी
जलती झोंपड़ी से उठते धुएँ में
नया इतिहास रचेंगी।"[2]

अर्थात् नयी पीढ़ी अब जाग गयी है। अब उसके पास आँसुओं का सैलाब नहीं है, विद्रोह की चिंगारी है। यह विद्रोह नया इतिहास रचेगी।

---

[1]. गूँगा नहीं था मैं, जयप्रकाश कर्दम, पृ.10
[2]. सदियों का संताप, ओमप्रकाश वाल्मीकि-पृ.14-15

कवि इस 'तनी हुई मुट्ठियाँ' कविता के माध्यम से सुप्त अवस्था में पड़े दलित से प्रश्न करते हैं कि-

"दोस्तों, इस चीख को जगाकर पूछों
कि अभी और कितने दिन
इसी तरह गुमसुम रहकर
सदियों का संताप सहना है।"[1]

अर्थात् जिस अत्याचार को सहते हुए आपके मुँह से चीख निकल रही है, उस चीख को जगाकर पूछा कि और कितने दिन इसी तरह चुपचाप गुलामी व अत्याचार को सहना पड़ेगा?

कवि सवर्णों पर व्यंग्य सकते हुए कहते हैं-

"देवी-देवताओं के वंशज तुम
हो जाओगे लूले-लंगड़े और अपाहिज़
जो जीना पड़ जाए युगों-युगों तक
मेरी तरह
तुब तुम क्या करोगे?"[2]

कवि सवर्ण जाति से प्रश्न करते हैं कि तुम देवी-देवताओं के वंशज हो। यदि तुम्हें हमारी तरह जीना पड़े तो तुम तो लूले-लंगडे और अपाहिज हो जाओगे। किस तरह जी पाओगे तब तुम? इस कविता में कवि ने सवर्णों पर व्यंग्य करता है।

4.1.6. शारीरिक-जीवन कष्ट :

श्रमिक शारीरिक कष्ट करता है और उसके बदले उसे किसी प्रकार का प्रतिफल नहीं मिलता। ओमप्रकाश वाल्मीकि अपनी कविता में कहते हैं-

"जब भी नहाने गए गंगा

[1]. सदियों का संताप, ओमप्रकाश वाल्मीकि-पृ.26
[2]. सदियों का संताप, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.28-30

हरकी पौड़ी

हर बार लगा जैसे लगा रहे हैं डुबकी

बरसाती नाले में

जहाँ तेज धारा केक नीचे

रेत नहीं

रपटीले पत्थर हैं

जो पाँव टिकने नहीं देते

मुश्किल होता है

टिके रहना धारा के विरुद्ध

जैसे खड़ा रहना दहकते अंगारों पर

पाँव तले आ जाती हैं

मुर्दों की हड्डियाँ

जो बिखरी पड़ी है पत्थरों के कर्द-गिर्द

गहरे तल में।"[1]

श्रमिक को कहीं भी टिकने नहीं दिया जाता। वह एक अभागे की तरह हर जगह पीछे ही रह जाता है। हर काम में उसका श्रम होता है किंतु उसका फल देखने को नहीं मिलता। जीवन कष्टदायक होता है।

दलित का जीवन श्रम से भरा है जैसे पसीना बहाना उनकी तकदीर में लिखा हो। ओमप्रकाश वाल्मीकि दलितों के श्रम जीवन पर निम्न कविता में कहते हैं-

"राजसिंहासन के इर्द-गिर्द

लार टपकते बहुरूपिये

ओढ़कर लकदक शब्दों का आवरण

---

[1]. अब और नहीं.., अस्ति-विसर्जन, ओमप्रकाश वाल्मीकि-पृ.11

खड़े हैं खिलाफ उनके
भीगे हैं जिस्म जिनके पीसने से
झुलस गये हैं चेहरे
आसमान से बरसती धूप से।"[1]

दलितों पर अनादि कालसे शोषण किया जा रहा है।अपने स्वार्थ के लिए इनका शोषण किया जाता है। इनके पसीने का कोई मूल्य नहीं चुकाया जाता। जिस्म पुरा पसीने से लथपथ हो जाता है। भरी धूप से चेहरा झुलस जाता है। किंतु इसका कोई मूल्य नहीं है।

4.1.7. दलित-जीवन मूल्यों का वर्णन

दलित अनादि काल से यातना सहता आ रहा है। उसे दिन-रात परिश्रम करना पड़ता है। किंतु उसका फल उसे नहीं मिलता। उसका जीवन दूभर हो गया है। काम करते-करते उसके हाथ लहुलुहान हो गये। गीली लकड़ी के धुएँ से उसकी आँखें लाल हो गयीं। इसको व्यक्त करते हुए ओमप्रकाश वाल्मीकि कहते हैं-

"यातनाओं की बारिश में
भीग गया वर्तमान
सीलन भरा भविष्य
कौंधने लगा रक्त शिराओं में
इन सब के बावजूद
नहीं हुए वे हाथ पत्थर
उम्मीदों का स्पर्श
भ्रम के झुटपुटों से बाहर लायेगा
एक दिन
काले साये में लिपटी

[1].अब और नहीं.... शब्द झूठ नहीं बोलते, ओमप्रकाश वाल्मीकि-पृ.54

सलाखों के पीछे खड़ी

गोदामों में बंद रोशनी"[1]

दलित की यातना का वर्णन करते हुए कवि कहते हैं कि यातनाओं की बारिश में उसका वर्तमान भीग गया है। भविष्य रक्त शिराओं में कौंधने लगा है। इसके बावजूद भी उसने हार नहीं मानी। उसकी उम्मीद मरी नहीं। उम्मीदों का स्पर्श उसे भ्रम के झुटपुट से बाहर लेकर आयेगा। एक दिन उसे रौशनी के दर्शन जरूर होंगे। इस आस से वह जी रहा है।

दलित जीवन की ओर इशारा करते हुए कवि 'जूता' शीर्षक कविता में कहते हैं-

"वे चीखते हैं

भाड़ में जाओ

तुम और तुम्हारा जूता

मैं कहना चाहता हूँ

मैं भाड़ में नहीं

नरक में जीता हूँ

पल-पल मरता हूँ

जूता मुझे काटता है

उसका दर्द भी मैं ही जानता हूँ

तुम्हारी महानता मेरे लिए स्याह अंधेरा है।"[2]

दलित का जीवन दलित ही जानता है। उसका जीवन सवर्ण क्या जाने। जिसको जूता काटता है, उसका दर्द भी वही जानता है। दूसरे की महानता उसके लिए स्याह अंधेरा है। अपना दुःख उसे खुद ही भूगतना पड़ता है, दूसरे उस दुःख को समझ तक नहीं सकता। अर्थात् दलितों के दर्द को दलित ही जानते हैं।

---

[1].अब और नहीं.., गोदामों में बंद रोशनी, ओमप्रकाश वाल्मीकि; पृ.30-31

[2]. अब और नहीं..., ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.16-17

श्रमिक का जीवन कितना दूभर है, इसका वर्णन कवि ओमप्रकाश वाल्मीकि अपनी कविता में इस तरह करते हैं-

"मशीनों पर आकार ग्रहण करता लोहा
छिल-छिल कर गिरता है
गड़ता है अक्सर जूते, चप्पलों में
गर्म कतरनों की चुभन
महसूस होती है तलवों में
कारीगर की उंगलियों से
रिसते लहू को देखकर
मेरी बेचैनी
मशीनों की घरघराहट से मिलकर
ढलने लगती है शब्दों में एकाकार होकर।"[1]

श्रमिक दिन-रात मेहनत करता है। उसका श्रम काफी कष्टदायक होता है। कल खारखानों में काम करने वालेश्रमिको का जीवन और अधिक दूर्भर होता है। उसे मशीनों के बीच लोहे को गलाना पड़ता है। उस समय उसके पैरों पर लोहे के टुकडे गिरते हैं और जूते व चप्पलों के अंदर जाकर उसके तलवों में घाव कर देते हैं। उन सब को सहते हुए वह काम में लगा रहता है जैसे उसे कुछ हुआ ही न हो।

4.1.8. दलित- आत्म संघर्षः

दलित का आत्म संघर्ष जीवन पर्यन्त चलता रहता है वह, सोचता और महसूस करता है कि- जीवन के अंतिम चरण तक संघर्ष करना है। संघर्ष ही जीवन है। बिना संघर्ष के रोटी मिलना असंभव है। इसलिए संघर्ष जारी है। इस संदर्भ में कवि कहते हैं-

"तब उस ज़हर को

[1]. अब और नहीं.... कोलाहल, ओमप्रकाश वाल्मीकि-पृ.37

रक्त शिराओं में उँडेलकर

भूल जायेंगे वो

धूप से झुलसी

त्वचा का रंग

हथेलियों में उभरी गाँठों का दर्द।"[1]

दलित का जीवन संघर्षमय है। वह जीवनपर्यंत संघर्ष करता रहता है। अंतिम सांस तक उसका संघर्ष जारी रहता है। उसके दिल में शोषक के प्रति ज़हर भरा हुआ है। उस ज़हर को वह अंतिम क्षणों के लिए संजोये कर रखता है, जब उसका जिस्म जवाब दे देगा। ऐसे समय में वह उस ज़हर को पीकर सब कुछ भूल जायेगा। उसका दर्द, धूप से झुलसी त्वचा का रंग, हथेलियों में उभरी गाँठों का दर्द, सब भूलकर वह आराम की साँस लेगा।

दलित के जीवन में संघर्ष ही संघर्ष भरा पड़ा है। पूजा घरों में या राजमहलों में उसका प्रवेश निषिद्ध है। ओमप्रकाश वाल्मीकि कहते हैं-

"अजनबी था मेरे लिए

पहचानना उस शब्द को

जो गूँज रहा था पूजा घरों में

और राजमहलों में

रासतों के बंद मुहानों पर

गुमसुम कोलाहल

टकराता था दीवारों से

दुष्कर था मेरे लिए साँस लेना।"[2]

दलित का काम इतना कठिन था कि उसके तलवों से लहू बहने लग था। वह उस दर्द से चीख भी

[1]. अब और नहीं.... ज़हर, ओमप्रकाश वाल्मीकि-पृ.67-68

[2]. अब और नहीं..., ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.77

नहीं सकता था। पूजा घरों और राजमहलों में गूँजने वाली आवाजें उसके लिए अजनबी थी क्योंकि वहाँ जाना भी उसके लिए निषिद्ध था। हर तरह से उसका जीवन संघर्षमय था।

4.1.9. सवर्णों के प्रति नफ़रत :

दलित सवर्णों के शोषण से इतना त्रस्त है कि उसके दिल में उनके प्रति नफ़रत ही नफ़रत है। उसने नफ़रत को अपना कवच बना लिया है। इस संदर्भ में कवि कहते हैं-

"तुमने बना लिया
जिस नफ़रत को अपना कवच
विध्वंस बनक खड़ी होगी रूबरू एक दिन
तब नहीं बचेंगी शेष
आले में सहेजकर रखी बासी रोटियाँ
पूजाघरों में
अगरबत्तियाँ धूप और नैवेद्य
नहीं सुन पाओगे
बच्चों का खिलाखिलाना
चिड़ियों का चहचहाना।"[1]

सवर्णों के शोषण के कारण दलित में उनके प्रति इतनी नफ़रत फैल गयी है कि वह उसका बदला लेना चाहता है। नफ़रत को उसने अपना कवच बना लिया है। किंतु इस नफ़रत से क्या होगा?

4.1.10. दलित-मुक्ति संघर्ष :

दलित के जीवन में इतना संघर्ष है कि वह उस संघर्ष को भूलना चाहता है किंतु भुला नहीं पा रहा है। ओमप्रकाश वाल्मीकि कहते हैं-

"निस्तब्ध नग्नता की

---

[1]. अब और नहीं..., विध्वंस बनकर खड़ी होगी नफ़रत, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.90

असहनीय बेड़ियों में जकड़े हाथ-पाँव
असहनीय बेड़ियों में जकड़े हाथ-पाँव
असत्य और कुतर्क के आध्यात्मिक जंगलों में
भटकती विषक्त आत्माएँ
देवदार के ऊँचे और पतले दरख़्तों की
घनी छायाएँ
अतृप्त धरती की हलकी करवटें
जो दस्तावेज़ों की तरह
लिखी हुई हैं ज़रै-ज़रै पर।"[1]

दलित हमेशा छला जाता है। पसीने और रक्त से उसकी पीठ भीगी है। उसकी पीठ पर कोड़ो के निशान हैं। वह इन सबको भूल जाना चाहता है। वह सारे दु:ख-दर्द भूलना चाहता है। वह चाहता है कि उसके शब्द असहमति में सिर हिलाना सीख जाए।

4.1.11. अस्मिता की तलाश:

डॉ.अंबेडकर का कहना था कि "मनुष्य का यह जन्मसिद्ध अधिकार है कि वह सम्मानपूर्वक जीवन के लिए संघर्ष कर रहे हैं जिसका हिंदुओं ने हमारे लिए अभी तक निषेध रखा था। हम अपने जीवन को उतना पूर्ण तथा सुंदर बनाना चाहते हैं जितना संभव हो सके।" आज की दलित कविता इस दिशा में सार्थक, सृजनात्मक हस्तक्षेप कर रही है और इस दशा में बदलाव भी हो रहा है।

अतीत के स्याह दिनों में भी अपनी अस्मिता ढूँढ़ना चाहती है-

"ओ मेरे अज्ञात अनाम पुरखों
तुम्हारे मूक शब्द जल रहे हैं
दहकती राख की तरह।

---

[1]. अब और नहीं.... असहमति, ओमप्रकाश वाल्मीकि-पृ.81

राख जो लगातार काँप रही है
रोष से भरी हुई।
मैं जानना चाहता हूँ
तुम्हारे शब्द...
तुम्हारा भय....
जोतमाम हवाओं के बीच भी
जल रहे हैं
दीये की तरह युगों-युगों से!"[1]

दलित रचनाकार सामाजिक यथार्थ के प्रति सिर्फ संवेदनशील ही नहीं सजग भी है। दलित साहित्यकारों ने वेदना, विद्रोह और आक्रोश के साथ-साथ वैचारिक प्रतिबद्धता को को भाषा के माध्यम से प्रधानता दि है। प्रतीक द्वारा भावना, विचार, बोध आदि की अभिव्यक्ति जहाँ रचना को प्रभावशाली बनाती है वहीं अर्थपूर्ण भी। प्रतीक द्वारा किसी भी बात को संक्षेप में कहा जा सकता है। दलित साहित्य में समाज की पीड़ा, बेबसी, उत्पीड़न और शोषण से उपजे आक्रोश को, सामाजिक यथार्थ को चित्रित करने के लिए प्रतीकों का प्रयोग हुआ है।

अंबेडकर के नेतृत्त्व में दलित-हितों में गोलमेज सम्मेलनों में गाँधी और अँग्रेज़ों के सामने अपनी शर्ते रखी। क्योंकि स्वराज उनके लिए समता की आकांक्षा के अलावा और कुछ नहीं हो सकता था। इसी संदर्भ में कवि कहते हैं कि.....

"मैं भोर के सूरज सा
उदय होना चाहता हूँ
अँधेरों से
निकलना चाहता हूँ
बहुत भटका हूँ

---

1. बस बहुत हो चुका, ओमप्रकाश वाल्मीकि-पृ.25

विभेद और अन्याय की गलियों से
मैं समता के राजपथ पर चलना चाहता हूँ
हिंसा का नकार चाहता हूँ
मैं विद्वेष नहीं सामंजस्य चाहता हूँ
बर्बरता और दमन का
प्रतिकार चाहता हूँ
मैं पशुता का जंगल नहीं
मनुष्यता का संसार चाहता हूँ।"[1]

4.1.12.आत्म गौरव :

डॉ. अंबेड़कर ने कहा कि "अपने बच्चों को शिक्षित करों ताकि उनके लक्ष्य महान हों, उनके जन-मानस से हीन ग्रंथि दूर हो। यदि तुम इस तथ्य का पालन कर लो, तो अपने लिए स्वयं सम्मान और यश-शक्ति अर्जित कर लोगे। उनका कहना था कि ज्ञान प्राप्ति का तो प्रत्येक व्यक्ति को जनमसिद्ध अधिकार है। इस ज्ञान प्रकाश में ही अस्मिता दर्शी समाज की संरचना संभव है। उन्होंने कहा कि एक आदर्श समाज गतिशील होना चाहिए। यदि समाज के किसी भाग में परिवर्तन होता है, तो उसका प्रभाव अन्य भागों में पड़ सके, इसके लिए संगठित होना चाहिए। समाज के सभी सदस्यों को स्वतंत्र रूप से मिलने-जुलने का अवसर होना चाहिए। जिस आदमी ने अन्य लोगों की स्वतंत्रता के लिए संघर्ष किया वह श्रेष्ठ एवं महान दोनों ही हैं उस मनुष्य ने अपने लिए ही नहीं वरन् सबके कल्याण में योगदान दिया है। डॉ.अंबेडकर ने कहा कि जीवन में सफ़लता का अर्थ है पीड़ितों को इन्सान के स्तर पर उठाना। मेरी जो भी उपलब्धी है, वह मेरे समुदाय की शक्ती के ही कारण है। मुझे गर्व है कि मैं दलित समाज में पैदा हुआ हूँ। इसी से प्रेरित होकर आज का दलित साहित्यकार भी बड़ा गर्व करता है अपनी दलित अस्मिता पर। डॉ.अंबेड़कर ने एक सभा को संबोधित करते हुए कहा था कि "हमें अपने पावों पर खड़ा होना चाहिए। अधिकारों की प्राप्ति के लिए पूरा प्रयास करना

[1]. मैं गूँगा नहीं था, जयप्रकाश कर्दम-पृ.26

चाहिए। अतएव अपना संघर्ष जारी रखों और अपनी शक्तियाँ संगठित करो, संघर्ष के साथ ही आपको शक्ति और मान प्राप्त होगा।"[1]

साहित्य के लिए वैचारिक प्रतिबद्धता और वर्तमान की दारुण विसंगतियाँ ही उसे प्रासंगिक बनाती हैं। यदि कबीर आज भी प्रासंगिक लगता है तो वे सामाजिक स्थितियाँ हैं जो कबीर को प्रासंगिक बनाती हैं। हिंदी में दलित साहित्य की चर्चा और उस पर उठे विवादों ने हिंदी साहित्य को ही कटघरे में खड़ा कर दिया है। वहीं कुछ लोग यह सिद्ध करने का प्रयास भी कर रहे हैं कि दलित साहित्य के लिए दलित होना जरूरी नहीं है। हिंदी में दलित समस्याओं पर लिखने वालों की एक लंबी परंपरा है।

दलितों के प्रति हिंदू दर्शन की निर्ममता अमानवीय है-

"तुम्हारें रचे शब्द
तुम्हें ही डसेंगे साँप बनकर
गंगा किनारे कोई वटवृक्ष ढूँढ़ लो,
कर लो भगवान का पाठ
आत्मतुष्टि के लिए
कहीं अकाल मृत्यु के बाद
भयभीत आत्मा
भटकते-भटकते
किसी कुत्ते या सुअह की मृत देह में
प्रवेश न कर जाए
या फिर पुनर्जन्म की लालसा में
किसी डोम या चूहडे के घर
पैदा न हो जाए
चूहडे या डोम की आत्मा

[1]. युद्धरत आम आदमी, कविता-अंक-31-पृ.53

ब्रह्म का अंश क्यो नहीं है

मैं नहीं जानता

शायद आप जानते हों।"[1]

कवि कहते हैं कि छीने हुए अधिकार, अत्याचारियों से विनम्र प्रार्थना करने से नहीं मिला करते अपितु वे तो कठिन संघर्ष से प्राप्त हुआ करते हैं।

इस संदर्भ में 'आकाश' हिंदी कविता में ओम प्रकाश मेहरा कहते हैं-

"मैंने तुमसे तुम्हारी न ऊँचाई मांगी थी, न तुम्हारा विस्तार

मैंने सिर्फ तुम्हारे एक छोटे से टुकड़े के नीचे

माँगी थी अपने सर के लिए छत

धरती मैं ने तुमसे

न तुम्हारी गरिमा माँगी थी, न तुम्हारा धैर्य

मैंने मांगा था दो गज जमीन एक टुकड़ा

और तुम्हारे भीतर उतना ही बड़ी

आज तुम सबसे जवाब मांगता हूँ

ओ आकाश ओ धरती ओ नदी ओ हवा ओ तितली

जरूरत भर भी

छत जमीन का टुकड़ा सांस भर हक, प्यार भर पानी

और बस जरा से रंग

तमाम उम्र क्यों न मिले?"[2]

---

[1]. बस! बहुत हो चुका, ओमप्रकाश वाल्मीकि-पृ.25

[2]. युद्धरत आम आदमी, कविता-अंक-31.प.53

4.1.13. दलित चेतनाः

हिंदी-दलित कविता में - दलित चेतना, मराठी दलित चेतना की देन है। इसके प्रेरणास्त्रोत गौतम बुद्ध, महात्मा कबीर, ज्योतिराव फूले, डॉ.भीमराव अंबेडकर है। खास कर डॉ.अंबेडकर ने दलितों को उनकी गुलामी का एहसास कराया और उनकी सोई हुई चेतना को जगाकर उन्हें बोलने के लिए, विरोध प्रकट करने के लिए, मुखर वाणी दी। डॉ. अंबेडकर का उदय हुआ जिसने सदियों से सोये दलित वर्ग को जगा दिया और उन्हें सामाजिक न्याय और समानता का नये युग के नये गणित का पहाड़ा पढ़ाया कि चाहे कोई भी सरकार हो, न्याय और अधिकार तथा राजनैतिक-आर्थिक स्वतंत्रता अनुनय-विनय से नहीं, त्याग और संघर्ष के रास्ते से ही मिलती है। इसी लिए दलितों के महान नेता ने यह शिक्षा दी कि अधिकार लेने हैं तो "उसे लड़कर लो, जीना चाहते हो तो मरना सीखो।" इसी प्रेरणा से दलित कवियों ने अपनी लेखनी के माध्यम से दलितों की हर प्रकार की व्यथा, पीड़ा, वेदना को अपनी कविता का माध्यम बनाया।

दलित कवियों में प्रमुखतः ओमप्रकाश वाल्मीकि का नाम मुख्य है। उन्होंने 'अब और नहीं' नामक काव्य संग्रह में 'जाति' शीर्षक कविता में कवि ने दलित वर्ग की अस्मिता के लिए संघर्ष और विद्रोह की भाषा को अभिव्यक्ति दी हैं-

"न जाने किस .... ने
तुम्हारे गले में
डाल दिया है जाति का फंदा।"[1]

दलितों को नीच और अछूत करार देकर उनके ही श्रम के उत्पादन पर अपने को श्रेष्ठ समझने वाले समुदाय ने धार्मिक कर्मकांड के नाम पर कितना अध्यात्म और दर्शन रचा है उससे अधिक पाखंड, नफ़रत और अस्पृश्यता का बीजवपन किया है।

दुसरे सशक्त सुप्रसिद्ध दलित कवि है-कंवल भारती। उनका प्रसिद्ध कविता संग्रह है- 'तब तुम्हारी निष्ठा

---

[1]. अब और नहीं, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.21

क्या होती ?' उन्होंने विप्रजनों को संबोधित करके यह विचारोत्तेजक कविता लिखी है-

"यदि वेदों में लिखा होता, ब्राह्मण
ब्रह्मा के पैर से हुए हैं पैदा
उन्हें उपनयन का अधिकार नहीं,
तब तुम्हारी निष्ठा क्या होती?
यदि यह विधान लागू हो जाता (तुम द्विजों पर)
कि तुम्हें धन संपत्ति रखने का अधिकार नहीं,
तुम जिंदा रहो हमारी जूठन पर,
हमारे दिए हुए वस्त्रों पर,
तुम्हें अधिकार न हो पढ़ने-लिखने का
तुम्हारे बच्चे सेवक बने हमारे,
पीढ़ी दर पीढ़ी
हम रहें तुम्हारे शासक?
तब तुम्हारी निष्ठा क्या होती?"[1]

दूसरी कविता में भारती ने स्पष्ट किया है कि सदियों से दबा आक्रोश जब शब्द की आग बनकर फूटता है तब भाषा और कला की सब परिसीमाएँ टूट जाती हैं-

"सदियों के अंतराल के बाद,
समझ में आया
शब्द कितने बड़े शस्त्र होते हैं।"[2]

डॉ.एन.आर.सागर ने 'आजाद हैं हम' नामक-दलित काव्य संग्रह की रचना की जिसमें वे दलितों की

[1]. तब तुम्हारी निष्ठा क्या होती?, कंवल भारती, 46
[2]. तब तुम्हारी निष्ठा क्या होती?, कंवल भारती, 56

दुर्दशा और उत्पीड़न पर दृष्टिपात करते हुए कहते हैं कि- "यदि यही दशा गैर दलितों की होती तो उन्हें कैसा लगता? देखिए-

"तब तुम्हें कैसा लगेगा?
यदि तुम्हें ज्ञान के आलोक से दूर
अनपढ़ मूर्ख बनाकर रखा जाय
धन-संपत्ति से कर दिया जाय वंचित
छीन लिए जाएँ अस्त्र-शस्त्र
और विवश किश जाए
दीन-हीन अधिकार विहीन जीवन जीने को
तब तुम्हें कैसा लगेगा?"[1]

हिन्दी के प्रथम दलित उपन्यासकार 'छप्पर' के लेखक जयप्रकाश कर्दम एक सशक्त दलित-कवि हैं। उन्होंने 'गूँगा नहीं था मैं' और 'तिनका तिनका आग' नामक काव्य-संग्रहों की रचना की। अपने बेलाग और तीखे तेवर के लिए साहित्य जगत में उनकी अपनी पहचान है। अपने काव्य संग्रह 'गूँगा नहीं था मैं' में उन्होंने उन दलित, अछूत लोगों की यातना, संघर्ष और जिजीविषा की सार्थक अभिव्यक्ति की है जो सदियों से पीड़ित, शोषित और उपेक्षित रहे हैं। इस संग्रह की एक कविता का नाम है 'आरक्षण' जिसमें कवि ने अपना आक्रोश व्यक्त किया है कि-

"तुम्हें खटकता है
सरकारी नौकरियों में मेरा आरक्षण
मेडिकल या इंजिनियरिंग कॉलेजों में मेरा एडमिशन
आग लगती है तुम्हें

[1]. आजाद हैं हम,एन.आर.सागर, पृ.38

मेरी उपलब्धियों से और

अनुचित लगता है तुम्हें मेरा प्रमोशन

क्या केपिटेशन फीस

यानी रिश्वत देकर एडमिशन लेना

उचित है?

क्या मंदिरों की मोटी कमाई पर

ब्राह्मणों का एकाधिकार है?

क्या गैर सरकारी संस्थानों में

केवल सवर्णों का नियोजन उचित है?

क्या यह सब आरक्षण नहीं है?

फिर मेरे आरक्षण का विरोध क्यों?"[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिंदी में अनेक दलित कवियों ने अपनी कविता के माध्यम से दलितों की वेदना-व्यथा को अभिव्यक्ति दी है। दलित कविता में बुलेट पावर, बैलेट पावर एवं पुलेटिन पावर जैसी ताकत है। वे तुरंत ही अपने लक्ष्य को भेजती है।

अतः हम कह सकते हैं कि एक अछूत के हाथ में कलम आयी और उसने देश को संविधान देकर अंधेरी बस्ती तक ज्ञान का उजाला फैलाया। जो आज तक गूँगे थे वे बोलने लगे। जो लूले-लंगड़े थे, वे चलने लगे। जिनके हाथ में झाड़ू था, उनके हाथ में 'खड़ू' आया। अपने दर्द को हमने सृजनशील बनाया। भारतीय साहित्य के लिए जो अनुभव आज तक अछूत थे, उनको पहली बार 'अछूत' कहे गये साहित्यकारों की कलम ने स्पष्ट किया और साहित्य में अंबेडकर-विचारों की क्रांतिधारा बहने लगी। जहाँ इन्सानियत का अकाल पड़ा था, वहीं इन्सानियत का झरना बहने लगा। जातिगत जेल में हजारों साल जिस प्रतिभा और प्रतिभावानों

[1]. गूँगा नहीं था मैं, जयप्रकाश कर्दम, पृ.15

को कैद करके रखा था, वे ही गाँव के बाहर की प्रतिभा और प्रज्ञा मूल्यों की रोशनी लेकर आये। अपनी साहित्यिक दृष्टि की अलग पहचान उसने बनायी।

4.2. ओमप्रकाश वाल्मीकि की कविताओं में आर्थिक चित्रण :

प्राचीन काल से भारतीय समाज के दलित वर्ग पर खुलकर अनेक प्रकार के अन्याय एवं अत्याचार होते रहे हैं, इन अत्याचारों में से एक है आर्थिक शोषण। मनुस्मृति के रचनाकारों ने दलितों के कर्म केवल सेवा करना मानकर उसे ज्ञान-विज्ञान प्राप्ति के सामान्य अधिकारों से वंचित कर रखा था। यदि सेवा करता हुआ कोई शूद्र सुख का जीवन जीना चाहे तो वह भी उसके नसीब में न था। मनुस्मृति के रचनाकार ने तो यहाँ तक लिखा है कि-

'शकेनाषी हि शूद्रेण न कार्यो धन संचय।
शूद्रो हि धनमा सांध ब्राह्मानेव बाधते।।'[1]

अर्थात धनोपार्जन में समर्थ होकर भी शूद्र को धन संग्रह नहीं करना चाहिए। क्योंकि धन प्राप्त कर वह ब्राह्मणों को पीड़ित करने लगता है। इसलिए आगे चलकर मनुस्मृति ने राजा को आज्ञा दी कि वह शूद्रों के धन को छीन ले क्योंकि वह उसका अधिकारी है ही नहीं।

यह शोषण की परम्परा प्राचीन काल में आरम्भ होकर समय के साथ-साथ अपना रूप बदलती हुई आज भी किसी-न-किस रूप में मौजूद है। हमारे दलितों को आशा थी कि देश के स्वतंत्र हो जाने के बाद वे खुली हवा में साँस ले सकेंगे, सुख का जीवन-यापन करेंगे और समाज उन्हें आर्थिक अधिकारों से वंचित नहीं रखेगा। लेकिन उनका यह स्वप्न आजादी के 64 वर्ष बाद भी पूरा नहीं हो सका। यदि दो शब्दों में कहा जाए तो दलित का बहिष्कार एवं शोषण आधुनिक युग की देन नहीं है बल्कि शोषण अनादि काल से जोंक के समान चिपका रहा है।

---

[1].मनुस्मृति, 10/129

हिन्दी के नवोदित आलोचक जयप्रकाश कर्दम ने दलितों पर आर्थिक प्रभाव के साथ-साथ कुछ अन्य बातों को बताते हुए लिखा है कि- 'आर्थिक असमानता ही सबकुछ नहीं है। हाँ यह एक अहम् वजह हो सकती है, मगर जो वास्तविक समस्या है वह कहीं हमारे सामाजिक व्यवस्था में छिपी बैठा है। जिसकी ओर हर विद्वान एवं आलोचक अड़चन अनदेखी करते आए हैं। तथाकथित दलित आन्दोलन के झण्डेबरदार आज तक उनके आन्दोलन को सही दिशा देने की जगह बियाबान में भटकने छोड़ दिया है।'[1]

हमारे देश में गरीबी के कारण लोगों को निम्न जाति नहीं कहा जा रहा है। निम्न जाति में पैदा होने के कारण ही वे गरीब होते जा रहे हैं। उसी प्रकार अमीरों के रूप में पैदा होने के कारण लोग उच्च जाति के नहीं बन रहे हैं। सही देखा जाए तो जाति व्यवस्था की नींव पर ही आर्थिक व्यवस्था का भवन खड़ा है। डॉ.बाबा साहेब ने इसी को आर्थिक व्यवस्था कहा है, और समानता पर आधारित व्यवस्था की स्थापना के लिए जाति व्यवस्था के ध्वंस की कामना की है। बाबा साहेब ने कहा है कि- 'सम्पत्ति के उच्च वर्णों के पवित्र हक के रूप में बदलने वाली सामाजिक संरचना को ध्वंस किए बिना समानता और समाजवादी व्यवस्था की स्थापना सम्भव नहीं है।'

भारत में भारतीय अर्थ व्यवस्था का मुख्य आधार गाँव था। दैनिक आवश्यकताओं की वस्तुओं का उत्पादन गाँव में होता था। लोगों के बीच परस्पर विनिमय किया जाता था, भूमि गाँव की सार्वजनिक सम्पत्ति थी और कृषि की संयुक्त प्रथा चलती थी। यह कहना सही होगा कि नगर की तुलना में गाँव में दलितों का आर्थिक शोषण ज्यादा होता है। वर्तमान प्रजातंत्र के युग में भी यदि सामंती व्यवस्था कहीं ज्यादा मजबूत रही है, तो वह गाँवों में ही रही है। आर्थिक शोषण के कारण ही रोजी-रोटी कहीं सुरक्षा की तलाश में बिखरी हुई है।

अर्थ जीवन का एक महत्वपूर्ण अंग है। व्यक्ति अगर आर्थिक रूप से स्वतन्त्र है तो वह कभी किसी के नीचे दबा नहीं रह सकता। उसके निर्णय कोई और न लेकर वह स्वयं ले सकता है। पर भारत देश की

[1].युद्धरत आम आदमी - विशेषांक,34-35, पृ.44

विडम्बना रही है कि अर्थ केवल कुछ लोगों तक ही सीमित रह गया, और इसका फायदा उन लोगों ने दलितों का जीवन-निर्धारक बन कर उठाना चाहा।

4.2.1. श्रम का महत्त्व :

दलित कवि मार्क्सवादी लोगों की तरह ही किसी ताजमहल या उच्च भवन को देखकर कभी यह नहीं कहता कि आह! कितना सुंदर है। बल्कि वे यह सोचते हैं कि इसे बनाने के लिए न जाने कितने श्रमिकों ने अपना खून पसीना एक किया होगा। खेत में अनाज या हरियाली देखकर दलित कवि यह सोचता है कि इसके लिए मल्लाह ने चप्पू चलाकर कितना पसीना बहाया होगा। तभी तो दलित कवि ओमप्रकाश वाल्मीकि अपनी 'अच्छे लगते हैं' शीर्षक कविता में लिखते हैं-

"आकर्षित करती है नदियाँ
उनका बहता पानी
उससे भी ज्यादा खींचता है अपनी ओर
चप्पू चलाता मल्लाह
उसके जिस्म से टपकता पसीना।"[1]

इस संसार में जितने भी भौतिक वस्तुएँ हैं, उन्हें दलितों ने ही तो अपना खून पसीना एक कर बनाया है। चाहे वह देवों की मूर्तियाँ हों, खजुराहों की काम-क्रीड़ाएँ हो, मंदिरों की बुर्जियाँ हो, शिला लेख हों, किले हों, साँची स्तूप हों, मिट्टी के चमकते बर्तन हों या फिर दुनिया भर में प्रसिद्ध ढाके का मलमल और चंदेरी साड़ियाँ ही क्यों न हों शूद्रों के पसीने से ही बना है। अशोक भारती अपनी 'कौण थे वे' शीर्षक कविता में कहती हैं-

"किसका पसीना था वह
ढाके का मलमल

---

[1]. बस्स ! बहुत हो चुका है- ओमप्रकाश वाल्मीकि-पृ-91

चंदेरी की साडियाँ

गाढ़े का खद्दर।"[1]

इसी कविता में अशोक भारतीय आगे सवाल करती हैं और जवाब भी देती हैं -

"क्या वह तुम्हारे वंशज थे-

जाति-बिरादर थे,

ब्राह्मण थे, पुरोहित थे, राजा थे?

वह शूद्र थे, अछूत थे।"[2]

ताज्जुब की बात तो यह है कि अपने पसीने से बड़े-बड़े भवनों का निर्माण करने वाले इन लोगों के पास सर्दी, धूप और पानी से बचने के लिए छोटा-सा मकान भी नहीं है। इस विडंबना का चित्रण ओमप्रकाश वाल्मीकि अपनी 'वे भूखे हैं' शीर्षक कविता में करते हैं -

"उनके सिर पर

छत नहीं है

पर दूसरों के लिए

छत बनाते हैं।"[3]

श्रम कर करके श्रमिक व्यक्ति का .हाथी जैसा शरीर हड्डियों के ढाँचे में बदल जाता है। क्योंकि उसे श्रम संताप ने तोड़कर रखा है। वह एक रुग्ण व्यक्ति-सा दिखायी पड़ता है। इतनी मेहनत करने के बावजूद भी उसे ठीक तरह से दो वक्त की रोटी भी मयस्सर नहीं होती। तब वह दुबला पतला और रुग्ण नहीं दिखायी देगा तो और कैसे दिखेगा? दलितों को श्रम और संताप किस तरह तोड़ती है इसका चित्रण जयप्रकाश कर्दम जी अपनी 'अंबेडकर की संतान' शीर्षक कविता में करते हैं-

---

[1]. दलित निर्वाचित कविताएँ, कंवल भारती, पृ.190

[2]. दलित निर्वाचित कविताएँ, कंवल भारती, पृ.190

[3]. बस्स ! बहुत हो चुका है- ओमप्रकाश वाल्मीकि-पृ-77

"हड्डियों का ढाँचा सा दिखने वाला

'हरिया' जानता है

वह रूग्ण नहीं है उसे

श्रम और संताप ने तोड़ा है।"[1]

सवर्ण दलितों से इतना काम लेते हैं जितना पशु से भी नहीं लिया जाता। इतना काम लेकर भी उन्हें उनके श्रम का सही मूल्य नहीं मिलता। मलखान सिंह अपनी 'आखिरी जंग' कविता में इसका वर्णन करते हैं-

"हमारे सूजे हुए कंधों को छू

बैल के पके कंधे का दर्द भी

हलका लगेगा तुझे।"[2]

सवर्णों ने दलितों को यह समझाया है कि नर सेवा ही नारायण सेवा है। उनकी सेवा करना शूद्रों का धर्म है। इसीलिए तो शूद्र साफ़-सफाई के काम से लेकर मैला ढोने तक का काम करते आ रहे हैं। दलित आज तक उनकी सेवा करते आये हैं और सवर्ण भी उनके श्रम पर मुफ़्त खाते आ रहे हैं। इसीलिए दलित कवि जयप्रकाश कर्दम अपनी 'तुमने कहा' शीर्षक कविता में कहते हैं-

"मुफ्त की खाना छोडों

मेहनत से कमाओ

और करो वह सब

जो करना पड़ा है हमको।" [3]

---

[1]. गूँगा नीं था मैं, जयप्रकाश कर्दम, पृ.51

[2]. दलित निर्वाचित कविताएँ, कंवल भारती, 41

[3]. दलित निर्वाचित कविताएँ, कंवल भारती, 75

4.2.2. शोषण से मुक्ति :

वर्ण के आधार पर और वर्ग के आधार पर दलित वर्ग का शोषण होता चला आ रहा है। दलित वर्ग इस शोषण से मुक्त होने के लिए छटपटा रहा है। ओमप्रकाश वाल्मीकि अपनी कविता के माध्यम से शोषण के दलदल में फंसे दलित वर्ग को चेतना का रास्ता दिखा रहे हैं-

"मैं खटता खेतों में
फिर भी भूखा हूँ
निर्माता मैं महलों का
फिर भी निष्कासित हूँ
इठलाते हो बलशाली बनकर
तुम मेरी शक्ति पर
फिर भी मैं दीन-हीन-जर्जर हूँ
इसीलिए युग समूचा
लगता है पाखंडी मुझको।"[1]

कवि इस कविता के माध्यम से कहते हैं कि खेतों में फ़सल बोता है स्वयं किंतु उसे खाना नसीब नहीं होता। बड़े-बड़े महलों का निर्माता है किंतु उसके पास सिर छिपाने के लिए एक नीड़ नहीं। करने वाला कोई और है किंतु अपनी शक्ति पर वह इठलाता है। इसलिए सारा संसार दलित को पाखंड सा महसूस होता है।

कवि अपने चारों ओर फैले अन्याय एवं अत्याचार को देखकर स्वयं को पत्थर बना देना चाहता है। निम्न 'पत्थर' कविता में कवि कहता है-

"सही हाथ में पड़ते ही पत्थर
इतिहास रच लेता है

---

[1]. सदियों का संताप, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.12

या फिर तोड़ देता है
शीशे के उन घोंसलों को
जहाँ से कोई महीन आवाज़
मुझे सुनाई नहीं देती।
मैं पत्थर हो सकता हूँ
तुम्हारी, उनकी और सबकी
असलियत समझने के लिए।"[1]

अर्थात् सही हाथ में पड़कर ही पत्थर इतिहास रचता है। वह शीशे के घरों को तोड़ सकता है। चारों ओर अन्याय देखकर वह पत्थर बनना चाहता है।

दलित शोषण से तंग आ गया है। अब वह मुक्ति चाहता है। निम्न 'पत्थर' कविता में ओमप्रकाश वाल्मीकि कहते हैं-

"दोस्तों
बिता दिए हमने हजारों वर्ष
इस इंतजार में
कि भयानक त्रासदी का युग
अधबनी इमारत के मलबे में
दबा दिया जाएगा किसी दिन जहरीले पंजों समेत
फिर हम सब
एक जगह खड़े होकर
हथेलियों पर उतार सकेंगे
एक-एक सूर्य

[1]. सदियों का संताप, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.21

जो हमारी रक्त शिराओं में
हजारों परमाणु क्षमताओं की ऊर्जा
समाहित करके
धरती को अभिशाप से मुक्त कराएगा।"[1]

दलित वर्ग ने शोषण एवं गुलामी की जंजीरों में बंधकर हज़ारों वर्ष बिता दिये इस इंतजार में कि कभी-न-कभी उन्हें इस गुलामी से मुक्ति मिलेगी। आखिर कितने दिनों तक शोषण की इस पीड़ा को सहते रहेंगे। जब तक इसके खिलाफ नहीं लड़ेंगे तब तक शोषण होता रहेगा। कवि दलित वर्ग को इस अभिशाप से मुक्ति पाने की बात कर रहे हैं।

निम्न 'तब तुम क्या करोगे?' कविता में कवि शोषक वर्ग से प्रश्न करते हैं कि जैसा व्यवहार तुम कर रहे हो, वैसा ही व्यवहार यदि तुम्हारे साथ किया जाए तो तुम्हें कैसा लगेगा?

"यदि
तुम पर लाद दिया जाए
कर्तव्यों का भार...
करनी पड़े दासता-बेगार
दिन-रात की हाड़तोड़ मेहनत
और तब बदले में
खाने को दिया जाए बासी जूठन...
तब तुम्हें कैसा लगेगा?"[2]

कवि उक्त कविता के माध्यम से शोषित वर्ग से प्रश्न करते हैं कि यदि तुम पर भी इसी तरह कर्तव्यों का भार लादा जाए, यदि तुम्हें दासता और बेगार करनी पड़े, रात-दिन जी तोड मेहनत करनी पड़े और उसके

[1]. सदियों का संताप, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.26
[2]. सदियों का संताप, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.28

बदले में तुम्हें यदि बासी जूठन खाने को दिया जाए तो तुम्हें कैसा लगेगा? तुम ऐसा ही व्यवहार दलित वर्ग के साथ करते हो एक बार सोंच कर देखो इस तरह का व्यवहार उन्हें कैसा लगता हैं। तो उनको ऐसा व्यवहार कैसा लगता होता एक बार सोच कर देखो।

4.2.3. किसानों का शोषण :

भारत कृषि प्रधान देश है। देश की अर्थ व्यवस्था मुख्य रूप से किसानों एवं कृषि पर ही निर्भर है। देश की साठ प्रतिशत जनसंख्या गाँवों में ही निवास करती है। पैदावार का मुख्य कारण किसान ही होता है। वही किसान बरसों से शोषण का शिकार होता आ रहा है। साहूकारों का सूद, पंडितों की दक्षिणा आदि के नाम पर उसे लूटा जाता रहा है। अँग्रेज़ों के शासनकाल में भी किसानों को टैक्स के नाम पर भारी लगान चुकाना पड़ता था। डॉ. रामविलास शर्मा इस विषय में कहते हैं-

"किसानों के लिए विद्रोह के बाद जो बंदोबस्त हुआ था, उसमें अँग्रेज़ लेखकों के ही अनुसार बहुत बार खूब ऊँचा चढ़ाकर आँका गया था। मध्यप्रदेश में जब यह बंदोबस्त हुआ तो चार्ल्स, इलियट, चार्ल्स ग्रांट.ए. रसेल और कर्नल मैक्सीन आदि अँग्रेज़ों ने ही उसका विरोध किया। बंबई में जो बंदोबस्त हुआ, उसका सर ऑकलैंड काल्विन जैसे उत्तम वर्ग के लोगों ने तो स्पष्ट कह दिया कि सरकार ने लगान इतना बढ़ा दिया है कि किसानों के पास अपना और अपने कुटुंब का पेट पालने के लिए कुछ बचता ही नहीं। लगान की विपत्ति के साथ दैवी प्रकोप भी हो गया तो किसान बेमौत मरे। यह समझकर कि बिना लगान कम किए अकाल से मरने वालों की संख्या कम न होगी, कर्नल बेयर्ड स्मित ने प्रस्ताव किया कि बंगाल की भांति सारे देश में पक्का बंदोबस्त कर दिया जाए।"[1]

किसान की स्थिति को उजागर करते हुए इस कविता में ओमप्रकाश वाल्मीकि कहते हैं-

"चूल्हा मिट्टी का
मिट्टी तालाब की

[1]. भारतेंदु युग और हिंदी भाषा की विकास परंपरा, डॉ.रामविलास शमा, पृ.10-11

तालाब ठाकुर का।

भूख रोटी की

रोटी बाजरे की

बाजरा खेत का

खेत ठाकुर का

बैल ठाकुर के

हल ठाकुर का

हल की मूठ पर हथेली अपनी

फसल ठाकुर की।

कुँआ ठाकुर का

खेत-खलिहान ठाकुर के

गली-मुहल्ले ठाकुर के

फिर अपना क्या?

गाँव?

देश?"[1]

देश की व्यवस्था की विडंबना को दिखाते हुए कहा गया है कि चूल्हा मिट्टी का है, मिट्टी तालाब की है किंतु वह तालाब ठाकुर का है। इसी तरह भूख मिटाने वाली रोटी बाजरे की है, बाजरा खेत का है, वह खेत ठाकुर का है, बैल, हल, फसल, कुआँ, खेत-खलिहान, गली-मुहल्ले सब ठाकुर के हैं। फिर अपना क्या है? यह गाँव व देश भी शायद अपने नहीं है।

आगे कवि 'युगचेतना' कविता के माध्यम से यह पूछता है कि आखिर हमारा क्या है?

"मैं खटता खेतों में

फिर भी भूखा हूँ

[1]. ठाकुर का कुआँ, सदियों का संताप, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.3

निर्माता मैं महलों का
फिर भी निष्कासित हूँ
प्रताड़ित हूँ।"[1]

अर्थात् मैं खेतों में काम करता हूँ, फिर भी भूखा रह जाता हूँ। मैं महलों का निर्माण करता हूँ किंतु मेरे पास सिर छिपाने के लिए नीड़ नहीं है। मैं प्रताड़ित हूँ इस शोषक वर्ग से। इस श्रम का फल मुझे नहीं मिलता। यह कहाँ का न्याय है।

किसान को अपने परिश्रम का फल कभी नहीं मिलता। वह हमेशा परिश्रम करता है किंतु उस परिश्रम का फल उसको कभी प्राप्त नहीं होता। कवि ओमप्रकाश वाल्मीकि अपनी 'लेखा-जोखा' कविता में लिखते हैं-

"पसीना मिश्रित जल से
उगायी फ़सलें
लगाये पेड़
पल भर ठिठक कर
जानना चाहा धूप का रंग
न फ़सल ही अपनी हो सकी
न पेड़ ही।"[2]

किसान पसीना बहाकर फ़सल उगाता है। धूप में अपना रंग भी गंवा देता है। इतनी मेहनत के बाद भी वह फ़सल उसकी नहीं हो पाती। वह उस श्रम का फल नहीं पा सकता। यह श्रमिक वर्ग की विडंबना है।

कवि किसान के परिश्रम को बताते हुए आगे कहते हैं-

"तपती दुपहर में

---

[1]. सदियों का संताप, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.12
[2]. अब और नहीं.... ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.9

रजबाहे की नालियों में
बहते गंगाजल से
बुझायी प्यास अनेक बार
बिना हिसाब किये-
कितनी रेत समायी पेट में
कितना पानी बदला लहू में
फिर भी,
न गंगा ही अपनी हो सकी
न रजबाहे की रेत ही।"[1]

किसान श्रम करते-करते थक जाता है। उसे प्यास लगती है और भरी दुपहर में वह तपती धूप में गंगाजल पीकर अपनी प्यास बुझाता है। कितनी बार उसने इस तरह गंगाजल पीकर अपनी प्यास बुझायी है इसका कोई हिसाब नहीं है। कितनी रेत उसके पट में गयी, कितना पानी लहू में बदला इसका पता नहीं। फिर भी गंगा उसकी अपनी नहीं हो पायी न ही रेत ही अपनी हो पाया। अर्थात् श्रम के बाद भी उसका फल किसान को नहीं मिल पाया।

आगे ओमप्रकाश वाल्मीकि अपनी कविता में कहते हैं-

"शिवालय के दलवाजे से दूर
खड़े होकर मांगी मन्नतें
सही दूत्कार बामन की
यह सोचकर-
कभी तो खुलेगा दरवाज़ा
अपने लिए भी

[1].अब और नहीं.., लेखा-जोखा, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.9

भीतर सोया देवता
जागेगा किसी रोज़
पी जायेगा समूचा विष
बाहर आकर
न दरवाजा ही खुला कभी
न देवता ही अपना हो सका।"[1]

अर्थात् किसान/श्रमिक शिवालय के दरवाजे से दूर खड़ा होकर मिन्नतें मांगता है। साथ ही ब्राह्मण की गाली भी खाता है। फिर भी उनको सह लेता है इस आस के साथ कि कभी तो मंदिर का दरवाजा खुलेगा। मंदिर के अंदर सोया हुआ देवता जागेगा और बाहर व्याप्त पूरा विष पी जाएगा। किंतु उसका सपना, सपना ही बनकर रह गया। न दरवाजा ही खुला और न देवता ही अपना हो सका अर्थात् किसान को अपने श्रम का फल नहीं मिल पाया।

4.2.4. दलित-भूख की समस्या का चित्रण :

रोटी, कपड़ा और मकान की अनिवार्य आवश्यकताएँ। अमीरी-गरीबी, ऊँच-नीच, अवर्ण-वर्ण आदि सभी कुछ प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से रोटी, कपड़ा और मकान से संबोधित है शोषक वर्ग और शोषित वर्ग दोनों की स्थिति का निर्धारण रोटी, कपड़ा और मकान के आधार पर होता है। प्रारंभ से ही जो व्यक्ति फसल उगाता रहा वह भूखा मरता रहा, जो कपड़े बुनता रहा वह स्वयं चिथड़े लपेटे ही घूमता रहा और जो जीवन भर दूसरों के लिए मकान बनाता रहा, उसे झोपड़ी ही नसीब हुई। साधनों और संसाधनों के असमान वितरण ने ही एक वर्ण को शोषित बना दिया और दूसरे को शोषक वर्ण और वर्ग दोनों आधारों पर एक का शोषण होता रहा है और दूसरा शोषण करता रहा है।

दलित वर्ग शोषण को सहता है किंतु कभी दूसरों का बुरा नहीं करता। वह पीड़ा को सह लेता है किंतु दूसरों को नुकसान नहीं पहुँचाता। निम्न कविता में ओमप्रकाश वाल्मीकि कहते हैं-

---

[1]. अब और नहीं.... लेखा-जोखा, ओमप्रकाश वाल्मीकि-पृ.9-10

"वे भूखे हैं
पर आदमी का माँस नहीं खाते
प्यासे हैं
पर लहू नहीं पीते
नंगे हैं
पर दूसरों को नंगा नहीं करते
उनके सिर पर छत नहीं है
पर दूसरों के लिए
छत बनाते हैं।"[1]

कवि कहते हैं कि दलित वर्ग भूखा होता है किंतु व आदमी का मांस नहीं खाता अर्थात् दूसरों को हानि नहीं पहुँचाता। प्यास लगे तो लहू नहीं पीता, नंगा है किंतु दूसरों को नंगा नहीं करता। उसके सिर पर छत नहीं है फिर भी वह दूसरों के लिए छत बनाता है। अर्थात् वह कष्ट सहता है किंतु दूसरों को कष्ट देने की बात नहीं सोचता। वह त्याग की भावना से जीता है।

4.2.5. दलित का जीवन संघर्ष :

दलित का जीवन हमेशा संघर्षमयी रहा है। पल-पल उसे दुःखों का सामना करना पड़ा है। आज भी उनके पुरखों की दर्दनाख चीखें नगाड़ों की तरह उनके कानों में गूंज रही हैं। ओमप्रकाश वाल्मीकि का कहना है-

"समय की परिधियों से बाहर
निकलकर
उमड़-घुमड़ करती थी

[1]. वे भूखे हैं, दर्द के दस्तावेज, ओमप्रकाश वाल्मीकि -पृ.65

विश्वास में छले जाने की
सदियों पुरानी यातना
सुविधाओं की परछाई में
छूटने लगा है सभी कुछ
फिसलने लगा है समय
मुट्ठी में बंद रेत-सा
बर्बर संस्कृति का भय
बुना हुआ है मकड़ी के जाले-सा
इर्द-गिर्द
महीन अदृश्य धागों से
हौसला टूट रहा है।"[1]

सदियों से दलित को जीवन संघर्ष करना पड़ा है। उसे सुविधाओं से दूर रखा गया। संस्कृति के नाम पर उसका शोषण किया जा रहा है।

इसी तरह एक और कविता में दलित के जीवन संघर्ष का चित्रण देखा जा सकता है-

"मेरी यह कोशिश
धोखा देगी मुझे
अंधेरे में खो जायेंगी
आनेवाली पीढ़ियाँ
यह सब जानते हुए भी
मैंने स्थगित कर दी है
अपनी संघर्ष-यात्रा

[1]. अब और नहीं..., विपथित संघर्ष-यात्राःएक, ओमप्रकाश वाल्मीकि-पृ.50-51

भय ने घेर लिया है मुझे

चारों ओर से !"[1]

दलित जीवन के संघर्ष को इस कविता के माध्यम से दर्शाया गया है। दलित जीवन भर यातनाएँ व शोषण सहता रहा है। उसे जीवन पर्यंत संघर्ष करना पड़ रहा है।

धर्म ग्रंथों के नाम पर दलित पर अत्याचार किया जाता है। धर्म के नाम पर उनको छला जाता है। ओमप्रकाश वाल्मीकि अपनी 'दहशत' कविता में लिखते हैं -

"टीसता है युग

कुटिल ऐतिहासिक प्रपंच

छलते हैं

लाख चाहती है बोलना सच

धर्म ग्रंथों की संकीर्णताएँ

देखने नहीं देती

सुबह की रोशनी

जिसके लिए जोहते हैं बाट हम।"[2]

दलित को हर तरह से ठगा जाता रहा है। उसे धर्म ग्रंथों की संकीर्णताओं में जकड़ा जाता रहा है। उनको सुबह की रोशनी तक देखना नसीब नहीं हो पाता है।

दलित का जीवन संघर्ष में ही बीतता है। उसे रात-दिन मेहनत करनी पड़ती है। किंतु उनको यह भी पता नहीं चलता कि उनके परिश्रम का फ़ल किसको मिल रहा है। ओमप्रकाश वाल्मीकि अपनी 'गीली ज़मीन' कविता में लिखते हैं-

"कुंडली मारे बैठे हैं

अपराधी समूह

वहाँ

---

[1]. अब और नहीं.... विपथित संघर्ष-यात्राःदो, ओमप्रकाश वाल्मीकि-पृ.52-53

[2]. अब और नहीं..., ओमप्रकाश वाल्मीकि-पृ.62

जहाँ-जहाँ
बोया है हमने अपना रक्त
असंख्य उम्मीदों के साथ
जमीन के उन तमाम हिस्सों को
दबोच लेते हैं वे
अपनी शालीनता की आड़ में
उनकी जिह्वा से निकलते शब्द
झरते हैं
जैसे मौसम के फूल।"[1]

दलित परिश्रम करता है। अपना रक्त बहाकर वह जुटाता है किंतु मीठी बातों से उसे भ्रम में डालकर उसका हक़ कोई और मार ले जाता है। फिर उसका जीवन उसी तरह दूभर ही रह जाता है।

दलित अपना रास्ता खोजने की कोशिश करता है। उसे लगता है कि उसे रास्ता मिल गया है। किंतु अंत में उसे पता चलता है कि वह घूम-फिरकर फिर वहीं आ गया है। जहाँ से वह चला था, उसका वही संघर्ष जारी रहता है। ओमप्रकाश वाल्मीकि अपनी 'इन अपाहिज दिनों में भी' कविता में कहते हैं-

"आँखों में नाचती हैं
बारिश की बूँदें
हथेली पर थिरकते हैं
रेतीले भँवर
धुँधला जाती हैं
आँखों की रोशनी
अधपके मोतियाबिंद से।"[2]

दलित का जीवन-संघर्ष चलता रहता है। उसका बदन जख्मी हो जाता है। फिर भी उसका संघर्ष

[1]. अब और नहीं..., ओमप्रकाश वाल्मीकि-पृ.63
[2]. अब और नहीं..., ओमप्रकाश वाल्मीकि-पृ.65

नहीं रुकता। उसकी आंखों की रोशनी मोतियाबिंद के कारण धुँधला जाती है। किंतु उसका समाधान उसके पास नहीं होता है। किसी भी स्थिति में उसे सिर्फ श्रम करना है। दूसरा कोई चारा उसके पास नहीं होता है।

सवर्ण अपने बचपन की यादों को याद कर खुश होता है। क्योंकि उसका बचपन खुशहाल था। किंतु दलित अपनी बचपन की यादों को भूलना चाहता है। किंतु भूल नहीं पाता उन दर्दनाक यादों को। ओमप्रकाश वाल्मीकि अपनी 'कथावाचक' कविता में लिखते हैं-

"करता हूँ कोशिश
भूल जाने की
जंग खाये दिनों की
बीभत्स यादों की
जो शूल-सी गड़ी हैं सीने में
पसीना और लहू
दहकता भूलकर
हो गये हैं रंगहीन।"[1]

बहुत कोशिशों के बाद भी दलित अपना बचपन नहीं भुल पा रहा है। उसे वे दर्दनाक दिन याद आ जाते हैं। उन जंग खाये दिनों को भूलने की कोशिश करता है। उन वीभत्स यादों को भुलाना चाहता है। किंतु भुला नहीं पाता है।

दलित का जीवन इतना दूभर है कि उसे खाने को रोटी नसीब नहीं होती, पहनने को कपड़ा नहीं मिलता और उसके पास रहने के लिए घर तक नहीं होता है। ऐसी स्थिति में भी उसी को ही हर दंगों का शिकार होना पड़ता है। ओमप्रकाश वाल्मीकि अपनी कविता में लिखते हैं-

"शहर दर शहर
दंगों की खबरें

[1]. अब और नहीं..., ओमप्रकाश वाल्मीकि-पृ.72-73

चौक पर लगी मूर्ति
जिसे कर दिया गया खंडित
समूचा शहर खो गया
कसैले धुएँ की परत में
रोशनी के इंतजार में
हम ढूँढ़ते हैं
अपनी फटी कमीज़ का टुकड़ा
अख़बार की सुर्खियों में
जिसे टाँग दिया था उन्होंने
राजधानी के चौराहे पर
झंडे की तरह।"[1]

शहर में दंगे हो रहे हैं। चौक पर लगी मूर्ति को तोड़ा गया है। शहर में आग लग गयी है। उस रोशनी में दलित अपनी फटी-पुरानी कमीज़ को ढूँढ रहा है। उसके पास वह एक ही फटी कमीज़ का टुकड़ा है जिसे राजधानी के चौराहे पर झंडे की तरह टाँग दिया गया है। अर्थात् दंगों में भी दलित ही शिकार बनता है।

4.2.6. परिश्रम का तोहफ़ा :

दलित परिश्रम करता ही रहता है। रात-दिन एक कर परिश्रम करता है। किंतु शोषक उसका तोहफ़ा कुछ और ही देते हैं। कवि निम्न कविता में इसी का संदर्भ दे रहे हैं-

"वे रहे बेख़बर
उस दुश्मन से
जिसकी सेवा-टहल में

---

1. अब और नहीं..., कमीज़ का टुकडा, ओमप्रकाश वाल्मीकि-पृ.76

खप गयीं पीढ़ियाँ

बिक गयी भूखी-नंगी

मर गयी बेमौत

बेनाम

चिर-परिचित गलियों में। "[1]

दलित अपना काम करता है। वह दुश्मन की साजिश से बेखबर है। वह दुश्मन कोई और नहीं वही है जिसकी सेवा सदियों से उसके पूर्वज भी करते आए हैं। परिश्रम का तोहफ़ा दिया जा रहा है सज़ा के रूप में। गालियाँ, अपमान, उपेक्षा, धूतकार, भरे शब्द, असहनिय वातावरण, निराश, असहाय जीवण।

4.2.7. दलित जीवन-प्रकाश का अभाव :

दलित के भीतर एक बेचैनी है। वह बेचैनी क्या है उसे पता नही, उसका आन्तरिक द्वन्द्व बाहर नही आ पाता। सामाजिक व्यवस्था, वातावरण उस बेचैनी को दबा कर रखने में उसे मजबूर और असहाय बनाती है। इस संदर्भ में ओमप्रकाश वाल्मीकि का कहना है-

"रोशनी का होना

या न होना

कोई मायने नहीं रखता

जब भुला चुके होते हैं देखना

चीज़ों को

उनके उसी रूप में

जैसे वे जन्मी थीं।"[2]

दलित जीवन में प्रकाश का अभाव है। रोशनी का होना या न होना उसके लिए कोई मायने नहीं रखता।

---

[1]. अब और नहीं.... सज़ा, ओमप्रकाश वाल्मीकि-पृ.56

[2]. अब और नहीं.... लावा, ओमप्रकाश वाल्मीकि-पृ.70

वह सब चीज़ों को भुला चुका है। देखने के लिए उसके पास कुछ नहीं है। इसलिए रोशनी का होना या न होना उसके लिए समान है। उसकी बेचैनी से वह छुटकारा पाना चाहता है। किंतु वह इतनी हिम्मत नहीं कर पाता। उसे निहत्थे ही चुपचाप रोज़ अंदर ही अंदर लड़ना पड़ता है।

4.2.8. दलित जीवन-प्रकाश की ओर :

दलित का जीवन प्रकाश से दूर अंधेरे में बीतता है। उसके मकानों में भी सूरज की रोशनी नहीं आती है। उसका जीवन अंधकारमय है। ओमप्रकाश वाल्मीकि अपनी कविता में लिखते हैं-

"बन जाती हैं
सपनों की क़ब्रगाह
भूख की अंधेरी गुफ़ाएँ
नंगे घूमते बच्चों की आँखों में
अंधेरे-उजालों के बीच
गुप्त-सन्धि के बाद
गली के खंभें पर रोशनी नहीं उगती
पानी नहीं आता नल में
सूँ-सूँ की आवाज़ के बाद भी।"[1]

दलित का जीवन इतना अंधकारमय है कि उसके मकानों में सूरज की रोशनी तक नहीं पहुँचती। वहाँ पर भूख का राज है। वहाँ बच्चे नंगे घूमते हैं। वहाँ खंभों पर रोशनी नहीं उगती और नल में पानी नहीं आता। सिर्फ सूँ-सूँ की आवाज़ ही आती है। दलित का जीवन इतना संघर्ष से भरा हुआ है।

4.3. ओमप्रकाश वाल्मीकि की कविताओं में धार्मिक चित्रण :

'धर्म' शब्द को अनेक विद्वानों ने अलग-अलग तरह से परिभाषित और समझाने का प्रयत्न किया है। वैसे किसी भी धर्म तथा सम्प्रदाय के विषय में निश्चित परिभाषा देना कठिन कार्य है। धर्म शब्द 'धृ' धातु

---

[1]. अब और नहीं.... रोशनी के उस पार, ओमप्रकाश वाल्मीकि-पृ.86

से माना गया है। इसका अर्थ है धारण करना धरतीति धर्मः धर्म शब्द की व्युत्पतिपरक इस व्याख्या के अनुसार धर्म वह कर्तव्य है, जो प्राणिमात्र के ऐहिक और पारलौकिक जीवन पर नियन्त्रण स्थापित कर सबको सुपथ पर ले चलने में सहायक होता है।

डॉ.राधाकृष्णन ने धर्म के विषय में लिखते हुए कहा है- 'धर्म वह अनुशासन है, जो अन्तरात्मा को स्पर्श करता है और हमें बुराई और कुत्सितता से संघर्ष करने में सहायता देता है। काम, क्रोध और लोभ से हमारी रक्षा करता है, नैतिक बल को उन्मुक्त करता है, संसार को बचाने का महान कार्य के लिए साहस प्रदान करता है।'[1]

डॉ.अम्बेडकर ने धर्म के विषय में तीखी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए कहा है-"The religion which regards the recognisation of man's self respect as sin is not a religion but sickness. The religion which allows one to touch a foul animal but not a man is not religion but a madness. The religion which teaches that the unlearned should remain unlearned, that the poor should remain poor, is not a religion but a punishment."[2]

आधुनिक युग के पथ प्रदर्शक एवं क्रांतिकारी दलितों के मसीहा डॉ. अम्बेडकर ने अपने जीवन के अनुभवों को बताते हुए अन्तिम दिनों में बौद्ध धर्म का अवलम्बन किया। श्री लोखण्डे अपनी पुस्तक में अम्बेडकर के बारे में इस प्रकार लिखते हैं- " Dr. Ambedkar accepted as his queris Lord Buddha. Kabir and Mahetma Phule, he has even dedicated one of his books who were the shudras to Mahatma Phule. He accepted Lord Buddha's theory of experience was a dicisive factor which exercised a lasting influence of him."[3]

कोई भी व्यक्ति जब किसी धर्म में पैदा होकर थोड़ा बड़ा होने पर अपने भीतरी रचे हुए उस वातावरण से इतना गहरा सामंजस्य बना चुका होता है कि उससे दूर होकर दुनियाँ को देख नहीं सकता। साथ ही इस

---

[1]..धर्म और समाज, डॉ.सर्वपल्ली राधारकृष्णन, पृ.40

[2]. Gandhi : Ambedkar and the Extispaction of Untouchability, Hirendra Nathe, pg.25

[3].Bheem Rao Ramjee Ambedkar, G.B.Lokhande, pg.8

भीतरी वातावरण को भी हम निरपेक्ष होकर नहीं देख सकते। इसीलिए जब कोई किसी धर्म में निहित आदर्शों की बात करता है तो वह दरअसल उन ग्रन्थों या परम्पराओं में निहित आदर्शों का विश्लेषण कररहा होता है जो धर्म से जुड़े हैं। यह कतई जरूरी नहीं है कि उस धर्म को मानने वाला कोई व्यक्ति उन आदर्शों से अनुप्राणित भी हो। इस तरह के विश्लेषणों का महत्व केवल चर्चा-परिचर्चा चलाने के लिए होते हैं।

भारत में सदियों से यह प्रथा चली आ रही है कि धर्म के नाम पर मनुष्यता का बँटवारा किया जाता है। मानवता से ज्यादा धर्म और पशु को महत्त्व दिया जाता है। धर्म के नाम पर समाज में अनेक प्रकार के ऊँच-नीच का भेदभाव लाया गया है। ऐसे तो भारत में अनेक धर्म रहे हैं। पर हिन्दू धर्म ही इसका स्पष्ट उदाहरण माना जाता है। इस विषय में अम्बेडकर कहते हैं- 'जिस धर्म में एक वर्ग विद्याध्ययन करे, दूसरा शस्त्र धारण करे, तीसरा व्यापार करे और चौथा सिर्फ सेवा करे, ऐसा कहा गया है, वहा धर्म मुझे स्वीकार नहीं है, बल्कि लोगों को बौद्धिक गुलामी में रखने का षड्यन्त्र है जो धर्म एक के हाथ में शस्त्र देकर, दूसरे को निःशस्त्र करता है, वह धर्म नहीं है, बल्कि एक के द्वारा दूसरे को पराधीनता में रखने की चालाकी है। जो धर्म कुछ लोगों के लिए धन प्राप्त करने का मार्ग खुला रखता है, और शेष लोगों को जीवन निर्वाह के लिए दूसरों अबलम्बित रहने की आज्ञा देता है, वह धर्म नहीं बल्कि स्वार्थपरायणता है। हिन्दू धर्म का चातुर्वर्ण्य ऐसा ही है।'[1]

अतः हिन्दू धर्म वास्तविकता में तो निःस्वार्थ भावना से लोगों में जगाने के लिए बनाया गया है। परन्तु खेद की बात है कि इस धर्म में मनुष्य को मनुष्य नहीं माना गया। मनुष्य यहां धर्म के लिए रह गया है, वरन् होना तो ऐसा चाहिए कि धर्म मनुष्य के लिए हो। निश्चित रूप से हम कह सकते हैं कि धर्म का जो पुराना अर्थ था न्याय की वकालत करना, अब बदल गया है। आज के युग में धर्म का अर्थ साम्प्रदायिक हो गया है। निम्न और निचले तबकों के लोगों को आकर्षित करने के लिए महज एक साधन बन कर रह गया है।

[1].बाबा साहेब अम्बेडकर, विजय कुमार पुजारी, पृ.152

4.3.1. ईश्वर का विरोध :

मंदिरों में जो ईश्वर है उसे दलित बहुत ही अच्छी तरह से जानता है। क्योंकि मंदिर और उसमें स्थापित मूर्ति भी इसी ने गढ़ी है। विडंबना तो यह है कि जिसने बनाया उसी को उस मंदिर में प्रवेश नहीं है। मूर्ति और मंदिर ही नहीं ऐसे बहुत सारी वस्तुएँ हैं, जिसका निर्माता दलित ही है। किंतु बाद में उसे स्पर्श करने का और भोगने का अधिकार उसे नहीं है। दलित जिस किसी वस्तु को बनाता है वह सवर्णों के घर में पहुँचने तक कोई समस्या नहीं होती किंतु वह वस्तु घर में जाते ही पवित्र हो जाती है। तभी तो इसे छुओ मत, उसे छुओ मत कहा जाता है। ओमप्रकाश वाल्मीकि अपनी 'तुम्हारी गौरव गाथा' शीर्षक कविता में उन मूर्ति रूपी देवों से सवाल पूछते हैं कि इतना अन्याय देख कर भी तुम्हारी आस्था क्यों जागृत नहीं होती -

"क्यों नहीं जगाती आस्था
देवों की पाषाण मूर्तियाँ
जो गढ़ी है मैंने ही
छैनी-ङथौड़े के सधे वार से।"[1]

धर्म के ठेकेदार और सवर्ण दलितों को हमेशा यह समझाते और विश्वास दिलाते आ रहे हैं कि ईश्वर है। ईश्वर-सर्वव्यापी और सर्वशक्तिमान है, उसकी इच्छा और आदेश के बिना पत्ता तक नहीं हिलता। अब दलितों के सामने यह सवाल खड़ा हो जाता है कि अगर ईश्वर की इच्छा और आदेश के बिना पत्ता तक नहीं हिलता, तो क्या दलितों पर आज तक जो अन्याय और अत्याचार हो रहे हैं उसका कारण भी ईश्वर ही है? अगर ईश्वर होता तो अन्याय क्यों करता? इसलिए दलित ईश्वर के अस्तित्व को नकारता है। जयप्रकाश कर्दम जी अपनी कविता 'शुक्र है तू नहीं है' शीर्षक कविता में कहते हैं -

"तेरी इच्छा के बिना
पत्ता तक नहीं हिल सकता

---

[1]. बस्स ! बहुत हो चुका है- ओमप्रकाश वाल्मीकि-पृ-52

यानी दुनिया में अच्छा-बुरा

जो कुछ भी होता है

उस सबका कारण 'तू' है।"[1]

इसी कविता में कवि आगे कहता है कि मैं तेरे सत्य और शक्ति को पूरी तरह से जान गया हूँ। तुझे ही नहीं बल्कि तेरे दलालों की कुटिलता और कमीनेपन को भी। कवि कहता है अगर तू कहीं होता तो मैं तुमसे यातना का हिसाब ज़रूर चुकाता।

"अगर सचमुच तू कहीं होता

तो सदियों की

अपनी यातना का हिसाब

मैं उसे जरूर चुकाता।"[2]

अस्वीकार के तहत भगवान, भाग्य, पूर्वजन्म का फ़ल, ईश्वर के अस्तित्व का नकार, दलित कविता की मुख्य प्रवृत्ति रही है। मोहनदास नैमिशराय ने तो ईश्वर के होने पर ही प्रश्न चिह्न लगा दिया है। वे कहते हैं -

"ईश्वर की मौत

उस पल होती है

जब मेरे भीतर उठता है सवाल

ईश्वर का जन्म

किसमाँ की कोख से हुआ है

ईश्वर का बाप कौन?"[3]

दलित ने अगर अपने हिस्से की रोटी माँगी तो उस पर जुल्म किया जाता है। वह अपना हक़ तक

---

[1]. गूँगा नहीं था मैं, जयप्रकाश कर्दम, पृ.31

[2]. गूँगा नहीं था मैं, जयप्रकाश कर्दम, पृ.32

[3].दलित निर्वाचित कविताएँ, कंवल भारती, पृ.160

नहीं माँग सकता। इस पर कवि कहते हैं -

"ओ, हज़ारों साल पुराने देवताओं
मैं नकारता हूँ
तुम्हारे अस्तित्व को
मैं लूडूँगा
अपनी हड्डियों के वज्र से
जिसकी मूठ पर चिपकी हैं
निर्दोष बच्चों की सिसकियाँ
लुटी-पटी स्त्रियों का प्रतिशोध"[1]

अपने हिस्से की रोटी मांगने पर दलित को दबाया गया। तब कोई देवता पसीजा नहीं, न ही कोई आकाशाणी हुई । ईश्वर ने भी अवतार नहीं लिया । इस पर दलित कहता है कि हजारें साल पुराने देवता कहाँ है? मैं उनके अस्तित्व को नकारता हूँ। मैं अपनी हड्डियों के वज्र से ही लडूँगा। मैं प्रतिशोध करूँगा।

दलित आज तक अपने जीवन के लिए संघर्ष करता रहा है। उसके बाद भी उसके साथ न्याय नहीं हो पाया। अब वह उसके ख़िलाफ आवाज़ उठाने लगा है। कवि कहते हैं।

"आँख मिचौली खेलनेका समय नहीं है यह
संभल-सँभलकर कदम रखनेवालेभी
मारे जायेंगे फर्जी मुठभेडों में
या फिर साम्प्रदायिक दंगों में
गंदगी के ढ़ेर में किलबिलाते कीड़ों की तरह
खामोश जीकर भी क्या मिला
होंठों की मुक्त हँसी

[1].अब और नहीं, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.96

और उंगलियों की सहज स्निग्धता
कहाँ गयी
अदम्य साहस और अपरिमित धैर्य
रक्त की गर्मधार बनकर बह गये
बरसाती गंदले पान की तरह
या चिरायँध फैलाकर जल गये
अकस्मात लगी आग में।"[1]

दलित अब चुप नहीं बैठेगा। अब आंख मिचौली खेलने का समय खत्म हो गया। जिंदगी के ढ़ेर में आज तक कीड़ों की तरह खामोश जीकर क्या मिला है? अब यह तय करने का समय आ गया है कि आप छाये में खड़े हैं या धूप में। अर्थात् अब दलित में चेतना आ गयी है।

4.3.2. व्यंग्य :

सवर्णों द्वारा रची गयी रूढ़ि, परंपरा, संस्कृति और सभ्यता, वर्ण-व्यवस्था, उनके शब्दों का खेल और उनकी कूटनीति को खारिज़ करने के लिए दलित कवियों ने व्यंग्य का सहारा लिया है। क्योंकि व्यंग्य ही वह माध्यम है जो समाज में व्याप्त बुराइयों, त्रुटियों, बाह्याडंबरों, मिथ्याचारों और विसंगतियों का पर्दाफाश करता हैं। व्यंग्य का वास्तविक उद्देश्य बुराइयों को दिखलाकर उसका सुधार करना है। जो है और जो होना चाहिए, इकने बीच के अंतराल को लेकर दलित कवि हमेशा चिंतित रहता है। ओमप्रकाश वाल्मीकि इस बात की अभिव्यक्ति अपनी 'ठाकुर का कुआँ' शीर्षक कविता में व्यंग्य के माध्यम से कहते हैं -

"बैल ठाकुर का
हल ठाकुर का
हल की मूठ पर हथेली अपनी

[1]. अब और नहीं.., ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.104

फसल ठाकुर की।"[1]

वर्ण-व्यवस्था के कारण जो व्यक्ति जिस जाति में जन्म लेता है उसकी जाति भी वही हो जाती है। दलित का बेटा कितना हि बुद्धिमान हो, समझदार हो, वह दलित हि कहलाएगा। वही दूसरी ओर ब्राह्मण का बेटा कितना ही निर्बुद्धि क्यों न हो वह ब्राह्मण ही कहलाएगा। दोनों ही आखिर मनुष्य जाति से पैदा हुए हैं पर दोनों में ज़मीन आसमान का फर्क हैं। इस विडंबना का चित्रण ओमप्रकाश वाल्मीकि अपनी 'वह दिन कब आयेगा' शीर्षक कविता में व्यंग्य द्वारा प्रकट करते हैं-

"मेरी माँ ने जने सब अछूत ही अछूत
तुम्हारी माँ ने सब बामन ही बामन
कितने ताज्जुब की बात है
जबकि प्रजनन क्रिया एक ही जैसी है।"[2]

भारतीय संस्कृति में गुरु को ईश्वर के समान देखा जाता है बल्कि उससे भी अधिक। वह गुरु प्रगति, समता और आपस में भाईचारा बढ़ाने का पाठ पढ़ाता है किंतु इस रास्ते पर खुद नहीं चल पाता। दलित विद्यार्थियों के प्रति उनकी देखने की दृष्टि सवर्ण विद्यार्थियों को देखने की दृष्टि से भिन्न होती है। ऐसे शिक्षक पर जयप्रकाश कर्दम जी अपनी 'वर्णवाद का पहाड़' शीर्षक कवित में व्यंग्य करते हैं-

"मास्टर जी!
हम शुक्रगुजार हैं कि तुमने
हमें पढ़ाया,
प्रगति का रास्ता दिखाया
लेकिन समता के मार्ग पर तुम

[1]. सदियों का संताप, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.3
[2]. बस्स ! बहुत हो चुका है- ओमप्रकाश वाल्मीकि-पृ-103

खुद नहीं चल पाए।"[1]

4.3.4. आक्रोश-प्रतिशोध :

कुछ दलित कविताओं में आक्रोश-प्रतिशोध और विद्रोह भी दिखायी देता है। यह प्रवृत्ति मानवीय स्वभाव के कारण है, दलित होने के कारण नहीं। ऐसे तो वर्ग-क्रांति के समर्थक लेखकों ने भी पूँजीपति और सरमायदारों के खिलाफ़ प्रतिशोधात्मक साहित्य लिखा है जिसकी चर्चा लोग नहीं करते। पूरा हिंदू शास्त्रीय साहित्य प्रतिशोध और दंडात्मक प्रवृत्तियों से भरा पड़ा है।

युवा दलित कवि वर्तमान व्यवस्था के विरुद्ध आक्रोश और विद्रोह के साथ-साथ अपनी भावनाओं और संवेदनाओं को भी सीधे-सीधे अभिव्यक्त कर देना चाहते हैं। ओमप्रकाश वाल्मीकि अपनी 'ज्वालामुखी' शीर्षक कविता में कहते हैं -

"सदियों से पीड़ित
दलित
मेरा हृदय बन गया है-
ज्वालामुखी
फट पड़ने को लालायित
भीतर ही भीतर
मुझे हिला रहा है।"[2]

दलित चेतना की सबसे पहली शर्त है उसके विरोध का स्वर, पीड़ा की छटपटाहट, आक्रोश का तेवर और उसके साथ ही कहीं उगता हुआ परिवर्तन के लिए एक संकल्प। ओमप्रकाश वाल्मीकि अपनी कविता में लिखते हैं-

"मेरी रगों में
दहकने लगते हैं

---

[1]. गूँगा नहं था मैं, जयप्रकाश कर्दम, पृ.21

[2]. सदियों का संताप - ओमप्रकाश वाल्मीकि-पृ-37

यातना के कई हजार वर्ष एक साथ"[1]

तो वहीं आक्रोश में आकर कहते हैं -

"न जाने किस हरामजादे ने
तुम्हारे गले में
डाल दिया जाति का फंदा
जो न तुम्हें जीने देता है न हमे।"[2]

हिंदुओं का महाभारत हो या देवता और दानव युद्ध, प्रतिशोध पर ही आधारित है। इसलिए इस प्रकार का आरोप सरलीकरण उचित नहीं है। उसकी भावना का सही अर्थ पहचानना होगा-शब्दार्थ नहीं। दरअसल यह उनका आक्रोश है। जब कंवल भारती अपनी 'तब तुम्हारी निष्ठा क्या होती?' शीर्षक कविता में लिखते हैं-

"क्रांति की भाषा सुंदर नहीं होती
जैसे कि अखबार
जो तुम्हें रोज गुदगुदाते हैं
ये बताओ बलात्कार की शिकार
तुम्हारी माँ की भाषा कैसी होगी?"[3]

तो वे प्रतिशोध व्यक्त नहीं करते बल्कि अपनी स्थिति में गैर दलितों को रख कर पूछना चाहते हैं कि तब तुम्हें कैसा लग सकता है? वे उनके विवेक को जगाते हैं ताकि वे भी जुल्म के खिलाफ़ उनकी लड़ाई में शामिल हो और अपने पुरखों के कारनामें पर शर्माएँ।

सदियों से दलितों पर जो अन्याय, अत्याचार होता आ रहा है, उसे चुपचाप सहते रहे। आज दलित

---

[1]. बस्स ! बहुत हो चुका है- ओमप्रकाश वाल्मीकि-पृ-79

[2]. बस्स ! बहुत हो चुका है- ओमप्रकाश वाल्मीकि-पृ-73

[3]. दलित निर्वाचित कविताएँ, कंवल भारती, पृ.208

पछता रहे हैं कि-काश उसी दिन विरोध किया होता या फिर हिंसा का सहारा लिया होता तो यह कब का रुक गया होता। इस अतीत के पछतावे पर अशोक भारती अपनी 'नीच, अछूत, हरिजन न होता' शीर्षक कविता में लिखते हैं-

"धरती को चीरकर सोना उगाने वाले
पत्थरों को तोड़कर सड़कें बनाने वाले
काश तूने उन खोपड़ियों को तोडा होता
जो तेरी गुलामी का मकड़जाला बनती है।"[1]

4.3.5.सामाजिक लोप :

देश में बरसों से दलितों को सामाजिक लोप का सामना करना पड़ रहा है। उनके खाने के लिए झूठन मिलती है, रहने के लिए गाँव से बाहर झोपड़ी, स्कूल जाने की अनुमति नहीं, यदि स्कूल चले भी गये तो वहाँ भी अपमान एवं गालियों की बौछार। सारा जीवन कष्टदायक। इसे ओमप्रकाश वाल्मीकिक इस तरह अपनी 'जो मेरा कभी नहीं हुआ ' कविता में व्यक्त करते हैं-

"यक़ीनन
बहुत मुश्किल है समय
जब चलना है
आगे-पीछे
दायें-बायें
ऊपर-नीचे
अपने आपको बचाकर
जुटानी है रोटी
सीधे चलते हुए

[1]. दलित निर्वाचित कविताएँ, कंवल भारती, पृ.192

बिना किसी शिकवे-शिकायत
और कातर गुहार के
सब कुछ था
मेरे जन्म से पहले भी
और जन्म के बाद भी
लेकिन मैं
उसे अपने पक्ष में
कर लेने में रहा असमर्थ ही।"[1]

दलित को समाज में हर तरह की समस्याओं का सामना करना पड़ा है और कर रहा है। यहाँ तक कि सड़क पर चलते समय भी उसे अपने को बच-बचाकर आगे-पीछे देखकर चलना पड़ता है। दलितों की पीड़ा जन्म के पहले और बाद में भी है।

4.3.6. विद्रोह एवं चेतना :

इतिहास साक्षी है कि सदियों से दलितों पर अत्याचार किये जा रहे हैं। उनके लिए रात और दिन में कोई फर्क नहीं है। दिन-रात मेहनत करना और जूठन से अपना दिन गुजारना उनकी रोज की बात है। मौसम की चपेट में आते। असहाय जीवन व्यतीत करते हैं। किंतु अब दलितों में चेतना आ गयी है। वे भी विद्रोह करने लगे हैं। कवि अपनी कविता 'अँगूठे का निशान' में लिखते हैं-

"थोड़ा-थोड़ा जानने लगा हूँ
टुच्चे लोगों की असलियत
कानफाड़ू शास्त्रीयता
और छद्म शब्द जाल का रहस्य
सच बोलने से नहीं रोक पायेंगे

---

[1]. अब और नहीं..., ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.19

अब शातिर देवता भी

फडफडायेंगे इतिहास पृष्ठ

कहेंगे आओ, दर्ज कर दो

किसी भी पन्ने पर

अपने अंगूठे का निशान!"[1]

दलित पर हो रहे जुल्मों को अब सहन करने का समय बीत गया है। अब उन्होंने विद्रोह का रास्ता अपना लिया है। सवर्णों की असलियत को वे जानने लगे हैं। शास्त्र का नाम बताकर दलित को दबाया जाता है। किंतु अब उनको कोई दबा नहीं सकता। अब वे जाग गये हैं। उनमें चेतना जाग गयी है।

शोषक वर्ग दलित को ऊपर उठने नहीं देता। वह उस पर शासन करना चाहता है। कवि निम्न कविता में कहते हैं-

"वे पसंद नहीं करते

'जाति' पर बात करना

क्योंकि वे नहीं हैं

पासी-चमार

भंगी-महार

जबकि वे हर रोज़ करते हैं

इस्तेमाल

इन जातियों को गाली की तरह।"[2]

शोषक वर्ग जाति पर बात करने से इनकार करते हैं लेकिन जाति को गाली की तरह इस्तेमाल करते हैं। वे यह ढोंग करते हैं कि उनको जाति से कोई मतलब नहीं है। मगर वे जाति को गाली के रूप में इस्तेमाल करने में किसी तरह की हिचक महसूस नहीं करते। उनके लिए यह आम बात है।

---

[1]. अब और नहीं..., ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.25

[2]. अब और नहीं..., आईना, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.13

4.3.7. धर्म ग्रंथों का विरोध :

धर्म ग्रंथों के नाम पर दलित का शोषण किया जा रहा है। मंदिरों में प्रवेश करना निषिद्ध है। पूजा-पाठ निषिद्ध है। पंडे-पंडित उनका शोषण करते हैं। अब दलित उनकी असलियत को पहचान गया है और धर्म ग्रंथों का विरोध करने लगा है। निम्न कविता में इसका उदाहरण देखा जा सकता है-

"मेरी आँखों में बसी दहशत
घृणा में बदल रही है
उन धर्म ग्रंथों के विरुद्ध
जो रास्ते में खड़े हैं
कँटीले झाड़-झंखाड़ की तरह
अवरोधक बनकर
गंदे-जर्जर पन्नों की इबारत
मैं नहीं पढ़ पाया
तुम्हारे पाँव की आहटें
पहचान लेता हूँ अच्छी तरह
अंधेरे में भी
तुम्हें पदाघात सीने को दकराते हैं
नहीं रहने देते सही सलामत
मेरुदंड भी
टीसता है दर्द पसलियों में
एक-एक शब्द का
जिसे रचा है तुमने

मेरे जिस्म पर काले दिनों में।"[1]

दलित अपनी आँखों में बसी दहशत को घृणा में बदल रहे हैं। धर्म ग्रंथों के प्रति दलित चेतनावान हो गया है। सदियों से उस पर धर्म के नाम पर शोषण किया गया है। अब स्थिति बदल गयी है। वह उस शोषण का विरोध करने लगा है।

दलित कविता की धर्म-चेतना में ईश्वर, ब्रह्म और आत्मा के लिए कोई स्थान नहीं है, क्योंकि यह वह दर्शन जाल है, जो दलितों के विकास को अवरुद्ध करती है। उसके विवेक को नष्ट कर उन्हें अंधविश्वासी बनाती है। इसमें धर्म की भावना नहीं है बल्कि दलितों के शोषण के प्रयोजन हैं। डॉ.भीमराव अंबेडकर ने दलितों को इन प्रयोजनों से सावधान किया था और स्पष्ट आह्वान किया था कि- 'जिस धर्म से मनुष्यवत् व्यवहार करने की मनाही हो, वह धर्म न होकर दादागिरी है। जिस धर्म में इन्सान की इन्सानियत परखना अधर्म समझा जाता हो वह धर्म न होकर बीमारी है। जिस धर्म में बंदे जानवरों का छुआ क्षम्य हो किंतु आदमी का छुआ अपराध होता हो वह धर्म न होकर पागलपन है। जो धर्म एक वर्ग को शिक्षा, धर्मसंचय, शस्त्र-औजार रखने पर पाबंदी लगाता हो वह धर्म न होकर मनुष्य जीवन से खिलवाड़ करने का षडयंत्र है। जो धर्म अज्ञानियों को 'अज्ञानी बने रहो' और निर्धनों को 'निर्धन बने रहो' का उपदेश देता हो वह धर्म न होकर जेल है।'

हम सब जानते हैं कि धर्म और धर्म ग्रंथ ही सत्ता का स्त्रोत रहा है। शास्त्रों के अनुसार ही व्यवस्था को चलाया गया है। यही वह धर्मग्रंथ है जिसने मानव को कई वर्गों में बाँटा है (ब्राह्मण, वैश्य, क्षत्रिय और शूद्र) और एक-एक वर्ग को कई जातियों में विभाजित किया गया है। जब कभी दलितों ने सवर्णों के खिलाफ आवाज़ उठायी, तो सवर्ण धर्मशास्त्र का सहारा लेकर कहता है- शास्त्रों में ऐसा ही लिखा है। दलित शिक्षा के प्रभाव से अब सब कुछ समझने लगे हैं। इसीलिए धर्मशास्त्रों का विरोध कर रहे हैं। डॉ. पुरुषोत्तम सत्यप्रेमी अपनी 'कमलकांत पंड्या, सुनों' शीर्षक कविता में सवाल पूछते हैं-

"तुम्हारे धर्म शास्त्र के अनुसार
एक पिता-एक ईश्वर की संतान होकर भी

---

[1]. अब और नहीं..., काले दिनों में, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.28-29

मनुष्य-मनुष्य में भेद क्यों

मनुष्य-मनुष्य का गुलाम क्यों है

मनुष्य-मनुष्य में घृणा क्यों है।"[1]

यही वह धर्मग्रंथ है जिसने करोंड़ों मनुष्यों को दलित और अछूत बनाया है। प्राथमिक सुख-सुविधाओं से वंचित रखकर उनकी बस्ती, गाँव से बाहर, विवाह में बंधन, शिक्षा से दूर रखा गया है। कहा जाता है कि वेदों की रचना स्वयं ब्रह्मा ने की है। वेदों का एक-एक शब्द ब्रह्म के मुख से निकला शब्द है। ऐसे कहने वालों से दलित कवि कहता है कि - अगर तुम्हें सुख-सुविधाओं से दूर रखा होता, तो तुम कभी नहीं कहते कि वेदों की रचना स्वयं ईश्वर ने की है। मोहनदास नैमिशराय अपनी 'झाड़ू और कलम' शीर्षक कविता में कहते हैं-

"तब तुम कदापि नहीं कह सकोगे

कि वेद की रचना ईश्वर ने की है

हाँ किसी भड़वे ने ज़रूर की होगी

हो सकता है वह भड़वा ही ईश्वर बन गया हो

या ईश्वर भड़वा।"[2]

दलित कविता उन धर्म ग्रंथों को जलाने की बात करती है जिससे समाज में असमानता फैली हुई है। उन ग्रंथों का विरोध करती है जो स्वार्थि लोगों द्वारा स्वार्थि लोगों के लिए उनके अनुकूल लिखा गया है। डॉ.पुरुषोत्तम सत्यप्रेमी अपनी 'मेरी भी सुनो' शीर्षक कविता में धर्मग्रंथों और उनका पालन करने वालों पर आक्रोश व्यक्त करते हैं-

"तुम्हारे घर आंगन को आग लगा दूँगा

जलाकर तुम्हारे पोथी-पानों को

---

[1]. मूक माटी की मुखरता, डॉ.पुरुषोत्तम सत्यप्रेमी, 56

[2]. बीसवी सदी की हिन्दी दलित कविता, रमेशचन्द्र चतुर्वेदी, पृ.164

लिजलिजा मिट्टी का लौंदा बना दूँगा।"[1]

जयप्रकाश कर्दम अपनी 'धर्म ग्रंथों में आग लगानी होगी' शीर्षक कविता में कहते हैं-

"मक्कार है वे लोग
जो कहते हैं कि
वर्णव्यवस्था
अप्रासंगिक हो चुकी है
जब तक स्मृतियाँ रहेंगी
रामायण, गीता, वेद रहेंगे
तब तक वर्णशुचिता रहेगी
अस्पृश्यता रहेगी
जातिवाद रहेगा
समाज को प्रगतिशील बनाना है
जाति के जहरक को मिटाना है, तो
इन तथाकथित धर्मग्रंथों को आग लगानी होगी।"[2]

4.3.8. दलित - श्रेष्ठता :

सवर्ण अपने को श्रेष्ठ मानता है और दलित को वह हीन दृष्टि से देखता है। वह अपने को ब्रह्मा के मुख से जन्मा मानता है। इसी का संदर्भ देते हुए ओमप्रकाश वाल्मीकि अपनी 'स्याही से रँगे शब्द' कविता में लिखते हैं-

"एक रोज़ मैंने भी
जुटायी हिम्मत

[1]. मूक माटी की मुखरता, डॉ.पुरुषोत्तम सत्यप्रेमी, 76
[2]. गूँगा नहीं था मैं, जयप्रकाश कर्दम, पृ.66

और पूछ लिया उससे

वही सवाल

देखा उसने मेरी ओर

बोला, 'मैं जन्मा हूँ ब्रह्मा के मुख से'

इसीलिए श्रेष्ठ हूँ।"[1]

सवर्ण सबसे पहले जाति पूछता है। जाति के अनुसार वह सामने वाले को इज्जत देता है। दलित को सामने वाले की जाति पूछने का भी हक नहीं है। किसी तरह हिम्मत जुटाकर यदि वह सवर्ण की जाति पूछ बैठता है तो सवर्ण का उत्तर होता है- मैं जन्मा हूँ ब्रह्मा के मुख से। मनुष्य का जन्म तो माँ के गर्भ से होता है। फिर वह ब्रह्मा के मुख से कैसे जन्म ले सकता है? यह प्रशन हमेशा दलित के दिमाग में घूमता है। सवर्ण अपने को श्रेष्ठ समझता है किंतु सबका जन्म माँ की कोख से ही होता है। फिर वह श्रेष्ठ कैसे हुआ?

4.4. ओमप्रकाश वाल्मीकि की कविताओं में राजनीतिक चित्रण :

1947 में मिली आजादी वास्तव में आज के उन करोड़ों भूखी, नंगी जनता की आजादी नहीं थी, वास्तव में इसे एक तरह से पुरानी सामंती व्यवस्था का कायाकल्प माना गया है। राजसत्ता में काबिज वर्ग और कोई नहीं बल्कि ये भूस्वामी एवं पूँजीपति ही थे। इस विषय को यदि कुँवरपाल सिंह की भाषा में कहा जाए तो 'इस नए उभरे वर्ग में भूस्वामियों और पूँजीपति दोनों के सम्मिलित गुण दृष्टिगोचर होते हैं। जिसमें पुराने जमींदार की कुटिलता और पूँजीपति वर्ग की चतुराई एवं निर्ममता का सम्मिश्रण है। आज काम निकालने में सिद्धहस्त यह वर्ग देश की राजनीति और सम-सामाजिक जीवन को प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित कर रही है।'

देश में जाति विरोधी संघर्षवादी आन्दोलन के आधुनिक युगीन सूत्रधारों में डॉ. भीमराव अम्बेडकर

---

[1]. अब और नहीं.... श्रेष्ठ, ओमप्रकाश वाल्मीकि-पृ.69

का नाम अग्रगण्य है। वे अछूतों के हितों के लिए अथक संघर्ष चलाने वाले महान योद्धा, दलितों के सच्चे हितैशी, दलित आन्दोलन के सशक्त मार्गदर्शक थे। वे जातीय उत्पीड़कों के शोषण के भुक्त भोगी थे। उन्होंने दलित जनों के उत्पीड़न को अत्यन्त निकट से देखा और स्वयं भी प्रत्यक्ष अनुभव किया। उनकी दर्द-पीड़ा को जितना ड़ॉ. अम्बेडकर समझते थे उतना अन्य जन नहीं समझ सकते हैं।

डॉ.बाबा साहेब ने समाज-राष्ट्र और नेताओं को इस बात का अहसास करने का प्रयास किया कि 'दलितपन भारत के लिए कलंक है। जब तक दलितों का शोषण होता रहेगा, तब तक उनका अपमान किया जाता रहेगा, उनसे छूआछूत बढ़ती जाएगी, जब तक उनको मानवीय हक नहीं दिए जाएँगे, तब तक उनके साथ मनुष्यवत समानता का व्यवहार नहीं किया जाएगा और आत्मसम्मान और आत्मनिर्भरता का जीवन प्राप्त नहीं होगा, तब तक वे समाज की मुख्यधारा से नहीं बच सकते। और जब तक दलित वर्ग समाज की मुख्यधारा से नहीं जुड़ता तब तक देश और प्रगति असम्भव व क्षीण ही रहेगी।' वस्तुतः डॉ.बाबा साहेब अम्बेडकर दलितों को सर्वप्रथम समाज में स्थान दिलाना चाहते थे, स्पर्श ही अछूत समस्या मात्र सामाजिक समस्या नहीं थी, बल्कि राजनीतिक और आर्थिक भी थी। डॉ.बाबा साहेब ने दलितों को केवल सामाजिक न्याय ही नहीं दिलाया बल्कि राजनीतिक क्षेत्र में भी सक्रिय किया। उन्होंने दलित समाज को राजनीतिक दृष्टि से संगठित करने व उनमें अपने अधिकारों के लिए लड़ने का साहस पैदा किया।

डॉ.अम्बेडकर के कार्य में न केवल प्रगतिशीलता थी, बल्कि उनके विचारों में क्रान्तिकारी स्फुटन भी था। उनका कथन था कि - 'मनुष्य इस संसार में जन्म के आधार पर या पूर्व कर्मों के अनुसार सबकुछ प्राप्त करता है। हमें इस कर्म सिद्धांत को त्याग देना चाहिए। माता-पिता अपने बच्चे का भविष्य-उज्ज्वल बना सकते हैं, यदि हम इस सिद्धान्त पर चलेंगे तो शीघ्र ही शुभ दिन देख सकते हैं।' स्वातन्त्रोत्तर राजनैतिक व्यवस्था जनता का, विशेषकर दलित का अधिक से अधिक शोषण कर रही है। भारत की जनता का शोषित होना कोई नई बात नहीं है, पहले विदेशी शोषण करते रहे अब अपने ही तथाकथित नेता करते हैं। फर्क यह है कि अब उसका रूप बदल गया है, अब राजनीति अपनी विकृत दशा में पहुँच चुकी है, तथा समाज का प्रत्येक अंग आज दुखी है, त्रस्त है, परेशान है।

4.4.1. घृणा और प्रेम :

घृणा के कारण ही सभी वर्ग एक साथ मिलकर देश के लिए लड़ नहीं पाए। आज भी आख़बारों में देखते हैं कि रोज कहीं न कहीं दलित पीटे जा रहे हैं, दलित स्त्री पर बलात्कार किया जा रहा है। ताज्जुब की बात तो यह है कि दलित स्त्रियों से ज्यादा सुंदर, आकर्षक और सजी-धजी तो गैर दलित स्त्रियाँ होती हैं क्योंकि खुद को मेंटेन करने के लिए और सुंदर दिखने के लिए आभूषण और सौंदर्य प्रधान वस्तुएँ चाहिए और इसके लिए चाहिए पैसा। दलितों के पास यह सारी चीज़ें नहीं हैं। फिर भी दलित स्त्रियों पर ही ज्यादा बलात्कार की घटनाएँ सुनने और पढ़ने को मिलती हैं। कहने की ज़रूरत नहीं कि शरीर की सुंदरता और उसकी सेक्स अपील या वासना की आग ही बलात्कार का कारण नहीं होती बल्कि किसी व्यक्ति या समाज की कमर तोड़ने, उसे सबक सिखाने के लिए भी उनकी स्त्रियों के साथ बलात्कार किये जाते हैं। यह घृणा नहीं है तो क्या है? आज भी किसी प्रशासन व्यवस्था में चपरासी सवर्ण को पानी पिलाने के लिए कतराता है तो इसका कारण भी घृणा ही है। सवर्ण दलितों से इतनी घृणा करते हैं कि दलित स्वर्ग में भी नहीं जाना चाहता, क्योंकि उसे डर है कि कहीं वहाँ भी जाति पहचान कर घृणा न करने लगे। ओमप्रकाश वाल्मीकि अपनी 'जाति' शीर्षक कविता में कहते हैं-

"स्वीकार्य नहीं मुझे
जाना,
मृत्यु के बाद
तुम्हारे स्वर्ग में।
वहाँ भी तुम
पचानोगे मुझे
मेरी जाति से ही।"[1]

दलित सवर्णों से कहते हैं कि जिस घृणा के कारण उन्होंने बरसों से असहाय वेदना और पीड़ा को

[1]. बस्स ! बहुत हो चुका है- ओमप्रकाश वाल्मीकि-पृ-78

सहन किया है। उस घृणा का स्वाद सवर्ण एक बार चख के देखे। तभी तो पता चलेगा कि घृणा क्या होती है? घृणा मानव को कैसे मार और तोड़ सकती है ? यह ओमप्रकाश वाल्मीकि ने अपनी 'घृणा तुम्हें मार सकती है' शीर्षक कविता में कहा है-

"घृणा तुम्हें मार सकती है
तोड़ सकती है
पर अपने ही दायरे में
जिंदा नहीं रख सकती
ताजा हवा देकर।"[1]

सबसे पहले दलित अगर किसी बात से दुःखी है तो यह कि उन्हें कभी मनुष्य समझा ही नहीं गया। दलित सवर्णों से कहते हैं कि अगर उन्होंने प्रेम से देखा होता, प्रेम का स्पर्श भी किया होता तो उनके सीने से नहीं लिपट जाते थे। बल्कि उनके कदमों में बिछ जाते थे धूल बनकर। वैसे तो आज भी सवर्णों के कदमों में ही बिछे हैं फर्क सिर्फ इतना है कि प्रेम की आसक्ति पर नहीं बल्कि सवर्णों से डरकर। ओमप्रकाश वाल्मीकि अपनी 'भय' कविता में लिखते हैं-

"तुम्हारे हाथ बढ़े होते
मेरी ओर
मैं सीने से नहीं
लिपट जाता तुम्हारे कदमों से
बिछ जाता
धूल बनकर जमीन पर।"[2]

दलितों को सदियों से अछूत और अपवित्र माना गया है। घृणा के कारण ही दलितों पर अन्याय,

---

[1]. बस्स ! बहुत हो चुका है- ओमप्रकाश वाल्मीकि-पृ-31

[2]. बस्स ! बहुत हो चुका है- ओमप्रकाश वाल्मीकि-पृ-90

अत्याचार करते आ रहे हैं। सी.वी.भारती अपनी 'घृणा' शीर्षक कविता में इसे चित्रित करती है-

"तुमने सौंपी है घृणा
अपने बच्चों को
मिली थी तुम्हें जो विरासत में
तुम्हारे बाप दादाओं से।"[1]

देश को आजाद होकर कई साल हो गए हैं फिर भी दलितों के प्रति उनमें जो घृणा है वह कम नहीं हुई है। वह घृणा लावा बनकर बाहर निकल रही है। संविधान में दलित पिछड़े वर्गों को सवर्णों के बराबर आने के लिए आरक्षण दिया गया है। आज भी आरक्षण के कई हजारों पद रिक्त हैं, जिन्हें नहीं भरा जा रहा है। सवर्णों में दलितों के प्रति कितनी घृणा है इस, बात से समझ में आ जाती है। डॉ. पुरुषोत्तम सत्यप्रेमी अपनी 'घृणा की आग' शीर्षक कविता में कहते हैं-

"आजादी के बाद भी वह लावा बनकर बह निकली
प्रतिभा-योग्यता की जबान भी लगती हमें अब फीसली-फीसली।
इसलिए आरक्षण का विरोध करते हो
खाली पड़े हज़ारों पदों को नहीं भरते हो।"[2]

4.4.2. प्रजातंत्र :

स्वतंत्रता, समता, बंधुता और राष्ट्रीय प्रेम किसी भी देश की उन्नति के लिए अनिवार्य घटक है। इन घटकों के बिना कोई भी देश उन्नति नहीं कर सकता। दलित कवि इन सब पर सोच-विचार करता है तभी तो प्रजातंत्र, स्वतंत्र, समता आदि जैसे घटकों को अपनी कविता का विषय बनाता है। क्योंकि यह घटक दलितों

[1]. दलित निर्वाचित कविताएँ, जयप्रकाश कर्दम, पृ.87
[2]. मूक माटी की मुखरता, डॉ.पुरुषोत्तम सत्यप्रेमी, 66

से भी जुड़ा हुआ है।

4.4.2.1. आज़ादी :

देश आजाद होकर 64 साल हो गए हैं, किंतु दलितों के जीवन में उतना परिवर्तन नहीं आया जितना आना चाहिए था। आज़ादी के समय सब देशवासियों में आशा बंधी थी कि आज़ाद देश में सबके साथ न्याय होगा। देश और मनुष्य के सर्वांगीण विकास के लिए प्रयत्न किया जाएगा, किंतु हुआ इसके विपरीत। कुर्सियों पर बैठते ही नेताओं की नियति बदल गयी और वे अपना असली रूप दिखाने लगे। भारत देश को आज़ादी मिली है किंतु दलित आज भी आज़ाद नहीं हैं। पहले अंग्रेज़ों की गुलामी करते थे अब देश के सवर्णों की गुलामी कर रहे हैं। मैला कमाना, बेगार करना, चाकरी करना आज भी दलितों के हिस्से में हैं। कितने दलित आज भूख से मर रहे हैं। आज़ादी पर मलखान सिंह अपनी 'मुझे गुस्सा आता है' शीर्षक कविता में लिखते हैं -

"आज
आज़ादी की आधी सदी के बाद भी
हम गुलाम हैं
पैदायशी गुलाम जिनका धर्म चाकरी है
और बेअदबी पर
कंटीले डण्डे की चोट
थूथड़ पर खाना है या
भूखा मरना है।"[1]

आज भी कई दलितों को रोटी, कपड़ा और मकान उपलब्ध नहीं है, जो जीवन जीने के लिए आवश्यक महत्वपूर्ण प्राथमिक सुविधाएँ है। चातुर्वर्ण के हिसाब से जो चार वर्ण हैं, उनमें से तीनों के पास बहुत कुछ है तो एक के पास कुछ भी नहीं है। तीन आदमी देश के प्रथम दर्जों के नागरिक कहलाते हैं तो चौथा दोय्यम

[1]. दलित निर्वाचित कविताएँ, कंवल भारत, पृ.106

दर्जे का नागरिक। अब सवाल उठता है कि यह कैसी आज़ादी है? इसका चित्रण नवेन्दु महार्षि अपनी 'शूद्र आदी' शीर्षक कविता में कहते हैं-

"तीन आदमियों के आगे
भोजन की थाली है
चौथे के आगे
थाली खाली है
मेरे देश की आज़ादी
सिरफिरी है।"[1]

4.4.2.2. लोकतंत्र :

लोकतंत्र यह एक सबसे अच्छी व्यवस्था है, किंतु यह व्यवस्था उसी देश में पूर्णरूपेण सफ़ल हो सकती है जहाँ सब शिक्षित और ज्ञानी हो। हमारे देश में अशिक्षितों की संख्या अधिक है और उसमें भी दलितों की मात्रा अधिक है। ऐसे बहुत सारे दलित दिखायी देंगे जिन्हें किसी भी विचारधारा और अपने देश के संविधान की जानकारी बिल्कुल नहीं है। प्रजातंत्र से तात्पर्य है कि लोगों ने लोगों द्वारा लोगों के लिए चलायी गयी शासन व्यवस्था। वास्तविकता में ऐसा नहीं होता है। हम देखते हैं कि लोकतंत्र में किसी भी उम्मीदवार को चुनकर शासन सभा तक भेज सकते हैं किंतु वह सही ढंग से काम न करे तो उसे वापस तो नहीं खींच सकता। यह प्रजातंत्र कुछ वर्गों के सिवाय शेष दलितों के लिए एक गली जैसी है। इसका चित्रण नवेंदु महार्षि अपनी 'अंग्रेजों के दासत्व से मुक्ति' शीर्षक अपनी कविता में कहते हैं-

"तुम्हारे सिवाय
शेष दलितों के लिए
आजादी एक गाली है
इस लोकतंत्र का

---

[1]. दलित निर्वाचित कविताएँ, कंवल भारती, पृ.163

चरित्र बदलना होगा

क्योंकि यह लोकतंत्र जाली है।"[1]

इस आज़ाद देश में आज भी इतनी गरीबी है कि दिन भर सड़कों पर स्थित हाथगाड़ी पर चाय बेचने वाले रात होते ही वह हाथगाड़ी झोंपड़ी में बदल जाती है। मैला ढोने वाले और झाड़ू मारने वालों की वही परंपरा जारी है। उनके पूर्वजों ने वही काम किया था, आज भी उनकी पीढ़ी कर रही है। दूसरी ओर शहरों और राजधानी में गणतंत्र दिवस मना रहे हैं। दलितों के लिए लोकतंत्र किस तरह गाली बन गयी है ओमप्रकाश वाल्मीकि अपनी 'झाड़ूवाली' शीर्षक कविता में बताते हैं -

"जब तक रामसेरी के हाथ में

खडांग-खांग घिसटती लौह गाड़ी है

मेरे देश का लोकतंत्र

एक गाली है।"[2]

4.5. ओमप्रकाश वाल्मीकि की कविताओं में सांस्कृतिक चित्रण :

संस्कृति शब्द सरल रूप से देखा जाए तो कम ही बोलने में आता है, ज्यादा से ज्यादा किसी न किसी विशेषण के साथ जुड़ा रहता है। कभी किसी देश के नाम के साथ कभी युग के साथ तो कभी जाति विशेष के साथ जुड़ा होता है।

प्रत्येक राष्ट्र में दलित की कई जातियाँ-उपजातियाँ वास करती हैं। जाहिर है कि इन सभी जातियों-उपजातियों की अपनी एक संस्कृति है, तथा प्रत्येक जाति को अपनी संस्कृति के प्रति अगाध श्रद्धा रखनी है। इसी कारण वे अपने रीत-रिवाजों का पालन करते हैं, वे अपने-अपने त्यौहारों को मानते हैं, तथा अपने सास्कृतिक अनुष्ठानों का पालन भी करते हैं। इससे वे प्रसन्न रहने की कोशिश करते हैं। इस प्रकार की बातों का हर जाति को विश्वास करना चाहिए, तथा ऐसी संस्कृति का सम्मान भी करना चाहिए।

---

[1]. दलित निर्वाचित कविताएँ, कंवल भारती, पृ.159

[2]. सदियों का संताप, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.17

संस्कृति किसी भी समाज की अमूल्य धरोहर है। इसके कारण मानव अनवरत रूप से प्रगति के पथ पर अग्रसर होता है। हावेल ने कहा है कि-"संस्कृत अनोखे रूप में एक मानव संघटना है। संस्कृति के आधार पर ही एक समाज दूसरे समाज से भिन्न कहा जाता है। अनेक विश्वासों, व्यवहारों के तरीके, विचारों, आदर्शों व वस्तुओं आदि का निर्माण संस्कृति के आधार पर दो भागों में विभाजित रहा है। एक ओर वह संस्कृति है, जिसमें परम्परागत अशिक्षित व सरल जीवन व्यतीत करने वाले व्यक्ति देखे जा सकते है, और दूसरी ओर उन व्यक्तियों की संस्कृति है, जिसमें उच्चस्तरीय, उन्नत पर्यावरण युक्त शिक्षित व्यक्ति आते हैं। प्रथम प्रकार की संस्कृति लोक संस्कृति है, जो दूसरी नगरीय-संस्कृति से पूर्णतया भिन्न है।"[1] दोनों संस्कृतियों में रहन-सहन, आचार-विचार, शिक्षा, मूल्य, विश्वास व्यवहार के तरीके आदि में प्रत्यक्ष रूप से भिन्नता देख सकते हैं। दलित-संस्कृति का निर्माण दलित समाज द्वारा किया जा सकता है, जिनमें अच्छे आचारों को दलित समाज द्वारा किया जाता है। दलित आचारों से युक्त दलित-संस्कृति को उन समाजों में बहुतायत के रूप में देखा जा सकता जिसमें शिक्षा का प्रायः अभाव रहता है।

दलित संस्कृति के इस रूप का बड़ा ही सजीव एवं यथार्थ रूप हम देख सकते हैं। निर्धनता एवं शोषण के कारण खस्ताहाल जिन्दगी उनके जीवन की शैली बन गई है। उनकी अपनी शैली के अन्तर्गत अनेक रीत-रिवाज, खान-पान, वेश-भूषा के मामले में दरिद्र हैं, पर वहीं दलित आचार-व्यवहार के विषय में उतने ही धनी हैं। भले वे अधिकतर गरीब हैं, पर उनमें एक बात खासियत के रूप में देखी जा सकती है, और वह है मानवीयता। आज अगर कहीं मानवीयता के गुण जीवित हैं, तो वह हम दलितों में देख सकते हैं। आज के इस आधुनिक युग में भी हम दलितों की सरलता को देख सकते हैं, उदाहरण के लिए हम अगर उनके घरों को लें, चाहे वे शहरों में हों गाँवों में, हर स्थान पर उनके घर अत्यन्त ही साधारण होते हैं। आज भी वे लोग झुग्गी-झोपडियों में अपना जीवनयापन करते हैं। वे बड़े बदहाली से रहते हैं। उनकी बस्तियों की दशा भी अत्यन्त साधारण होती है, वे दिन भर काम करते हैं, और शाम को अपने घास-फूस से बने घर में आकर विश्राम करते हैं। उनकी बस्ती का चाहे प्रधान ही क्यों न हो, वह अत्यन्त ही सरल जीवन यापन करता है,

[1].ग्रामीण समाजशास्त्र, वीरेन्द्र प्रकाश शर्मा, पृ.438

सम्पत्ति के नाम पर उसके पास दस-पन्द्रह सूअर हो सकते हैं, और घर में एक छोटा सा टेप हो सकता है, जिसे सुनकर वे काफी खुश तथा मस्त रहते हैं। वे सैर-सपाटे, घूमने-फिरने तथा एक पक्के मकान के बारे में कल्पना भी नहीं करते। वे सन्तुष्ट रहते हैं, और यही उनकी शक्ति भी है। वे अपने घरों पर गर्व करते हैं। सवर्णों की तरह वे दूसरों के पेट पर लात नहीं मारते। हमेशा दूसरा की भलाई के बारे में सोचते हैं, पर किसी की बुराई करना नहीं जानते, आज तक उन्होंने भलाई को ही अपना श्रेष्ठ कर्तव्य मानकर जीवन का निर्वाह किया हैं।

4.5.1. परंपरा, संस्कृति और सभ्यता का विरोध :

अगर देखा जाए तो शिष्ट साहित्य ने या बीसवीं सदी के साहित्य ने भी पुराने मुहावरे- उस भारतीय मानसिकता के पुराने मिथक अपनाकर भारतीय संस्कृति को पुराने मापदंडों के अनुरूप ही अपने को ढाला था। भारतीय मानसिकता को सामाजिक स्तर पर बदलने के बजाए वे स्वयं ही कुछ हद तक उसका अंग हो गए। वे इस सच्चाई को नहीं उजागर कर सके कि भारतीय मानसिकता की मानवीयता केवल कुछ जातियों और वर्गों के संदर्भ में ही रही है। भारतीय संस्कृति का भी अर्थ रहा है, दलित पिछडे जो केवल सवर्णों की सेवा करने को अभिशप्त को छोड़कर मुट्ठी भर सवर्णों की सुविधा, सुख, ऐय्याशी, वैभव के लिए रची गयी संस्कृति। यह संस्कृति सबकी न होकर कुछ ही वर्गों की हो गई।

ओमप्रकाश वाल्मीकि अपनी 'सत्य की परिभाषा' शीर्षक कविता में कहते हैं-

"कैद कर रखा है तुमने तहखानों में
संस्कृति को
मैं पूछता हूँ
संस्कृति क्या तुम्हारी रखैल है"[1]

यज्ञों में पशुओं की बलि चढ़ाई जाती है और दूसरी ओर अपनी संस्कृति को, रूढ़ि परंपरा को श्रेष्ठ

[1]. बस्स ! बहुत हो चुका है- ओमप्रकाश वाल्मीकि-पृ-102

कहते हैं। इस पर व्यंग्य करते हुए ओमप्रकाश वाल्मीकि अपनी 'शायद आप जानते हो' शीर्षक कविता में पूछते हैं-

"यज्ञों में पशुओं की बलि चढाना
किस संस्कृति के प्रतीक हैं
मैं नहीं जानता
शायद आप जानते हैं।"[1]

दलित कवि परंपरा का विरोध करता है, क्योंकि आज तक जो परंपरा चलती आ रही है वह दलितों के लिए ठीक नहीं है। कट्टरपंथी हिंदुओं द्वारा दलितों को हज़ारों वर्षों से निरंतर प्रताड़ित करना, उनका आर्थिक एवं सामाजिक शोषण करना, उनके साथ अस्पृश्यता का व्यवहार करने की परंपरा रही है। भले ही आज बीसवीं सदी में प्रवेश कर चुके हो किंतु आज भी कई दलित शम्बूकों की गर्दन काटी जा रही है। इसे रोकने के लिए कोई भी सवर्ण स्वीकार नहीं करता। डॉ. जयप्रकाश कर्दम अपनी 'मेरे अधिकार कहाँ हैं' शीर्षक कविता में कहते हैं-

"सदियों से शम्बूकों की
गर्दन कटने की परंपरा
इस देश-धरा से उठ जाए
इस आशय का स्वीकार कहाँ है?"[2]

दलित को हमेशा जात के नाम से गाली दी जाती। मारा-पीटा जाता है। उसके बाद भी सवर्णों के सारे काम करवाये जाते हैं। इस पर ओमप्रकाश वाल्मीकि कहते हैं-

"आदि सभ्यता के वंशज आप
धर्म-कर्म-यज्ञ-ध्यान में अग्रणी

---

[1]. बस्स ! बहुत हो चुका है- ओमप्रकाश वाल्मीकि-पृ-12
[2]. गूँगा नहीं था मैं, जयप्रकाश कर्दम, पृ.42

लिखा है आपकी पुस्तकों में।
बात-बेबात किया अबे-तूबे
नाहक पीटा, मारा
लूटा-खसोटा आपने।
हम जोत रहे थे खेत
सिल रहे थे फटे जूते
बुहार रहे थे सडक
घर-आँगन आपके
झुके-झुके हो गयी थी
कमर टेढ़ी हमारी।"[1]

दलित को बेबात पर मारा-पीटा जाता है। अबे-तुबे से संबोधित किया जाता है। वह सवर्णों के खेत जोतता है, फटे जूते सीता है, सड़क, घर-आंगन बुहारता है। ऐसे सभी काम करके उसकी कमर टेढ़ी हो जाती है। उसके बाद भी उसे अछूत मानकर, नीच जाति बताकर उसकी उपेक्षा की जाती है। दलित पूछता है कि क्या आप बता सकते हैं कि यह किस सभ्यता और संस्कृति की देन है?

निष्कर्ष :

ओमप्रकाश वाल्मीकि की कविताओं में भावानुकलता है और शब्द तथा भावना को एकीकार कर सकने की दुर्धर्ष जिजीविषा। वाल्मीकि जी की प्रत्येक कविता सामाजिक परिवर्तन की जिजीविषा को सशक्त अभिव्यक्ति देती है। इनकी कविताओं में बड़ी आग है। आग चूल्हे की हो या कविता की, ऊष्मा ही नहीं ऊर्जा भी देती है। और दलितों की सदियों की संतप्तता को उसकी तिक्तता के साथ कभी सीधे और कभी प्रतीकात्मक रूप से संप्रेषित करती हैं। सामाजिक सरोकारों की एक श्रृंखला इनकी कविताओं में अभिव्यक्त हुई है।

---

[1]. अब और नहीं..., ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.92

ओमप्रकाश वाल्मीकि ने प्रकृति को भी अपनी कविता का विषय बनाया है। प्रकृति के माध्यम से अपनी पीड़ा, दुःख, दर्द और भावों को व्यक्त किया है। कहीं-कहीं पर प्रकृति को बिम्ब के रूप में प्रयोग प्रयोग किया है। वर्ण व्यवस्था के कारण ही मनुष्य-मनुष्य में भेद हैं यही नहीं बल्कि सवर्ण दलितों को मनुष्य मानने केलिए भी तैयार नहीं है। दलित जिस किसी वस्तु को बनाता है वह सवर्णों के घर में पहुँचने तक कोई समस्या नहीं होती किन्तु वह वस्तु घर में जाते ही पवित्र हो जाती है। तभी तो इसे छुओ मत, उसे छुओ मत कहा जाता है।

ओमप्रकाश वाल्मीकि ने व्यंग्य का भी सहारा लेकर समाज में व्याप्त बुराइयों, त्रुटियों, बाह्यडंबर, मिथ्याचार और विसंगति का पर्दाफाश किया है। सवर्ण घृणा के कारण ही दलितों पर अन्याय, अत्याचार करते आ रहे हैं। वाल्मीकि ने अपनी कविताओं में वर्तमान व्यवस्था के विरूद्ध आक्रोश और संवेदनाओं को भी सीधे-सीधे अभिव्यक्त किया है।

वाल्मीकि जी ने अपनी कविताओं में ऐतिहासिक सन्दर्भों को वर्तमान से जोड़ मिथकों को नए अर्थों में प्रस्तुत किया है। दलित कविता में पारम्परिक प्रतीकों, मिथकों को नए अर्थ और सन्दर्भो से जोड़कर देखे जाने की प्रवृत्ति दिखाई देती है, जो दलित कविता की विशिष्ट पहचान बनाती है। 'किष्किंध' शीर्षक कविता में 'बाली' का आक्रोश दलित कवि के आक्रोश में रूपान्तरित होकर कविता के एक विशिष्ट और प्रभावशाली आयाम को स्थापित करता है- 'मेरा अँधेरा तब्दील हो रहा है कविताओं में/याद आ रही है मुझे/बाली की गुफ़ा/और उसका क्रोध।

ओमप्रकाश वाल्मीकि की कविताओं का यथार्थ गहरे भावबोध के साथ सामाजिक शोषण के विभिन्न आयामों से टकराता है और मानवीय मूल्यों की पक्षधरता में खड़ा दिखाई देता है। वाल्मीकि जी की प्रवाहमयी भावाभिव्यक्ति इन कविताओं को विशिष्ट और बहुआयामी बनाती है।

*****

पंचम अध्याय

हिन्दी का दलित साहित्य और ओमप्रकाश वाल्मीकि का अन्य साहित्य

प्रस्तावना :

5.1.दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र - नये सौन्दर्यशास्त्र की तलाश

5.2.सफाई-देवता -भंगी या वाल्मीकि समाज की वास्तविक स्थिति

5.3.मुख्यधारा और दलित साहित्य - अस्मिता की तलाश

निष्कर्ष

पंचम अध्याय

हिन्दी का दलित साहित्य और ओमप्रकाश वाल्मीकि का अन्य साहित्य

प्रस्तावना :

समानता, स्वतंत्रता, बंधुत्व और न्याय-इन जीवन-मूल्यों को दलित साहित्य के सौंदर्य तत्व का केन्द्र माना जा सकता है। स्वतंत्रता, समानता और न्याय आदि ऐसे मूल्य हैं जिनकी ओर मनुष्य अनायास ही आकृष्ट होता है और यह अकारण नहीं है कि मानवता के इतिहास में लाखों-करोड़ों लोगों ने इसके लिए कुर्बानियाँ दी हैं। दरअसल समता, स्वतंत्रता, न्याय और प्रेम आदि व्यक्ति और समाज की मलभूत भावनाएँ हैं। यही दलित साहित्य की शक्ति है और सौंदर्य भी।

दलित साहित्य में सपाटबयानी एक सकारात्मक रूप में उपस्थित होती है। दलित साहित्य का मूल उद्देश्य दलित समाज को जागृत करना तथा प्रेरित करना है। जो अशिक्षित, अर्धशिक्षित अथवा नवसाक्षर है। इसलिए दलित साहित्यकार ऐसी भाषा का प्रयोग करता है जिसमें भटकाव या उलझन नहीं हो, एक सरलता और स्पष्टता हो अर्थात वह संप्रेषणीय हो। जो संदेश वह समाज को देना चाहता है वह वहाँ तक उसी रूप में पहुँचे।

आक्रोश और प्रहार अन्य तत्व हैं जिसे दलित साहित्य के सौंदर्य शिल्प में रखा जा सकता है। भारतीय सामाजिक व्यवस्था के अंतर्गत दलितों की जो दशा या स्थिति है उसे लेकर ओमप्रकाश वाल्मीकि बहुत ही क्षुब्ध हैं। पर क्षोभ उनके जीवन और लेखन दोनों ही में दिखाई पड़ता है। लेखन में यही क्षोभ आक्रोश के रूप में ढलकर व्यक्त होता है। वाल्मीकि जी का आक्रोश इस व्यवस्था से है, व्यवस्था की नियन्ताओं से है। इसिलिए ओमप्रकाश वाल्मीकि अपना आक्रोश रचना में व्यक्त करते हुए सीधे प्रहार की मुद्रा अपनाते है। आप व्यवस्था, समाज और साहित्य के षड्यंत्र पर चोट करते है।

5.1.दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र - नये सौन्दर्यशास्त्र की तलाश :

दलित साहित्य के सौन्दर्यशास्त्र का रूप विधान, उसका सीमांकन व आकलन सामान्य सौन्दर्य दृष्टि से सम्भव ही नहीं है। दलितवादी साहित्य विद्रोह का साहित्य है। दलित साहित्य का सौंदर्य वहीं निखरता है, जहाँ सदियों का संताप, जो दलितों ने सहे हैं, वही यथार्थ अभिव्यक्ति पाता है। दलित साहित्य

के सौन्दर्य में काल्पनिक रोमांटिक रंगीनियाँ नहीं है। अपितु घटनाओं का खुरदरापन अपने यथार्थ रूप में प्रस्फुटित होता है।

सामान्य साहित्यकार समाज व विज्ञान की बहिर्गत सौन्दर्य साधना से मुक्त होकर मानव समाज को आन्तरिक जीवन की सौन्दर्य साधना पर आरोपित व आरुढ़ करना चाहता है। उसकी सौन्दर्यवृत्ति में एक काल्पनिक रंगीनी होती है। वह वस्तु के अन्तर्हित सौन्दर्य के अन्वेषण में गतिशील रहता है। जबकि दलित साहित्य का सर्जक सामाजिक सरोकारों से जुड़कर जीवन की विषमताओं, धार्मिक विसंगतियों, शोषण के लिए निर्मित कृत्रिम उपादानों तथा मानव-मानव के मध्य के निर्मित अन्तराल को मापने का प्रयास करता है।

प्राकृतिक उपादानों पर भी वर्ग विशेष के वर्चस्व के विरुद्ध आक्रोश व्यक्त करता है। उसे चांद, नायिका के मुख सदृश नहीं; अपितु भूख से बिलबिलाते व्यक्ति के लिए रोटी के सदृश दिखाई पड़ता है। वह सूरज को देवता नहीं, अपितु समाज क्रान्ति का प्रखर प्रहरी मान कर चित्रण करता है, जिसकी किरणें सभी को एक-सा प्रकाश देने का प्रयास करती है।

दलित साहित्य के सौन्दर्य के परिप्रेक्ष्य में साहित्य के सौन्दर्य का निखार सर्जक के मानसिक अथवा बौद्धिक विकास पर ही अवलम्बित नहीं होता। अपितु यहाँ साहित्य सर्जक स्वयं भी उसी पीड़ा अथवा यातना का भोक्ता होकर ही अभिव्यक्तिगत सौन्दर्य से युक्त साहित्य सृजन का पथानुगामी हो पाता है। उसके लिए पेट भरा होने पर ही चन्द्रमा को देखते ही किसी की याद आने की कल्पना संभव है-

“सुन्दर सा घरौंदा बसा होता गुलमौहर तले,

केवल कंगना खनकते होते,

रोज ही उदित होता चन्द्रमा झरोखे में,

सितारों से परे एक दुनिया होती,

भरे पेट में अजी देखा होता यदि चन्द्रमा,

हम किसी को याद करते।"[1] - **नारायण सुर्वे**

दलित साहित्य में नारी रूप की दीप्ति सुकुमारता, कोमलता, बड़ी-बड़ी आँखों अथवा लाल-गालों से नहीं निखरती अपितु श्रम से निःसृत स्वेदकण ही उसके सौन्दर्य के परिमाप व निर्धारण करते हैं। यहाँ रमणीय ईश्वर व तद्विषयक प्रभामंडित कल्पना नहीं होती और न ही होती है आत्म-विषयक थोथी व झूठी परिकल्पना। इसी संदर्भ को रेखांकित करते हुए डॉ. बी. एल. आत्रेय ने लिखा है कि, "सौन्दर्य का मूल उत्स वासना अथवा कामनाजन्य प्रेम है पर भी प्रश्नचिह्न लगाती है। दलित साहित्य का सौन्दर्य व उसकी सौन्दर्य दृष्टि इन सबके विपरीत अनगढ़, अपेक्षित व सामान्य स्थितियों से इतर व्यवस्थाओं के परिवर्तन के प्रति संवेदनशील व तीक्षण आक्रोश में निहित है।"[2]

दलित साहित्य का सौन्दर्य शास्त्र वाक्यों की रसात्मकता, कलात्मकता व अलंकरण की अपेक्षा कथ्य को महत्व प्रदान करता है। वंचित, उपेक्षित, शोषित व दलित को लेकर की गई साहित्यिक निरर्थक व समाज के लिए अनुपयोगी है। सौन्दर्य के पुरातन मानदंडों को लेकर दलित साहित्य को नकारने की साजिश अब नहीं चलने वाली है। दलित साहित्य काव्यशास्त्रीय पद्धतियों, काव्य-चेतना, मान्यताओं व वर्जनाओं का कोई बन्धन नहीं स्वीकार करता। वह प्राच्य व पाश्चात्य सौन्दर्य निरूपण पद्धतियों को नकारता है।

दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र महान यूनानी विचारक सुकरात के इन विचारों का अनुगामी है - "गोबर से भरी टोकरी भी सुन्दर बन जाती है, यदि वह अपना कुछ उपयोग रखती है। जबकि सुवर्ण ढाल भी असुन्दर है, यदि वह उपयोग की दृष्टि से अपूर्ण है।" सुकरात की इस विचारधारा के अनुसार अधिकतम हिन्दी साहित्य निरर्थक व अनुपयोगी सिद्ध होता है।

दलित साहित्य का सौन्दर्य वहीं निखरता है, जहाँ साहित्यकार धार्मिक रूढियों, सामाजिक अन्याय व विसंगतियों को प्रखर वाणी देता है। उसका प्रस्तुतिकरण जिस सीमा तक सामाजिक व धार्मिक विद्रूपताओं के प्रति घृणा अथवा जुगुप्सा को जागृत करने में सफल होता है, वहीं उसके साहित्यिक सौन्दर्य का निर्धारण करता है।

- दलित साहित्य के सौन्दर्य का आकलन व परिक्षण इसकी अभिव्यक्तिगत सफलता से

[1] 'दलित साहित्य का सौन्दर्य शास्त्र', सी. बी. भारती, पृ. 88
[2] 'दलित साहित्य का सौन्दर्य शास्त्र', सी. बी. भारती, पृ. 89

ही किया जा सकता है।

- सामाजिक सरोकारों से जुड़ी रचनाधर्मिता व उसके प्रति सक्रिय प्रतिबद्धता ही दलित साहित्य का सौन्दर्य विधान है। दलित साहित्य लेखन दलित अस्मिता की तलाश है।
- वर्ण-व्यवस्था से उपजी अमानवीय त्रासदी से मुक्ति की छटपटाहट ही दलित साहित्य का मूल स्वर है।
- जाति विहीन, वर्गविहीन समाज की संरचना ही इसका मूल प्रतिपाद्य है।
- दलित-पीड़ा को सफल अभिव्यक्ति प्रदान कर दलित साहित्य ने अपने सौन्दर्यशास्त्र की सार्थकता को प्रमाणित कर दिया है।
- उधार की परम्परागत सौन्दर्य दृष्टि से दलित साहित्य में सौन्दर्य निरूपण कठिन ही नहीं, असम्भव भी है।
- परम्परागत बासी पड़ चुके निर्जीव मानदंडों को तोड़कर ही दलित साहित्य ने अपना सौन्दर्यशास्त्र विकसित किया है।

दलित चेतना का आर्विभाव सदियों पुरानी बात है। वेद विरोधी नास्तिक दर्शन व आभिजात्य वर्ग की सामंती भाषा के विरूद्ध जन भाषा पाली, प्राकृत व अपभ्रंश में साहित्य सृजन से ही दलित चेतना का आविर्भाव दृष्टिगोचर होता है।

दलित साहित्य की सौन्दर्य-दृष्टि परम्परागत साहित्यिक दृष्टि से पृथक् है। यह शोषण के मूलाधार ईश्वर के अस्तित्व को ही नकार देती है -

"ईश्वर की मौत,

उस दिन होती है,

जब बनता है कोई मन्दिर या मठ,

जहाँ बैठता है कोई,

ठग,

लुटेरा,

गुमराह करने वाला,

ईश्वर की मौत,

उस दिन होती है,

जब किसी महिला को बनना पड़ता है,

देवदासी,

जाना पड़ता है वेश्यालय।"[1] **- मोहनदास नैमिशराय**

दलित चेतना के उभार व दलितों में आत्मविश्वास संवर्धन के लिए आरोपित लघुता के प्रति सही दृष्टिकोण ही दलित साहित्य को सौन्दर्य प्रदान करता है। दलित साहित्य की पहचान है व्यवस्थाओं के प्रति आक्रोश व विद्रोह का स्वर, पीड़ा की छटपटाहट व आसन्न परिवर्तन के लिए सम्यक संकल्प व समर्पित दृष्टि। इन्हीं सब बातों को ध्यान में रखकर दलित साहित्य के सौन्दर्यशास्त्र का विकास किया जा सकता है।

ओमप्रकाश वाल्मीकि की रचना 'दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र' दलित साहित्य के विभिन्न मुद्दों को उजागर करने वाली आलोचनात्मक कृति है। दलित साहित्यान्दोलन की एक बड़ी कमी को पूरा करती है, और साहित्य के स्थापित तथा वर्चस्वशाली गढ़ों को उन आस्थाओं के बल पर चुनौती देने वाली इस कृति में लेखक ने दलित साहित्य की अवधारणा, दलित साहित्य की प्रासंगिकता, दलित चेतना, दलित पीड़ा की अभिव्यक्ति, दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, दलित साहित्य की वैचारिकता एवं दार्शनिकता, दलित साहित्य की सामाजिक प्रतिबद्धता, दलित साहित्य और राजनीति, दलित साहित्य की आर्थिक मान्यताएँ, दलित साहित्य की शिल्पगत प्रवृत्तियाँ कब तक इन प्रश्नों से बचेगा मार्क्सवाद, हिन्दी समीक्षा और दलित साहित्य, और समकालीन हिन्दी दलित कहानी परिदृश्य आदि विषयों पर तार्किक विश्लेषण प्रस्तुत करती है।

हिन्दी में दलित साहित्य की चर्चा और उस पर उठे विवादों ने हिन्दी साहित्य को ही कटघरे में खड़ा कर दिया है। जहाँ एक ओर हिन्दी साहित्य के मठाधीश, समीक्षक, आलोचक, दलित साहित्य के

[1] 'दलित साहित्य का सौन्दर्य शास्त्र', सी. बी. भारती, पृ. 93

अस्तित्व को ही नकार रहे हैं, वहीं कुछ लोग यह सिद्ध करने का प्रयास भी कर रहे हैं कि दलित साहित्य के लिए दलित होना जरूरी नहीं है। उनका कहना है कि हिन्दी में दलित समस्याओं पर लिखनेवालों की एक लम्बी परम्परा है। ऐसी ही एक चर्चा के दौरान कथाकार काशीनाथ सिंह ने अपने एक अध्यक्षीय भाषण में टिप्पणी की थी, लेखक ने उसका उद्धरण किया है कि "घोड़े पर लिखने के लिए घोड़ा होना जरूरी नहीं है।"[1] इस उद्धरण का विवरण लेखक ने इस प्रकार किया कि, विद्वान कथाकार का यह तर्क किस सोच को उजागर करता है? घोड़े को देखकर उसके बाह्य अंगों, उसकी दुलकी चाल, उसके पुट्ठों, उसकी हिनहिनाहट पर ही लिखेंगे। लेकिन दिन-भर का थका-हारा, जब वह अस्तबल में भूखा-प्यासा खूँटे से बँधा होगा, तब अपने मालिक के प्रति उसके मन में क्या भाव उठ रहे होंगे, उसकी अनंत पीड़ा क्या होगी, इसे आप कैसे समझ पाएँगे ? मालिक का कौन-सा रूप और चेहरा उसकी कल्पना में होगा, इसे सिर्फ घोड़ा ही जानता है।

यहाँ हमें स्पष्ट होता है कि दलित साहित्य की भाषा, बिम्ब, प्रतीक, भावबोध परम्परावादी साहित्य से भिन्न हैं, उसके संस्कार भिन्न हैं।

दलित शब्द के अर्थ को लेकर लेखक ने लिखा है कि "जिसका दलन और दमन हुआ है, दबाया गया है, उत्पीड़ित, शोषित हुआ, गिराया हुआ, उपेक्षित, घृणित, रौंदा हुआ, मसला हुआ, कुचला हुआ विनिष्ट, मर्दित, पस्त-हिम्मत, हतोत्साहित, वंचित आदि।"[2] दलित शब्द की व्याख्या के संबंध में डॉ.श्यौराज सिंह बेचैन, कँवल भारती, मोहनदास नैमिशराय, नारायण सूर्वे, डॉ. सी.बी. भारती, राजेन्द्र यादव, बाबूराव बागूल, अर्जुन डाँगले आदि विद्वानों के मत को लेखक ने उल्लेख किया है।

दलित साहित्य-आन्दोलन के दग्ध अनुभवों के आधार पर समाज और साहित्य का जो उटूट सम्बन्ध है, उसे रचनाकारों की दृष्टि में रखकर चलना होगा। अपने पूर्व साहित्य से असहमतियों, वैचारिक विरोधों के बावजूद भी उसका गहन अध्ययन-मनन आवश्यक है। तभी हम किसी विशेष निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं। क्योंकि दलित साहित्य दलित यातनाओं की अनुगूँज भर नहीं है। दलित साहित्य की व्यापकता इसी में है कि वह अन्याय, अत्याचार, सामाजिक विषमताओं, शोषण, दमन के

---

[1]. दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र-ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.भूमिका-X

[2].दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र-ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.13

विरूद्ध एक दीवार की तरह खड़ा हो जाए, बेहतर समाज की परिकल्पना को साकार करने के लिए। तभी उसका सामाजिक दायित्व और वैचारिक प्रतिबद्धता सिद्ध होगी।

दलित साहित्य समाज-सापेक्ष है। साहित्य की मूल संवेदना के साथ-साथ दलित साहित्य मनुष्य की स्वतन्त्रता, समता और बन्धुत्व की भावना को सर्वोपरि मानता है। इस संदर्भ में मोहनदास नैमिशराय का मत है कि "शोषक वर्ग के खिलाफ अपने अधिकारों के लिए संघर्ष करते हुए समाज में समता, बंधुता तथा मैत्री की स्थापना करना ही दलित साहित्य का उद्देश्य है।"[1]

दलित रचनाकारों ने साहित्य को अपने मुक्ति आन्दोलन का एक हिस्सा बनाया है। शब्द की आग से ऊर्जा ग्रहण कर उन्होंने अपने आन्दोलन को गम्भीर सरोकारों से जोड़ा है। मराठी के विख्यात दलित लेखक बाबूराव बागूल की यह मान्यता बल देती है कि दलित साहित्य का केन्द्र बिन्दु मानव है, और वह मानव के ही इर्द-गिर्द घूमता है।

दलित साहित्यकार अपनी सामाजिक प्रतिबद्धता के साथ रचनाकर्म से जुड़कर साहित्य की सृजनात्मकता में मानवीय सरोकारों, संवेदनाओं और स्वतन्त्रता, भाई-चारे की भवनाओं को स्थापित करता है। उसकी दृष्टि में प्रत्येक व्यक्ति और पीड़ा, उसके सुख-दुःख महत्त्वपूर्ण हैं। उसमें दलित हो या स्त्री, उसके प्रति रागात्यमक तादात्म्य स्थापित करना दलित साहित्य का प्रमुख प्रयोजन है। दलित चिन्तन ने नया आयाम देकर साहित्य की भावना का विस्तार किया है। पारम्परिक और स्थापित साहित्य को आत्मविश्लेषण और पुनर्विश्लेषण के लिए बाध्य किया है। झूठी और अतार्किक मान्यताओं का निर्ममता से विरोध किया है। अपने पूर्व साहित्यकारों के प्रति विरोध किया है। अपने पूर्व साहित्यकारों के प्रति आस्थावान रहकर नहीं, बल्कि आलोचनात्मक दृष्टि रखकर दलित साहित्यकारों ने पुनर्मूल्यांकन की जद्दोजहद शूरू की है, जिससे जड़ता टूटी है। साहित्य आधुनिकता और समकालीनता की ओर अग्रसर हुआ है। मुख्यधारा के लेखन पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए डॉ.रमणिका गुप्ता आक्रोश में कहा उठती हैं कि- "आज हिन्दी पट्टी में दलित साहित को उसी बर्बरता के मुकाबले खड़े होने की जरूरत है, जिसके लिए केवल बचाव ही नहीं, हमले की रणनीति की दरकार होती है। हिन्दी दलित साहित्य उस मुहिम की ओर अग्रसर है, यह शुभ है! इसे लोग प्रतिशोध, अलगाव या बदला अनेक नाम

[1].दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र- ओमप्रकाश वाल्मीकि. पृ.22

देते हैं। पर यह बराबर की मुहिम का अस्त्र है। "[1]

वर्ण-व्यवस्था के अमानवीय बन्धनों ने शताब्दियों से दलितों के भीतर हीनता भाव को पुख्ता किया है। धर्म और संस्कृति की आड़ में साहित्य ने भी इस भावना की नींव सुदृढ़ की है। ऐसे सौंदर्यशास्त्र का निर्माण किया गया जो अपनी सोच और स्थापनाओं में दलित-विरोधी है। जो समाज के अनिवार्य अंतर संबंधों को खंडित करने में सहायक रहा है।

ऐसे प्रतिकूल, नैराश्यपूर्ण क्षणों में भी दलित कवियों ने हीन भावना का त्याग करके सजगता और सतर्कता से विसंगतियों और विषमताओं के बीच दलित साहित्य को जीवन सरोकारों से जोड़ा है। दलित कवि साहित्य के मूलभूत प्रयोजनों से साक्षात्कार करता है। यह दलित कवि की सहज और अनिवार्य प्रतिबद्धता है, जो उसकी रचनात्मक ऊर्जा है।

हिन्दी साहित्य के इतिहास में जिन दलित रचनाकारों का उल्लेख आया है वे सामाजिक बदलाव की चेतना जगा पाने में असमर्थ रहे हैं। पारम्परिक आदर्शों एवं मान्यताओं से भिन्न उनकी मान्यताएँ या सोच दूरगामी परिणाम नहीं दे पाई। इतिहासकारों का कहना है कि हिन्दी के सिद्ध कवियों में अनेक दलित थे। भक्तिकाल में भी कई संत कवि दलित थे। लेकिन वे सामाजिक चेतना का कोई ऐसा आयाम स्थापित नहीं कर पाए जिससे दलितों में किसी परिवर्तन की सुगबुगाहट होती। सिर्फ भक्तिकाल में ही नहीं बल्कि 60 से 90 के दशक में कई रचनाकार आए लेकिन उनकी अभिव्यक्ति दलितों की पीड़ा के साथ अपनी अन्तरंगता स्थापित नहीं कर पाई। वे वर्ण-संघर्ष से परे वर्ग-संघर्ष की जद्दोजहद में शामिल होकर अपने आपको व्यापक फलक पर देखने के भ्रम को पालते रहे। वस्तुस्थिति का सामना करने के बजाए भारतीय समाज-व्यवस्था के इकहरे सपनों में खोए रहे। दलित साहित्य की दग्धता से बाहर रहे। दलित साहित्य के सरोकारों में दलित चेतना की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। इस चेतना के बिना साहित्य लिजलिजा और काल्पनिक उड़ानों से भरपूर ही माना जाएगा।

दलित चिन्तक कँवल भारती की यह मान्यता इस तथ्य को प्रमाणित करती है कि "आधुनिक हिन्दी दलित साहित्य वह है जो दलित मुक्ति के सवालों पर पूरी तरह अम्बेडकरवादी है। सामाजिक, आर्थिक

[1].दलित विमर्श के विविध आयाम, डॉ.वीरेन्द्र सिंह यादव, पृ199

और राजनीतिक सभी क्षेत्रों में उसके सरोकार वे हैं जो अम्बेडकर के थे।"[1] अभय कुमार दुबे, डॉ.गंगाधर पानतावणे, डॉ.सी.बी.भारती, बाबूराव बागूल और जयन्त परमार, आदि साहित्यकारों ने भी इसी तथ्य पर जोर दिया है।

दलित रचनाकार अपने परिवेश एवं समाज के गहरे सरोकारों से जुड़ा है। वह अपने निजी दुःख से ज्यादा समाज की पीड़ा को महत्ता देता है। जब वह 'मैं' शब्द का प्रयोग कर रहा होता है तो उसका अर्थ 'हम' ही होता है। सामाजिक चेतना उसके लिए सर्वोपरि है। अपने समाज के दुःख-दर्द उसे ज्यादा पीड़ा देते हैं। उनके उन्मूलन के लिए ही उसने लेखन का रास्ता चुना है। अपनी अभिव्यक्ति में वह समाज की पीड़ा उकेर रहा है। इसीलिए वह ज्यादा प्रामाणिक है। इस पीड़ा की सहज और ईमानदार अभिव्यक्ति ने ही दलित पाठकों का एक वर्ग तैयार किया है। ये पाठक इस साहित्य को ऊर्जावान बनाते हैं। हिन्दी के लेखक जहाँ पाठकों का रोना रोते हैं, वहीं दलित साहित्य के पाठकों में निरन्तर वृद्धि हो रही है। जबकि दलितों में महानगरों से लेकर छोटे शहरों, कस्बों, गाँव-देहात में दलित पाठक साहित्य से जुड़े हैं।

दलित साहित्य में अन्तर्निहित पीड़ा एवं चेतना को वे स्वयं से जुड़ा पाते हैं। उन्हें अपनत्व भाव महसूस होता है। यह तभी सम्भव है जब रचना में अभिव्यक्त पीड़ा प्रामाणिक हो। भाषा के स्तर पर भी दलित साहित्य की अभिव्यंजना ज्यादा सजीव है। क्योंकि एक दलित की पीड़ा जिस सघनता से दूसरा दलित अनुभव कर सकता है, अन्य नहीं। इसलिए जब यह कहा जाता है कि एक दलित ही दलित पीड़ा की अभिव्यक्ति कर सकता है, तो कुछ भी गलत नहीं है। अब तक लिखा गया साहित्य, चाहे वह दलित ने लिखा हो या गैर-दलित ने, इसका प्रमाण है।

समीक्षक मैनेजर पांडेय का यह कथन इस प्रमाण की पुष्टि करता है कि "राख ही जानती है जलने का दर्द, दलित होने की पीड़ा सिर्फ दलित जानता है।"[2]

मुद्राराक्षस का मानना है कि- "गैर दलितों की दलित संवेदना अब तक कहां और क्यों सोई हुई

---

[1]. दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र- ओमप्रकाश वाल्मीकि. पृ.30

[2].दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र - ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.44

थी। सदियों से दलितों पर हो रहे अत्याचार और उत्पीड़न उनके मन में संवेदना का भाव क्यों नहीं जगा सके? क्या वजह है कि आज रातोंरात संवेदना जाग उठी है और उसको प्रमाणिकता का जामा पहनाने की कोशिश की जा रही है। हिंदी साहित्य में से दलित संवेदना की रचनाएँ ढूंढ-ढूंढ कर परोसी जाने लगी हैं। वर्चस्व चरमराता नज़र आ रहा है अतः जैसे-तैसे कहीं संवेदना की आड़ में अस्मिता को बचाए रखने की साजिश तो नहीं चल रही है या सचमुच दलित-संवेदना ने उनके मनोभावों को वेदना से तर-बतर कर दिया है? आज इस पर संजीदगी से विचार करने की जरूरत है।"[1]

हिन्दी साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र संस्कृत और पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र पर आधारित है। इसीलिए उसकी कसौटियाँ दलित साहित्य के मूल्यांकन में अक्षम साबित होती हैं। रमणिका गुप्ता दलित साहित्य के सौन्दर्यशास्त्र में विद्यमान मूलभूत तत्वों की ओर ध्यान आकर्षत करते हुए कहती हैं कि- "दलित साहित्य ने नए बिम्ब गढ़े, पौराणिक मिथकों की परिभाषा बदल डाली। नये मिथक बनाये गौरवान्वित झूट और आस्था पर चोट की और चमत्कार को तोड़ा। अनुभवों की प्रामाणिकता से दलित साहित्य में नया एक तेवर उभरा जो सीधे मन को छूता है। विश्वसनीय है। यह वर्तमान साहित्य के लिजलिजेपन और बासीपन तथा एकरूपी, रसवादी प्रणाली से भिन्न है और चमत्कारी कल्पनाओं से बिल्कुल अलग है। इसके दायरे में अन्धविश्वास, भाग्य, पूर्वजन्म के कर्म, धर्म या भगवान नहींआते हैं। यह प्रत्यक्ष यथार्थ से मुक्त है, जीवन्त है। जुल्मों से जूझते हुए, मरते हुए और जीते हुए से बीच के, इर्दगिर्द के स्त्री-पुरुषों को सामने लाता है।"[2] (दलित विमर्श के विविध आयाम, डॉ. वीरेन्द्र सिंह यादव, पृ.171)

दलित साहित्य के मूल्यांकन से पूर्व परम्परावादी समीक्षकों को भारतीय समाज-व्यवस्था, वर्ण-व्यवस्था, जातिभेद, जाति-संघर्ष, विषमताओं, भेदभावों, सामन्ती सोच, ब्राह्मणवादी दृष्टि कोण,अन्तर्विरोधों, आर्थिक, सामाजिक भारतीय मनःस्थितियों, सांस्कृतिक पृष्ठभूमियों का विश्लेषण करना होगा, भारतीय राजनीति को समझकर साहित्य का समाजशास्त्रीय अध्ययन करना होगा। तभी दलित साहित्य का सही और यथार्थ मूल्यांकन हो पाना सम्भव होगा।

---

[1].दलित चेतना : साहित्यिक एवं सामाजिक सरोकार, डॉ.रमणिका गुप्ता, पृ.96-97

[2].दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.48

इस संदर्भ में प्रेमचन्द ने कहा था, "हमें सुन्दरता की कसौटी बदलनी होगी और हमें निश्चय ही बिलासिता के मीनार से उतरकर उस बच्चोंवाली काली रूपवती का चित्र खीचना होगा जो बच्चे को खेत की मेड़ पर सुलाकर पसीना बहा रही है।"

दलित साहित्य का वैचारिक आधार डॉ.अम्बेडकर का जीवन-संघर्ष एवं ज्योतिबा फुले और बुद्ध का दर्शन उसकी दार्शनिकता का आधार है। सभी दलित रचनाकार इस बिन्दु पर एकमत हैं कि ज्योतिबा फुले ने स्वयं क्रियाशील रहकर सामन्ती मूल्यों और सामाजिक गुलामी के विरोध का स्वर तेज किया था। ब्राह्मणवादी सोच और वर्चस्व या प्रभुत्त्व के विरोध में उन्होंने आन्दोलन खड़ा किया था। यही कारण है कि जहाँ दलित रचनाकारों ने ज्योतिबा फूले को अपना विशिष्ट विचारक माना वहीं डॉ. अम्बेडकर को अपना शक्तिपुंज स्वीकार किया। ऐसा शक्तिपुंज जिससे समूचा दलित लेखन वैचारिक ऊर्जा ग्रहण करता है। डॉ.आम्बेड़कर और ज्योतिबा फुले के विचारों की प्रखर शक्ति पाकर दलित साहित्य आन्दोलन प्रगति की ओर बढ़ रहा हैं।

दलित-जीवन और उनकी समस्याओं पर गैर-दलितों, जैसे प्रेमचन्द, नागार्जुन, अमृतलाल नागर, गिरिराज किशोर, जगदीश चन्द्र आदि ने लिखा है और दलित लेखक ओमप्रकाश वाल्मीकि, मोहनदास नैमिशराय, श्यौराज सिंह बेचैन आदि ने भी लिखा है। किन्तु इनकी अनतर्वस्तु में इनके द्वारा अर्जित और प्रतिष्ठित मूल्यों में और उस अनुभव की प्रक्रिया की व्याख्या में गहरा फर्क है। जाहिर है, इन मूल्यों की प्रकृति और प्रक्रिया में वर्ण-भेद अहम भूमिका अदा करता है। उनके अपने पूर्वाग्रह एवं मान्यताएँ कृति की समग्रता में अपने निष्कर्ष स्थापित करती हैं, उसे प्रभावित करती हैं। यह सब एक विशिष्ट सतर्कता के रूप में प्रस्तुत होकर अपनी विशिष्टता रेखांकित करता है।

दलित साहित्य को डॉ.अम्बेडकर के जीवन-दर्शन ने वैचारिक ऊर्जा दी है और तथागत बुद्ध की दार्शनिकता ने उसे सामाजिक दृष्टि दी है। साथ ही ज्योतिबा फुले के जीवन-संघर्ष से उसे गहन प्रेरणा मिली है।

हजारों साल के ऐतिहासिक परिदृश्य में दलितों ने जो सामाजिक उत्पीड़न सहा है, विषमताएँ झेली हैं, भेदभाव और शोषण ने उसके मस्तिष्क पर जो गहरी रेखाएँ खींची हैं, ऐसी वर्ण-व्यवस्था से उपजी विषमताओं और विसंगतियों को दृष्टि में रखकर ही दलित साहित्य का विश्लेषण करके, सौन्दर्यशास्त्र

और साहित्यिक मूल्यांकन के अध्ययन की दिशा में आगे बढ़ सकते हैं। साहित्यिक सृजन दलित जीवन के यथार्थ को प्रतिबिम्बित करने के साथ ही उसे पहचानने का भी एक साधन है। साहित्य और कला के प्रति यह दृष्टिकोण सामाजिक व्यवस्था में साहित्य के महत्त्व का उचित मूल्यांकन भी है। दलित साहित्य में दलित जीवन का यथार्थवादी चित्रण यथार्थ की मात्र नकल नहीं है, बल्कि साधारण परिस्थितियों में साधारण चरित्रों का वास्तविक पुनर्सृजन है। इस कार्य में दर्शन और कलात्मक पांडित्यपूर्ण प्रदर्शन की आवश्यकता कतई नहीं है- पाठक की चेतना और अनुभूति को प्रभावित करनेवाली गहन संवेदना से ही यह सम्भव है। डॉ.तेज सिंह के शब्दों में कहें तो "सामाजिक-जीवन-संदर्भों के बिना भी रचनाकार की अनुभूतियाँ नितान्त निजी अनुभव बन कर रह जाती हैं। जब अपने निजी अनुभवों को ही रचना का आधार बनाने वाले ऐसे रचनाकारों की अनुभूतियों का दायरा हीं सीमित हो गया तो, तब उन्होंने इस सीमित दायरे में ही कलागत प्रयोग करने शुरू कर दिये। यही वजह है कि रचना में कलागत प्रयोग करने वाले कथाकारों के लिए नितान्त वैयक्तिक अनुभव, छोटे-छोटे असम्बद्ध, जीवन-प्रसंग, क्रमहीन स्थितियाँ और घटना इतनी महत्त्वपूर्ण हो गयीं कि उसी में ही वे जीवन-जगत की सार्थकता तलाशने लगे।"[1]

'सवर्ण वर्चस्व' के विरुद्ध दलित लेखन में जहाँ अपनी अस्मिता की तलाश है वहीं मानवीय मूल्यों की पक्ष धरता को भी सर्वोपरि माना है। मनुष्य की स्वतन्त्रता की भावना और उसकी अभिव्यक्ति दलित साहित्य की प्राथमिकताओं में है। मानव मुक्ति के सभी रूपों और अन्तरंगों का दर्शन दलित साहित्य में दिखाई पड़ता है। स्वतन्त्रता केवल राजनीतिक ही नहीं होती, धार्मिक, आर्थिक और सामाजिक भी होती है। इसीलिए दलित साहित्य की अन्तर्निहित धारा में स्वतन्त्रता का भाव प्रधान रूप में विद्यमान है। समता, बन्धुता और स्वतन्त्रता की चेतना जैसे मूल तत्वों पर दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र टिका हुआ है।

किसी भी रचनाकार, कृति और समाज के सम्बन्ध पर जब विचार करना है तो दलित साहित्य के सौन्दर्यशास्त्र के तत्त्व स्वतः स्पष्ट हो जाएँगे।

---

[1].आज का दलित साहित्य, डॉ.तेज सिंह, पृ.31

दलित साहित्य जाति-व्यवस्था के दासत्व से मुक्ति का साहित्य है इस साहित्य के सौन्दर्यशास्त्र के संबन्ध में क्रान्तिकारी तेलुगु कवि शिवसागर का कहना है कि "समय के साथ-साथ सौन्दर्यशास्त्र की धारणाएँ भी बदलती गई हैं। दलित सौन्दर्यशास्त्र दलित दृष्टकोण से दलित परिभाषा के बल पर दलित अभिव्यक्ति और सौन्दर्य की धारणाओं को पुनः परिभाषित कर रहा है। सौन्दर्यशास्त्र का सम्बन्ध रूप और सार से है।"[1]

दलित साहित्य की भूमिका मानव-केन्द्रित है। डॉ.अम्बेडकर ने दलितों में चेतना जगाकर उन्हें मुक्ति-संघर्ष से जोड़ा है। वर्ण-व्यवस्था ने जो उन पर गुलामी के बन्धन कसे थे, उन्हें तोड़ने में डॉ.अम्बेडकर का आन्दोलन जहाँ एक ओर सामाजिक और वैचारिक आन्दोलन था, वहीं दूसरी ओर राजनीतिक आन्दोलन भी था। दलित साहित्य उसी संघर्षशील चेतना की अभिव्यक्ति है। दलित सदियों की दासता और शोषण, दमन, उत्पीड़न के कारण हीन भावना से ग्रसित थे। इसी हीन भावना को तोड़कर एक मनुष्य के रूप में उसकी पहचान और स्वाभिमान को स्थापित करना दलित साहित्य का प्रमुख उद्देश्य है।

हिन्दी दलित कहानी का समकालीन परिदृश्य आठवें दशक में तेजी से उभरता है जिसमें कई नए रचनाकार उभरकर अपनी उपस्थिति दर्ज करते हैं, और अपनी कहानियों के द्वारा दलित साहित्य को एक मजबूती देने की कोशिश करते हैं। दलित कथाकारों का यह प्रयास जहाँ सर्जनात्मक आवेग से स्वयं को तलाशने की प्रक्रिया के साथ-साथ सामाजिक परिवेश की गम्भीर चुनौतियों से टकराता है, वहीं हिन्दी कहानी का परिचय उन स्थितियों और चरित्रों से कतराता है जिनसे हिन्दी रचनाकार अनभिज्ञ था।

हिन्दी दलित कहानी की यह यात्रा सहज और सरल यात्रा नहीं है। लम्बी संघर्ष यात्रा है, जो सातवें दशक से नवें दशक तक काँटों पर चलते हुए लहूलुहान होकर भी अपने विस्फोटक तेवर की पहचान बनाने में सफल रही है। दलित कहानी ने समस्याओं से मुठभेड़ की है। अपने सर्जनात्मक, आक्रोशित स्वर को यथार्थ की भूमि पर खड़ा करके बदलाव के नए आयाम स्थापित किये हैं। यथार्थ की संघर्षपूर्ण स्थितियों, सामाजिक विषमताओं, भेदभाव, अन्तर्विरोधों कों चित्रित करने की प्रवृत्ति उसने किसी दबाव

[1].दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र- ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.62

या प्रतिक्रिया के तहत ग्रहण नहीं की है बल्कि यह उसका अपना स्वाभाविक और वस्तुनिष्ठ स्वरूप है। आवेगपूर्ण विरोध के द्वारा परिवर्तन की पक्षधरता उसका जीवन-मूल्य है।

इस यात्रा में जहाँ डॉ.श्यौराजसिंह बेचैन, सूरजपाल चौहान, जयप्रकाश कर्दम, डॉ.दयानन्द बटोही ने यथार्थपरक संवेदनशीलता और सामाजिक विमर्श की कहानियाँ लिखी हैं, वहीं डॉ.सुशीला टाकभौरे, रजतरानी मीनू, कावेरी, कुसुम मेघवाल दलित स्त्री की पीड़ा उकेरने में सफल हुई हैं। उपर्युक्त कथाकारों की कहानियों का जिक्र लेखक ने इस कृति में किया है।

5.2.सफाई-देवता - भंगी या वाल्मीकि समाज की वास्तविक स्थिति :

ओमप्रकाश वाल्मीकि की प्रस्तुत रचना वाल्मीकि-समाज की ऐतिहासिक, सांस्कृतिक, सामाजिक पृष्ठभूमि को उजागर करने वाली आलोचनात्मक कृति है। भंगी या वाल्मीकि समाज के रोजमर्रा के जीवन को अभिव्यक्ति देने वाली इस कृति में लेखक ने प्रस्तावना में भारतीय समाज-व्यवस्था और हिन्दू मानसिकता, दासता, विवाह, दंड-विधान, शपथ-विधान, समाज-सुधारक, उत्पत्ति, ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, चूहड़ा-भंगी और अन्य उपजातियाँ, पूजा-पद्धति और धार्मिक मान्यताएँ, गोत्र, आर्थिक और सामाजिक शोषण, समस्या और समाधान, भंगी-समाज और आदिकवि वाल्मीकि तथा गोहाना कांड : जातीय वैमनस्य की पृष्ठभूमि आदि विषयों पर तार्किक विश्लेषण प्रस्तुत किया है।

भारतीय समाज-व्यवस्था पर एक दृष्टि डाली जाए तो हमे यह पता चलता है कि भारतीय समाज-व्यवस्था चातुर्वर्ण्य व्यवस्था के सिद्धान्त पर टिकी है- ऋग्वेद के दसवें मंडल के पुरुष सूक्त में 12 वे मन्त्र में कहा गया है कि-

"ब्राह्मणोस्य मुखमासीद बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तस्य यद वैश्यः पदभ्यां शूद्रों अजायत।।"[1]

ब्राह्मण उसके (पुरुष) मुख से, राजन्य उसकी भुजाओं से, वैश्य जंघाओं से तथा शूद्र उसके पैरों से उत्पन्न हुए हैं। इस संदर्भ में डॉ.अम्बेडकर अपने विश्लेषण में कहते हैं कि- "यदि समाज का चार वर्णों में विभाजन इसका उद्देश्य होता तो चातुर्वर्ण्य बहुत साधारण-सा सिद्धान्त होता, दुर्भाग्यवश चातुर्वर्ण्य

[1].सफाई देवता -ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.17

के सिद्दान्त में इससे अधिक कुछ निहित है। समाज को चार भागों मे विभाजित करने के साथ-साथ, इस सिद्धान्त ने आगे बढ़कर वर्गीकृत असमानता के मत को चारों वर्णों के मध्य संयुक्त जीवन के निर्धारण का आधार बना दिया है। वर्गीकृत असमानता की प्रणाली मात्र वैचारिकी नहीं है। यह वैज्ञानिक और दंडात्मक है। चातुर्वर्ण्य व्यवस्था में शूद्र को वर्गीकरण में न केवल निम्नतम स्थान पर रखा गया है, ताकि वह निर्धारित नियमों के ऊपर सिर न उठा सके। वास्तविकता में जब तक अस्पृश्यों का पंचम वर्ण अस्तित्व में नहीं आया था, हिन्दुओं की दृष्टि में शूद्र निम्न से निम्नतर थे।"[1] वेदों के प्रति या अन्य धार्मिक पवित्र ग्रन्थों के प्रति जो सम्मान भाव ब्राह्मणवादी हिन्दुओं का है, अन्य लोगों का नहीं है। क्योंकि आस्था या विश्वास का उद्‌गम सामाजिक कारण होते हैं, जिनसे यह भावना पैदा होती है। इस साहित्य की रचना ब्राह्मणों ने अपने वर्चस्व की सत्ता कायम करने के लिए की है। इस साहित्य पर अपनी राय देते हुए डॉ.अम्बेडकर कहते हैं कि -"जिसे पवित्र साहित्य कहा गया है, वह जुगुप्सा से भरे सामाजिक दर्शन का पोखर है, जिससे सामाजिक हीनता उपजी है, तो गैर-ब्राह्मण उसके प्रति ब्राह्मणों के विपरीत ही रुख अपनाएगा। उस समय यह बात किसी को विचित्र नहीं लगेगी। यदि कोई यह ध्यान रखेगा कि मैं अब्राह्मण ही नहीं अछूत भी हूँ, तो इस पवित्र साहित्य के प्रति मेरी वितृष्णा किसी अब्राह्मण से घटकर नहीं हो सकती है।"[2]

पुरुष सूक्त द्वारा निर्धारित समाज की इस संरचना को 'इश्वरीय' रूप देने में धर्मसूत्रों, स्मृतियों ने इस व्यवस्था को समाज में स्थापित करने में विशिष्ट भूमिका निभाई है। जिसे 'आदर्श व्यवस्था' कहकर वैधानिक स्वरूप प्रदान किया गया था। इस संदर्भ में वाल्मीकि जी ने मनु का जिक्र किया है।

मनु ने पुरुष सूक्त के आदर्श को ईश्वरीय आज्ञा के रूप में नए सिरे से प्रतिपादित किया। उस ने कहा कि "समृद्धि के लिए ईश्वर ने ब्राह्मण को अपने मुख से, क्षत्रिय को भुजाओं से, वैश्य को जंघाओं से और शूद्रों को पैरों से पैदा किया।" और वे आगे कहते है कि "इसी तरह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य द्विज व्रण हैं अर्थात इनका जन्म दो बार होता है, और शूद्र का केवल एक बार ही होता है।" मनु ने कहा-"वेद

---

[1].सफाई देवता -ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.18

[2].डॉ.भीमराव अम्बेडकर, सम्पूर्ण वाङ्मय, खंड-13, पृ. प्राक्कथन

ही धर्म का एकमात्र और अन्तिम आधार है।"[1] इस विषय को लेकर लेखक ने लिखा है कि श्रेष्ठता और हीनता के आधार पर किसी भी समाज ने मनुष्य को नहीं बाँटा है, सिवाय हिन्दू धर्म के। असमानता के इस सिद्धान्त के आधार पर शूद्र सबसे नीचे है और ब्राह्मण सबसे ऊपर। क्षत्रिय ब्राह्मण से नीचे, क्षत्रिय से नीचे वैश्य, वैश्य से नीचे शूद्र। समाज में इस प्रकार का विभाजन एक प्रपंच के अलावा और कुछ नहीं है। यह प्रपंच आज भी जारी है, जिसे आदर्श का रूप देकर समाज में घृणा और असमानता को बढ़ावा दिया गया है। यह धारणा नैतिकता के विरुद्ध है। किसी भी सभ्य समाज में इस तरह की मान्यताओं के लिए कोई स्थान नहीं है। एक विशेष वर्ण के वर्चस्व को स्थापित करके समाज पर अपनी पकड़ कायम रखना और दूसरों को दीन-हीन बनाकर अनुचित और अन्याय पूर्ण ढंग से उन्हे दबाए रखना ही 'पुरुष-सूक्त' का उद्देश्य है, जो साज विरोधी है।

सन् 1928 ई. मध्य प्रदेश की 'बलाई' नाम की एक दलित जाति पर हिन्दुओं द्वारा किए गए अत्याचारों की चर्चा करते हुए डॉ.अम्बेडकर टाइम्स ऑफ इंडिया में छपी एक रपट के हवाले से कहते हैं- टाइम्स ऑफ इंडिया के संवाददाता ने समाचार दिया कि कनेरिया, बिचौली-हाफसी, बिचौली-मर्दान गाँव तथा इन्दौर जिले के अन्य 15 गाँव की ऊँची जातियों के हिन्दुओं ने, अर्थात् राजपूतों, ब्राह्मणों, जिनमें पटेल और पटवारी भी शामिल हैं, अपने-अपने गाँव के बलाइयों को सूचित किया कि यदि वे उनमें रहना चाहते हैं तो उन्हें नियमों का अवश्य पालन करना होगा। इसका जिक्र लेखक ने किया है कि -

"1. बलाई सुनहरी गोटेदार किनारी की पगड़ियाँ नहीं बाँधेंगे।

2. वे रंगीन या फैंसी किनारी की धोती भी नहीं पहनेंगे।

3. वे किसी हिन्दू की मृत्यु पर मृतक के सम्बन्धियों को चाहे वे कितनी भी दूर क्यों न रहते हों, मरने की सूचना देंगे।

4. सभी हिन्दूओं के विवाह में बलाई लोग बारात के आगे और फैन्सी गाउन या जैकेट भी नहीं पहनेंगी।

5. बलाई स्त्रियाँ सोने या चाँदी के आभूषण नहीं पहनेंगी। वे फैन्सी गाउन या जैकेट भी नहीं

[1]. सफाई देवता -ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.19

पहनेंगी।

6. बलाई स्त्रियों को हिन्दू स्त्रियों के प्रसव के सभी मामलों में देखभाल करनी होगी।

7. बलाई लोगों को बिना कोई पारिश्रमिक माँगे सेवा करनी होगी, और हिन्दू जो उन्हें खुश होकर देंगे, लेना होगा।

8. अगर बलाई लोग इन शर्तों का पालन करना स्वीकार नहीं करते हैं तो उन्हें गाँव छोड़ना होगा।

बलाई लोगों ने उनकी इन शर्तों को मानने से इंकार कर दिया और हिन्दुओं ने उनके विरुद्ध कार्यवाही की। बलाइयों को गाँव के कुएँ से पानी नहीं दिया गया। उन्हें अपने पशुओं को चराने के लिए नहीं ले जाने दिया गया। उनका बहिष्कार किया।"[1] लेखक का कहना है कि हमे यहाँ एक तथ्य की ओर ध्यान देना आवश्यक है। यह घटना 1928 ई. की है। जहाँ सवर्ण जातियों के लिए 'हिन्दु' शब्द का बार-बार प्रयोग हुआ है। यानी सवर्ण लोग ही हिन्दू थे। अछूतों, अस्पृश्यों, अंत्यजों की गणना हिन्दुओं में नहीं थी। इससे हमें पता चलता है कि 'जाति प्रथा' का समर्थन करनेवालों की आज भी कमी नहीं है।

हमे पता चलता है कि इस व्यवस्था को इच्छा से स्वीकार नहीं किया गया था। बल्कि जोर-जबर्दस्ती के बल पर इसे नीचे के तबके पर लागू किया गया था, जैसा कि 'बलाईयों' के साथ हुआ। यही कारण है कि हिन्दू समाज टुकड़ों-टुकड़ों में विभाजित है. इसी व्यवस्था के कारण 'सामाजिक चेतना' का अभाव है। प्रत्येक हिन्दू में जो चेतना है, वह 'समाज-चेतना' नहीं बल्कि 'जाति चेतना' है। इसीलिए यह चेतना 'समाज-विरोध' परिणाम देती है। यहाँ यह कहना भी आवश्यक है कि इसी कारण विदेशियों ने भारत को हजारों साल गुलाम बनाए रखा, और देश की सम्पदा का भरपूर दोहन किया।

हिन्दू समाज-व्यवस्था का उद्‌गम ईश्वर के विभिन्न अंगों से हुआ है। ये भिन्न-भिन्न वर्ण अपनी अलग पहचान रखते हैं। यह ईश्वर का आदेश है कि वे एक-दूसरे से अलग रहें। ब्राह्मण, क्षत्रिय का भाई नहीं है, न वैश्य ही, न शूद्र ही। अंत्यज या शूद्र का तो प्रश्न ही नहीं उठता, यानी परस्पर बन्धुता की भावना

[1]. सफाई देवता -ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ. 20

नहीं पनपती। यही भावना तो समाज का निर्माण करती है, और इस व्यवस्था में इसी भावना का निषेद्ध है। मनुस्मृति में इसे अलग-अलग पहचान बनाए रखने पर जोर दिया गया। इसी का लेखक ने जिक्र किया है कि "जन्म के बाद ब्राह्मण पिता को आठवें वर्ष में, क्षत्रिय पिता को ग्यारहवें वर्ष में, और वैश्य पिता को बारहवें वर्ष में अपने पुत्र को उसके वर्ग-प्रतीक का अभिषेक करना चाहिए।"[1]

डॉ.अम्बेडकर के अनुसार-'जातियों-उपजातियों में विभिन्न परिवर्तन के कारण से बिखराव आता है। हिन्दू समाज-व्यवस्था का पोषण तीन सिद्धान्तों द्वारा होता है। और शूद्रों को चौथे वर्ण में रखा गया है।' ब्लंट के अनुसार- 'खान-पान के मामले में भी हिन्दू ने जो नियम बनाए, वे तर्कहीन और अवैज्ञानिक हैं।' महाभारत के 'शान्ति पर्व' में एक स्थल पर शूद्र पैजवन द्वारा किए गए यज्ञ की चर्चा को शूद्रों के मूलतया क्षत्रिय होने का पर्याप्त प्रमाण मान लिया गया है।' रौथ का कहना है कि 'शूद्र आर्यों से बाहर के लोग थे।' ऋग्वेद और अथर्ववेद में आर्यों के देवता इन्द्र को दासों के विजेता के रूप में दिखाया गया है।' (सफाई देवता -ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ. 23-24) उपर्युक्त रचनाकारों ने अपने वक्तव्य को किस प्रकार व्यक्त किया है उसका चित्रण लेखक इस कृति में जिक्र करते हैं।

दासता के सम्बन्ध में मनु के नियम शूद्र के सामाजिक जीवन पर पूर्ण प्रकाश डालते हैं। मनु ही यह सिद्धान्त प्रतिपादित करते हैं कि दासता शूद्र के जीवन का शाश्वत रूप है। किन्तु यह केवल ब्राह्मणों और शूद्रों के सम्बन्ध पर लागू होता है। मनु कहते हैं कि शूद्र खरीदा हुआ हो या नहीं, उसे दास बनाना ही होगा। क्योंकि परमात्मा ने उसका सृजन ब्राह्मण की सेवा के लिए किया है। यानी शूद्र द्वारा भोगा हुए अधिकार से मुक्त नहीं किया जा सकता, क्योंकि भोगाधिकार उसमें अन्तर्जात है।

'मनु स्मृति' में सात प्रकार की दासता का उल्लेख है। 'याज्ञवल्कय स्मृति' के अनुसार "दासता वर्णों के अवरोही क्रम में होती है, आरोही में नहीं।"[2]

उपर्युक्त उद्धरणों से पता चलता है कि वे वर्ण-व्यवस्था की गहरी जड़ों की ओर संकेत करते हैं। दासता भी ऊपर से नीचे के क्रम में है न कि नीचे से ऊपर। एक ब्राह्मण किसी अस्पृश्य या शूद्र का

---

[1].सफाई देवता -ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ. 21

[2].सफाई देवता -ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ. 24

दास नहीं हो सकता था। दूसरी ओर ब्राह्मण चारों वर्णों को दास बना सकता था, लेकिन एक ब्राह्मण दूसरे ब्राह्मण का दास तो बन सकता था, लेकिन वह किसी दूसरे वर्ण का दास नहीं बन सकता था।

सामाजिक असमानता के इस सिद्धान्त को विवाह-सम्बन्धी नियमों और मान्यताओं में भी देखा जा सकता है। मनु अन्तर्जातीय विवाह के विरुद्ध हैं। दासता की तरह अन्तर्जातीय विवाह की अनुमति है लेकिन उल्टे क्रम में नहीं, वर्गीकृति समानता के सिद्धान्त को बिना कोई नुक्सान पहुँचाए। यदि कोई ब्राह्मण अपने वर्ण से बाहर विवाह करता है तो वह अपने से निम्नवर्ण की किसी भी स्त्री से कर सकता है। लेकिन एक शूद्र न वैश्य, न क्षत्रिय, न ब्राह्मण स्त्री से विवाह कर सकता है। एक क्षत्रिय वैश्य और शूद्र स्त्री से विवाह कर सकता है, एक ब्राह्मण स्त्री से नहीं। यह लेखक मनु के विचार को प्रकट करते है कि- "द्विज की पहली शादी के लिए उसी जाति की स्त्री की संस्तुति की जाती है, परन्तु ऐसे लोगों के लिए, जिन्हें किसी कारण से पुनर्विवाह करना हो, उसमें वर्णों के सीधे नीचे वर्ण की स्त्रियों को वरियता दी जाती है।" और आगे कहते है कि- एक शूद्र स्त्री केवल शूद्र की पत्नी बन सकती है, वैश्य स्त्री, एक वैश्य की पत्नी बन सकती है, वह दोनों तथा क्षत्रिय किसी क्षत्रिय की पत्नी बन सकती है, वह तीनों तथा ब्राह्मण स्त्री किसी ब्राह्मण की पत्नियाँ बन सकती है।"[1]

दंड-विधान की स्थापना मनु ने की, जिसे कौटिल्य ने 'अर्थशास्त्र' में और ज्यादा मजबूत किया। 'मानहानि' के लिए मनु का दंड-विधान के बारे में भी जिक्र किया है कि- "यदि कोई क्षत्रीय किसी पुरोहित की, यदि कोई वैश्य पुरोहित की, मानहानि करता है तो उस पर सौ पण की जुर्माना और एक सौ पचास पण या दो सौ पण का जुर्माना किया जाएगा।" यदि कोई पुरोहीत किसी क्षत्रिय की, यदि वह किसी वैश्य की मानहानि करे तो उस पर पचास पण और पच्चीस पण का जुर्माना तथा दास वर्ग के किसी व्यक्ति की भर्त्सना करने पर बारह पण जुर्माना किया जाएगा। यदि एक जन्मा शूद्र किसी द्विज (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) का अपमान करे तो उसकी जीभ को चीर दिया जाए; क्योंकि उसने ब्राह्मण के निम्नतम भाग से जन्म लिया है। और मनु ने गवाहों को शपथ लेने के लिए शपथ-विधान भी बनाए

[1]. सफाई देवता -ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ. 25-26

है।"[1] मनु की इस प्रकार के अनेक दंड-विधान की स्थापना को लेखक ने इस कृति में व्यक्त किया है।

हिन्दू न्याय-व्यवस्था में साफ तौर पर असमानता दिखाई पड़ती है। यह दंड-प्रक्रिया ही अमानवीय है, जहाँ एक ही अपराध का दण्ड वर्णानुसार कम या ज्यादा है। यह असमानता पर आधारित है। जो एक योजनाबद्ध तरीके से इस्तेमाल होती है। सामाजिक जीवन में हीनताबोध पैदा करने के तमाम ऐसे कार्य किए गए कि शूद्रों, दासों, अस्पृश्यों एवं अंत्यजों का जीवन निकृष्टतम होता चला गया।

बौद्ध ग्रन्थ 'विनय पिटिक' में दासों, मजदूरों के बारे में भी लिखा गया है। 'सुत्तनिपात' के अनुसार 'मजदूरों की तुलना में दास मालिक की सम्पत्ति होता था, और पैतृक सम्पत्ति की तरह दासों का भी बँटवारा होता था।' 'भगवद्गीता' में कृष्ण कहता है कि 'हे भारत, जब-जब धर्म की हानि होती और अधर्म बढ़ता है, तब-तब मैं स्वयं जन्म लेता हूँ।' 'रामशरण शर्मा' के अनुसार 'मौर्य पूर्व काल में शूद्र के सामान्य आर्थिक स्थिति का विश्लेषण करने में सेविवर्ग के रूप में उनकी विशेषता पर खासतौर से ध्यान दिया गया है।' 'डॉ.अम्बेडकर' के अनुसार 'हिन्दू समाज में ही मानवीय सम्बन्धों को धर्म का आवरण ओढ़ा कर अनुलंघनीय बना दिया गया है, हिन्दूओं में कामगारों के पारस्परिक सम्बन्धों की भी सीमाएँ बाँध दी गई हैं। उन्हें कड़ियों और सनातन संशयहीनता के शिकंजे में कस दिया गाया है।'[2] उपर्युक्त धर्म ग्रन्थों और रचनाकारों का विश्लेषण भी इस कृति में उपलब्ध हैं।

जाहिर है कि बहुत-सी अति पुरातन सामाजिक प्रथाएँ उन्नीसवीं शताब्दी में भी प्रचलित थीं। इंग्लैंड के विकासोन्मुख औद्योगिक समाज और भारत के पुराने तथा पतनोन्मुख समाज के बीच की गहरी विषमता ने राष्ट्रीय भावना से प्रेरित भारत के शिक्षित और बुद्धिजीवी वर्ग का ध्यान आकर्षित किया। उन्होंने महसूस किया कि सती-प्रथा, आजीवन वैधव्य, बाल-विवाह और सजातीय विवाह की प्रथा राष्ट्र की प्रगति में बाधक हैं। चूँकि ये प्रथाएँ धर्मशास्त्रों के बल पर चल रही थीं, इसलिए यह अनुभव किया गया कि उनमें सुधार आसानी से लाए जा सकते हैं। यदि यह सिद्ध किया जा सके कि वे सुधार धार्मिक ग्रन्थों के अनुरूप हैं।

---

[1]. सफाई देवता -ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.26-27

[2]. सफाई देवता -ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.29

1818 ई.में राममोहन राय ने सती-प्रथा के विरोध में प्रयास किया। पाँचवे दशक में स्मृति ग्रन्थों के आधार पर ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने विधवा विवाह का समर्थन किया। ज्योतिराव फूले ने विधवा विवाह, स्त्री शिक्षा का सामाजिक आन्दोलन चलाया। सातवें दशक में स्वामी दयानन्द ने विधवा विवाह का समर्थन किया। जन्म पर आधारित जाति-प्रथा के बहिष्कार की घोषणा की। शूद्रों को वेदाध्ययन का अधिकारी माना। गांधी ने अछूतोद्धार के कार्यक्रमों की घोषणाएँ कीं। रामशरण शर्मा का कहना है कि 'हमें मालूम नहीं कि आरम्भ में समाज-सुधारकों को म्यूर की समकालीन रचनाओं से कहाँ तक प्रेरणा मिली। उसने यह प्रमाणित करने का प्रयास किया।' इन सब का जिक्र इस कृती में मिलता हैं।

उपर्युक्त विवेचनाओं से भारतीय समाज में शूद्रों, अस्पृश्यों की सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक स्थिति की जानकारी मिलती है। जिसके आधार पर उस मानसिकता से परिचय होता है। जिसने अस्पृश्यों को हजारों साल से दासता के चक्र में फँसा कर उनका सामाजिक, आर्थिक-विकास अवरुद्ध किया। 'वाल्मीकि-समाज' की वर्तमान स्थितियों, विपन्नताओं की जिम्मेदार यही वर्ण-व्यवस्था, जाति भेद है जिसकी विभीषिका में यह समाज आज भी फँसा हुआ है। इससे बाहर निकलने, दासता से मुक्त होने की छटपटाहट और संघर्ष जारी है।

'वाल्मीक-समाज' को अलग-अलग राज्यों में विभिन्न नामों से जाना जाता है। पंजाब में मुख्य जाति 'चूहड़ा' है। जिसने सर्वप्रथम स्वयं को 'वाल्मीकि' के साथ जोड़ा। हरियाणा, राजस्थान, पश्चिमी उत्तर प्रदेश आदि में 'चूहड़ा' नाम से ही इस समाज को जाना जाता है। इसके अलावा वाल्मीकि, लाल बेगी, मलकाना, हलालखोर, हाड़ी, मेहतर, शेख भंगी, डोम, डूमार, बंसोड, हेला आदि कुछ प्रमुख उपजातियाँ हैं।

भंगी का पेशा-मल-मूत्र ढोना, सफई-कार्य मुस्लिम शासकों की देन है। ऐसे लोगों में हिन्दुत्ववादी विद्वान प्रमुख हैं। हिन्दी के चर्चित एवं प्रतिष्ठित साहित्यकार अमृतलाल नागर ने इस समाज की पृष्ठभूमि पर 'नाच्यौ बहुत गोपाल' शीर्षक से एक उपन्यास लिखा था। जिसमें अमृत लाल नागर ने 'मार-मार कर भंगी बनाना' मुहावरे को ही स्थापित किया था। लेखक इसका उल्लेख करते हुए कहते है कि "'भंगी-साज' जिसे हम 'वाल्मीकि-समाज' से सम्बोधित कर रहे हैं, वह उन्हीं स्थानों पर बहुतायत

में है, जहाँ 'ब्राह्मणवादी' संस्कृति और धर्म का वर्चस्व है।"[1]

भगवानदास की मान्यता है कि "बौद्ध धर्म को माननेवाले लोग भटकते हुए मारे-मारे फिरने लगे। आज किसी को भंगी कहा जाता है, किसी को महार, कोई मादिगा है और माँग, किसी को डेढ़, तो किसी को डोम कहते हैं।"[2]

'भंगी' शब्द की उत्पत्ति के सम्बन्ध में भी कई मत प्रचलित हैं। लेखक यहाँ अरुण ठाकुर और महम्मद खडस की पुस्तक 'नरक सफाई' की चर्चा करते हुए उन्होने लिखा हैं कि "गुजरात में बाँस की टोकरी बुननेवाले को 'भंगी' कहा जाता है। जाहिर है, बाँस को भंग करना पड़ता है, इसीलिए 'भंगी' कहा जाता है।"[3]

श्रीधर वैंकटेश केतकर की मान्यता है कि "मलमूत्र उठाने के पेशे की वजह से यह वर्ग बना। अतएव जाहिर है कि उनमें सिख, हिन्दू, मुसलमान आदि सभी धर्मों के लोग हैं। सबसे अधिक भंगी संयुक्त प्रान्त और मुम्बई इलाके में है। इनके अलावा चूहड़ा, हलालखोर, मेहतर आदि अन्य जातियाँ हैं। भंगी अस्पृश्य माने जाते हैं। उन्होंने मैला ढोना क्यों स्वीकार किया, इसके कई कारण हो सकते हैं।"[4] यहाँ लेखक का कहना है कि उन कारणों को बताना शायद केतकर जैसे विद्वान के लिए जरूरी नहीं था। यह उदासीनता ही है, जो इस समाज के विकास में बाधक बनी है। यथास्थिति बनाए रखने में विद्वानों, लेखकों, राजनीतिज्ञों का भी बहुत बड़ा हाथ है।

हिन्दुत्व की भावना के प्रबल समर्थक या उससे प्रभावित लोगों की धारणा है कि भारत में इस्लामी शासन से पूर्व यहाँ भंगी नहीं थे। ये विद्वान ऐसे तथ्यों को पूर्वाग्रह होकर प्रस्तुत करते हैं। बौद्ध कालीन 'सुणीत भंगी' के तथ्यों को अनदेखा करते हैं। जैन धर्म में जिन पाँच लोगों को दीक्षा देने की मनाही है उनमें एक मलमूत्र ढोनेवाला 'बंसोड़' भी बताया गया है। इसका अर्थ है कि भारत में इस्लामी शासन

---

[1]. सफाई देवता-ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.35
[2]. सफाई देवता-ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.36
[3]. सफाई देवता-ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.36
[4]. सफाई देवता-ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.36

से पूर्व भी यह जाति विद्यमान थी। जिसे विद्वानों में अनदेखा करने की प्रवृत्ति मौजूद थी।

'वाल्मीकि-समाज' की उत्पत्ति इन दार्शनिक विवेचनाओं की दलदल में हुई। यह एक ऐसा दलदल था, जहाँ कमल नहीं खिलते, पीढ़ी भीषण दुःख, वेदनाएँ, तड़प, दासता पैदा होती है। इस दासता का कोई ओर-छोर नहीं है। दुर्गम, अँधेरे की पगडंडियों पर न जाने कितनी जिन्दगीयाँ खत्म हो गई। फिर भी कहीं कोई हलचल नहीं, कोई एहसास नहीं। महानता के मद में चूर हाथी लाखों-करोडों भंगियों को रौंदता चला जा रहा है।

भारतीय साहित्य, संस्कृति ग्रन्थों या अन्य सामग्री पर एक दृष्टि डालें तो स्थिति स्पष्ट होगी। डॉ. गोविन्द सदाशिव घुर्ये लिखते हैं कि- "छान्दोग्य उपनिषद में यह बताया गया है कि यदि कोई व्यक्ति जिसने ब्रह्म के वास्तविक रूप की अनुभूति प्राप्त कर ली हो यज्ञ या अग्निहोत्र के उपयोग से बचे हुए भोजन को चंडाल को भी दे दें तो वह यज्ञ की अग्नि में दी गई आहुति के समान ही होगा। इसके विपरीत चंडाल को भोजन भेंट करना घृणित कार्य है, यह स्मरण रखना इतना आवश्यक है कि चंडाल का वंश पतित है और इसकी समानता कुत्ते तथा सूअर से की गई है।"[1]

धर्मसूत्रों के अनुसार चंडाल जन्मना अस्पृश्य थे, जिन्हें सामाजिक स्तर पर हीन समझा जाता था, और गाँव से बाहर रहने को बाध्य किए जाते थे। यह प्रवृत्ति आज भी मौजूद है, लेकिन थोड़ा रूप बदलकर। अनेक शिक्षण संस्थाओं, मेडिकल कॉलेज, इंजीनियरिंग कॉलेज आदि के हॉस्टल में आज भी दलित छात्रों को अलग हॉस्टल में रहने के लिए बाध्य किया जाता है।

मनु ने तो चंडाल और अन्य सभी अस्पृश्यों को अधम स्थिति में पहुँचाने के जो नियम, कायदे-कानून निर्धारित किए थे, वे किसी भी तरह मानवीय नहीं कहे जा सकते हैं। उसके अनुसार चंडाल की सम्पदा गधे, कुत्ते और शवों से उतरे क़फन हैं। दिन में गाँव, बस्तियों में उनका प्रवेश प्रतिबन्धित कर दिया गया था। वे सिर्फ रात में ही गाँव में आ सकते थे। चंडाल और श्वपाक गाँव से बाहर रहने को बाध्य किए गए थे। मनु ने शासनादेश से चंडालों और श्वपाकों को खास चिह्न धारण करने के आदेश जारी कराए थे। और मनु चंडालों के लिए "अंत्यज' शब्द भी प्रयोग करते हैं। चंडालों का पेशा सड़कों, गलियों की सफाई करना, श्मशान का काम करना, अपराधियों को फाँसी पर लटकाना

[1].जाति, वर्ग और व्यवसाय - डॉ.गोविन्द सदाशिव घूर्ये, पृ.194

और रात में चोरों का अनुसंधान करना।"[1] इन तथ्यों के आधार पर यह कह सकते हैं कि सफाई कार्य करनेवाली ये प्राचीन जातियाँ लगातार रूपान्तरण के दौर से गुजरती रहीं। इनके नाम बदलते गए। लेकिन इनकी अपनी पहचान बनी रही।

लेखक का कहना है कि सफाई कार्य से जुड़े अनेक समूह एक स्थान से दूसरे स्थान तक भटकते हुए जब नगरों, महानगरों में बसने लगे, इनकी बस्तियाँ बनने लगीं, ऐसे दौर में अपने नए नामों, नए समूह में जुड़कर भी उनकी पहचान बरकरार रही। प्राचीन नाम डोम, चंडाल, श्वपाक आज के भंगी, चूहड़ा, लालबेगी, मेहतर आदि नामों में रूपान्तरित होकर एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में जाते रहे हैं। एक समय पंजाब, उत्तर प्रदेश में लालबेगी कहे जानेवाला समूह 'वाल्मीकि' में समाविष्ट हो गया है।

उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि गत तीन हजार वर्षों के दमन, शोषण से दबी, कुचली यह जाति विपरीत परिस्थितियों में रहते हुए भी अभी तक अपना अस्तित्व बनाए रखने में सफल रही है। इतिहास के काले अध्यायों ने इसे अमानषिक यातनाएँ दी हैं। गलीज जीवन जीने के वे तमाम हथकंडे अपनाकर इन्हें दासता की जंजीरों में जकड़कर रखा गया। लेकिन यह 'जाति' फिर भी उठकर खड़ी होती रही है। समाज को स्वच्छ रखने की इसकी भावना को हमेशा तिरस्कार ही मिला है। लेकिन इस नारकीय जीवन से बाहर आने की छटपटाहट उसके भीतर हमेशा रही है।

यह समाज हजारों साल के इतिहास में अनेक यातनाओं, तकलीफों से गुजरा है। अमानवीय स्थितियों का निर्माण करने में संस्कृत साहित्य का बहुत बड़ा योगदान है। स्मृतियों, पुराणों, धर्मसूत्रों, महाकाव्यों में उसे अधम स्थितियों में पहुँचाने की भूमि तैयार की है। इसमें मनु, बोधायन, गौतम, वशिष्ट, कौटिल्य आदि की भूमिका घोर वैमनस्य पैदा करने में प्रमुख रही। मनुस्मृति शुंगकाल की रचना है। पुष्पमित्र शुंग मौर्यवंश के अन्तिम शासक वृहद्रथ का सेनापति था, जिसका जन्म एक ब्राह्मण परिवार में हुआ था। शुंगकाल में ब्राह्मणवादी विचार चरम पर था। सभी बौद्ध-विहार खंडहरों में तब्दील कर दिए गए थे- बौद्ध भिक्षुओं का कल्लेआम, सामूहिक हत्याएँ शुंगकाल की सबसे बड़ी उपलब्धियाँ हैं, और लेखक कहते हैं कि "उसने यह घोषणा की थी कि जो कोई एक भिक्षु का सिर काट कर लाएगा

[1].सफाई देवता-ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.45

उसे सौ स्वर्ण मुद्राएँ दी जाएँगी।"[1] बौद्ध धर्म के लिए यह एक भयानक दौर था। इसी काल में अनेक भिक्षु बौद्ध धर्म से विमुख होकर आज भी दलित जातियों में समाहित हो गए। सम्भव है 'भंगी-समाज' उन बौद्ध भिक्षुओं का ही रूपांतरित रूप हो। जिनसे बदले की भावना के तहत उनके लिए हिन्दु-समाज ने इतने कड़े नियम-कानून बनाए। उनका बहिष्कार किया। शिक्षा से दूर रखने के षड्यंत्र रचे। संस्कार से वंचित रखा। सबसे घृणित, अस्वच्छ कार्य करने को बाध्य किया।

सिद्ध और नाथ सम्प्रदाय में इस समाज की गहरी आस्था रही है। कहा जाता है कि चौरासी सिद्धों में एक 'जोगीप्पा' भी थे। जिसका उदन्तपुर (बिहार शरीफ) के एक भंगी परिवार में जन्म हुआ था। उदन्तपुर को बारहवीं शताब्दी में आग के हवाले कर दिया गया था। 'जोगीप्पा' का दूसरा नाम 'अजोगीपा' भी है। यह शबरिपा के शिष्य माने जाते हैं।

अस्पृश्यों के प्रति भारतीय साहित्य कभी भी संवेदनशील नहीं रहा है। इसीलिए दुर्भावना की भीषण स्थिति निर्मित हुई। धर्मसूत्रों, ब्राह्मण ग्रन्थों, स्मृतियों में चंडाल को एक मनुष्य की तरह नहीं देखा गया है। उस पर तरह-तरह के प्रतिबन्ध लगाए गए। 'वर्ण-व्यवस्था' की संकल्पना ही एक साजिश थी, जिसमें शूद्र और अंत्यज, अस्पृश्य के लिए कहीं भी सम्मान का भाव दिखाई नहीं पड़ता है।

'धर्मसूत्रों' में चंडाल को पशुवत माना गया है और प्रायः कुत्तों और कौओं के साथ जोड़ा गया। उदाहरण के लिए लेखक ने लिखा है कि "'आपतस्तम्ब' के अनुसार वैश्य देव कर्मकांड के बाद गृहस्थ चंडालों को, कुत्तों के साथ भोजन दे सकता है, और 'वशिष्ट' के अनुसार कुत्तों और कौओं के साथ, किन्तु 'आपतस्तम्ब' में एक ऐसी विचारधारा का उल्लेख किया है। जिसके अनुसार चंडाल आदि अपात्र लोगों को भोजन नहीं देना चाहिए।"[2] और लेखक ने मनुस्मृति, खुद्दक निकाम, विनयपिटिक, तथा कल्हण की राजतरंगणी आदि ग्रन्थों का जिक्र करते हुए डॉ.अम्बेडकर, कौटिल्य, राइस डेविस, रामशरण शर्मा, एम.आर. मलकानी, भगवानदास, रोमिला थापर आदि साहित्यकारों और रचनाकारों का भी जिक्र किया है।

---

[1].सफाई देवता - ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.49

[2]. सफाई देवता- ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.50

यहाँ यह कहना भी जरूरी है कि तमाम संवैधानिक अधिकार प्रदत्त किए जाने के बाद भी सामाजिक जीवन में जातीय भेदभाव, अस्पृश्यता भाव विशेष रूप से भंगी-समाज के साथ आज भी विद्यमान है। जिसकी जड़ें अतीत में बहुत गहरे तक विद्यमान हैं, जो निरन्तर वर्तमान को प्रभावित और संचालित करती हैं। इसीलिए भंगी-समाज में शिक्षा, सम्पत्ति, पद तथा पारम्परिक रूप से अस्वच्छ धन्धे न करना भी आम सामाजिक जीवन के पारस्परिक सम्बन्धों में समान व्यवहार की कोई गारंटी नहीं है।

इतिहास में जहाँ इस समाज के साथ गहरी उपेक्षा, प्रताड़ना परिलक्षित होती है, वर्तमान में भी कुछ कम नहीं है। समय और विपरीत परिस्थितियों में इस समाज को एक जगह से दूसरी जगह स्थानांतरित होते रहना पड़ा-अछूत जातियों में सबसे ज्यादा प्रताड़ना, भेदभाव भी इसी समाज को सहना पड़ा है। सबसे ज्यादा स्थानांतरण भी इसी समाज के हिस्से में आया है। उत्तर भारत के भंगी, चूहड़े, वाल्मीकि, लालबेगी-महाराष्ट्र, बंगाल, असम, सैनिक छावनियोंवाले शहरों, वर्मा (म्यांमार), मॉरिशस, आन्ध्र प्रदेश में स्थानांतरित हुए हैं।

भारतीय समाज-व्यवस्था में जो भी अस्पृश्य मान लिया गया, उसके सूत्र कहीं-न-कहीं उन हारे हुए लोगों से जुड़ते हैं, जिन्हें पुराणों, वेदों, धर्मसूत्रों, स्मृतियों आदि संस्कृत और वैदिक साहित्य के अनार्य, दस्यु, नाग, दास, राक्षस के नाम से पुकारा गया। दस्यु का आज जो रूढ़ अर्थ है- चोर, डाकू, लुटेरा, बटमार आदि, वह एक अलग पहचान वाला समूह था, जिसने आर्यों की अधीनता स्वीकार नहीं की। उनके धर्म को स्वीकार नहीं किया। वेदों को नहीं माना । जिसके कारण उन्हें सामाजिक बहिष्कार का शिकार होना पड़ा और एक लम्बे दौर में ये निष्कासित लोग जीविका के लिए इनके करीब आने की चेष्टा में, इनके प्रतिबन्धों को झेलते रहे। लेकिन विपरीत परिस्थितियों के बाद भी ये अपनी पहचान बनाए रखने में सफल रहे। चंडाल, डोम, श्वपाक और फिर भंगी, मेहतर, लालबेगी आदि-आदि। एक लम्बे काल में आर्यों, ब्राह्मणों की वर्चस्ववादी नीतियों, प्रतिबन्धों ने इन्हें दीन-हीन, शिक्षाविहिन बना देने की तमाम कोशिशें जारी रहीं। बदले की भावना के तहत हिन्दू-समाज ने इन्हें विकास से दूर रखकर अपनी घृणा का प्रदर्शन किया। आज भी राजस्थान, महाराष्ट्र, मध्य प्रदेश के अनेक मंदिरों में इनका प्रवेश निषेध है।

पंजाब, हरियाणा, पश्चिमी उत्तर प्रदेश में चूहड़ा जाति को ही भंगी कहा जाता है। पंजाब में चूहड़ा, मजहबी और मुसल्ली तीन प्रकार के भेद हैं। चूहड़ा-हिन्दू, मजहबी-सिक्ख और मुसल्ली-मुसलमान

मुसलमान चूहड़ों के रीति-रिवाज हिन्दू चूहड़ों से मिलते-जुलते थे। वे भी अपने आपको वाल्मीकि की सन्तान समझते हैं। साथ ही घुंघरबेग, लालबेग, मलूक, पीर छोटा आदि इस जाति के विशिष्ट और महत्त्वपूर्ण पीर हैं।

पंजाब, हरियाणा, राजस्थान, पश्चिमी उत्तर प्रदेश की 'भंगी या वाल्मीकि' जाति की कई उपजातियों ने अपने पुराने नाम चूहड़ा, लालबेगी, बल्हार, मुसल्ली आदी छोड़कर स्वयं को वाल्मीकि कहने लगे। सफाई कार्यों के साथ-साथ सूअर--पालन उनके जीवन का हिस्सा था। यह उनकी आर्थिक अवस्था का आधार रहा है। साथ ही उनकी धार्मिक आस्थाओं, अनुष्ठानों में सूअर उनके लिए सदैव महत्त्वपूर्ण रहा है। तीज-त्यौहार हों, या जन्म-मृत्यु, शादी-विवाह सभी में भोज और दावत में सूअर का मांस जरूरी था। यह जीवन की जरूरत था। इसीलिए सूअर-पालन पर ये लोग विशेष जोर देते हैं, साथ ही विशेष ध्यान और कुशलता से इनका प्रजनन ही नहीं किया जाता था, बल्कि इनके पालन और विकास भी विशिष्ट तौर-तरीकों से किया जाता था। प्रत्येक परिवार में घरों के पास इन्हें बन्द करने के लिए एक 'सुराड़ा' बनाया जाता था, जिसकी जमीन मिट्टी की होती थी, जिसे सूअर अपनी थूँथनी से खोदकर अपनी सोने की जगह बनाता था।

लेखक का कहना है कि "अधिकतर लोग सूअर को गन्दगी का प्रतीक मानते हैं जबकि वास्तविकता ठीक इसके विपरीत है। नगरों में सभी नगरपालिकाएँ आवारा घूमते सूअरों से परेशान रहती है। कहा जाता है कि सूअर गलियों, सड़कों पर गन्दगी फैलाते हैं। जबकि सूअर सड़कों, गलियों, नालियों में मनुष्य द्वारा फेंकी गई गन्दगी को खाता है और गलियों, सड़कों को गन्दगी से मुक्त करता है। पर्यावरण को सन्तुलित करने में महत्त्वपूर्ण योगदान देता है। शहर को स्वच्छ रखने में मदद करता है। लेकिन फिर भी लोगों की धारणाओं में यह बैठा दिया गया है कि यह गन्दगी फैलानेवाला जानवर है। यही या कहें इसी तरह की धारणाएँ 'भंगी-समाज' के प्रति भी समाज में प्रचलित हैं कि ये गन्दे होते हैं, इनके स्पर्श से पाप लगता है।"[1]

[1]. सफाई देवता - ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.66

एक समय था जब पंजाब में वाल्मीकियों से ज्यादा 'लालबेगियों' की संख्या थी। लालबेगी पंजाब और उत्तर प्रदेश से अन्य क्षेत्रों, प्रान्तों में जीविका, रोजी-रोटी कमाने की दृष्टि से गए थे। आज यह जाति समूचे भारत में फैली है। लालबेगी पर इस्लाम का गहरा प्रभाव है। वे दोनों धर्मों के रीति-रिवाजों को मानते हैं। शादी-विवाह मुस्लिम रीति-रिवाज से करते हैं।

'मलकाना' मुस्लिम भंगी हैं। कोल्हापुर, सतारा इलाकों में मलकाना समाज के लोग भंगी व्यवसाय में हैं, उन्हें स्थाई मेहतर कहा जाता है। शाहू महाराज ने इनकी दशा सुधारने के लिए कई कदम उठाए थे, जिनका उल्लेख 'मेहतर समाज स्मारिका' में मिलते है, और हमें ऐसा लगता है कि जाति-व्यवस्था ने इस समाज की अनेक प्रतिभाओं को पनपने का अवसर नहीं दिया। यदि इन विपरीत परिस्थितियों में किसी ने अपना रास्ता स्वयं बनाने की कोशिश भी की है तो उसे मान्यता नहीं मिली। यह सिलसिला हजारों साल से चल राहा है।

'मेघवालों' की बस्ती साफ-सुथरी और ठीक-ठाक होती है। उनके घर के पहले कमरे में लकड़ी के तख्ते पर बर्तन करीने से रखे रहते हैं। इसके अलावा पुरानी पद्धति की एक चारपाई अवश्य ही होती है। इस चारपाई के बारे में बी.एच.मेहता ने अपने शोध में मजेदार जानकारी दी है। इस संदर्भ में लेखक कहता है कि "मेघवाल अस्पृश्य हैं, लेकिन बुनकर होने के नाते उनकी आय का जरिया उनके पास है। इसीलिए वे आर्थिक रूप से अन्य उपजातियों से कुछ ठीक हैं। जो उनके रहन-सहन में भी दिखाई पड़ता है। वे यह भी बताने की कोशिश करते हैं कि वे 'भंगी' नहीं वणकर हैं।"[1]

'भंगी' की यह भी एक उपजाति 'हलालखोर' है। कुछ लोगों का कहना है कि यह नाम अकबर ने उन्हें दिया था। यह ठीक उसी प्रकार की सोच का परिणाम है जैसा गांधी ने दलितों को हरिजन नाम दिया या भंगी से सफाई कर्मचारी या स्वच्छकार कहना। यानी समस्या का निधान सिर्फ नाम भर बदल देने से हो जाना है।

भारत की मूल जनजाति जिन्हें डोम, डूमरा, डोमरा, डोम्बो, डोम्बू आदि जो जाती है भारत के कोने-कोने में फैली सफाई कार्य से जुड़ी जाति है, जो संगीतकार है, कभी बुनकर का काम भी करती

[1].सफाई देवता- ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.75

है, पैसों के लेन-देन का भी कारोबार करती है।

कर्नाटक राज्य में 'बेड़ा' एक जनजातीय समूह है, जिन्हें 'वाल्मीकि-समाज' कहा जाता है। वे स्वयं को रामायण रचयिता आदिकवि वाल्मीकि के वंशज कहते हैं। इसी से वे अपने-आपको 'वाल्मीकि-समाज' कहते हैं। इस जाति को लेकर लेखक ने केन्नेडी, डॉ.पी.बी.देसाई, डॉ.कट्टिमणि, लारेंस डिसुजा, बी.आर.गुलाटी, प्रो.अंजनेयलु आदि रचनाकोरों और साहित्यकारों का जिक्र किया है।

उत्तर प्रदेश में लखनऊ के आसपास 'धानुक' जाति की संख्या अधिक है। ये हिन्दू देवी-देवताओं की पूजा करते हैं। रामनवमी में उपासना करते हैं। सप्तमी, अष्टमी, नवमी को सूअर के बच्चे की बलि चढ़ाते हैं। माई (देवी) पर काला या सफेद बच्चा चढ़ाते हैं। छिटकी-बुंदकी के आधार पर इनकी शादी-विवाह तय होते हैं। छिटकी-बुंदकी न मिलने से रिश्ते नहीं बनते। इनमें 'जसगीत' गाने की एक विशिष्ट शैली पाई जाती है।

वाल्मीकि, चूहड़ा, लालबेगी, हलालखोर आदि हिन्दू और मुसलमान दोनों ही मिल जाएँगे। मुसलमान भंगी को शेख, हलालखोर के नाम से जाना जाता है। पंजाब में चूहड़ा जति धार्मिक तौर पर न हिन्दू थी, न मुसलमान। उनका ईष्ट देव लालबेगी था। वे एक ईश्वर की उपासना करते थे। दुआएँ माँगते थे। प्रार्थना करते थे। उनकी इस प्रार्थना को कुर्सीनामा कहा जाता है।

चूहड़ा जाति के लोग मन्दिर नहीं बनाते, बल्कि ढाई ईंट का एक ताक-सा बनाते हैं, जिसमें दिया जलाते हैं। कहीं-कहीं एक ऊँचे चबूतरे पर बौद्ध स्तूपों की तरह गोल गुम्मद जैसा मन्दिर भी बनाते थे, जिसे वे मन्दिर नहीं कहते थे। वहाँ मुर्गे की बलि देने का भी रिवाज था। बलि देते समय मुर्गे का सारा खून एक बर्तन में जमा किया जाता था। फिर भगत, तिनकों का एक छोटा-सा झाड़ बनाकर, उसे खून में डूबोकर सब घरों की दीवारों पर छिड़का जाता था। उनका विश्वास था कि जिन घरों पर यह खून छिड़का जाएगा, वहाँ बुरी आत्माएँ, बीमारियाँ नहीं आएँगी। वर्ष में एक या दो बार मूर्ग-मलीदा भी चढ़ाया जाता था। चूहड़ों की बस्तियों में 'बाबे का थान' ढाई ईंटों को जोड़कर बनाया जाता था, और लेखक ने इन जातियों की पूजा-पद्धतियों का वर्णन भी किया है।

कुछ पूजा-पद्धतियों के आधार पर हमे ऐसा प्रतीत होता है कि इस समाज का सीधा सम्बन्ध बौद्ध धर्म से है। जो तंत्रयान बौद्ध परम्परा से होते हुए नाथ और सिद्धों तक और फिर समय के बहाव में,

हिन्दू समाज की घोर उपेक्षा के कारण इनका सम्बन्ध शिक्षा और पुस्तकों से दूर होते गए। अपनी सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक परम्पराओं को सहेज कर न रख पाने में असमर्थ होने के कारण, इनकी पहचान धुँधलके में खोने लगी। हिन्दू समाज ने इनकी सम्पदा, प्रतिभा, ऐतिहासिकता को कुचलकर गर्त में धकेल दिया। अपने लिए सम्मान और अस्मिता की तलाश में यह समाज कभी इस्लाम की ओर झुकता है, कभी ईसाइयत, तो कभी आर्य समाज, निरंकारी, सिक्ख धर्म के करीब जाता है, लेकिन जब ठौर-ठिकाना नहीं मिलता, तो भावाधस, आदि धर्म समाज जैसी धार्मिक संस्थाओं को निर्मित कर ब्राह्मणी-धर्म की तरह मन्दिरों का निर्माण कर घंटियाँ, उपासना आदि में लग जाता है।

ओमप्राकश वाल्मीकि ने भंगी या चूहड़ा और वाल्मीकि समाज के अन्य उपजातियों के 'गोत्रों' पर विचार की गई। ये 'गोत्र' 'ब्राह्मण-व्यवस्था' से भिन्न गोत्र हैं। कुछ गोत्र राजस्थान की क्षत्रिय जातियों से मिलते हैं, तो कुछ अन्य जातियों से। इस संदर्भ में डॉ.अम्बेडकर ने लिखा है कि "शूद्र आर्य हैं या भारत की मूल जातियाँ हैं, या दूसरी जातियों का मिश्रण हैं। यह प्रश्न आजकल खास व्यवहारिक नहीं है। प्राचीन काल में इनका स्वयं वर्ग था, और समाज में उनका स्थान चौथा या और अन्तिम श्रेणी में रखा गया था, फिर भी वे तीन श्रेष्ठ जातियों से दूर थे। यदि यह मान भी लिया जाए कि आरम्भ में ये आर्य नहीं थे, तब भी तीन आर्यजातियों के साथ व्यापक स्तर पर अन्तर्जातीय विवाह के चलते वे आर्य समुदाय में घुल-मिल गए थे। कुछ मामलों में उन्हें हानि की बजाए लाभ अधिक हुआ, और शूद्र कही जानेवाली बहुत-सी जनजातियाँ वास्तव में और कुछ न होकर ब्राह्मण और क्षत्रीय के निकट हैं। संक्षेप में वे अन्य प्रजापतियों में काफ़ी घुल-मिल गई जैसे ही इंग्लैंड के कैल्टिक कबीले आंग्ल सेक्शन जाति में विलीन हो गए और उनकी जो भी अलग पहचान थी उसका पूर्णतया अस्तित्व मिट गाय।"[1]

भारतीय समाज में दो प्रथाएँ एक साथ चल रही हैं-'दान-प्रथा' और 'बेगार-प्रथा'। 'बेगार-प्रथा' दलितों के लिए है और 'दान प्रथा' ब्राह्मणों, मन्दिरों संस्थाओं के लिए है। बिना शारीरिक श्रम किए 'दान' में इतना मिल जाता है कि उन्हें शारीरिक श्रम करने की आवश्यकता नहीं थी। कहा जाता है कि भारत कृषि प्रधान देश हैं, लेकिन यदि किसी ब्राह्मण ने 'हल' छू दिया तो निकृष्ट मान लिया जाता

[1].डॉ.बाब साहेब अम्बेडकर-सम्पूर्ण वाङ्मय, खंड-1,भूमिका, पृ.XXI

है। उसका ब्राह्मणत्व कम हो जाता है।

बेगार-प्रथा भारतीय ग्रामीण जीवन में दृढ़ता के साथ संस्थापित की गई थी। जिसका अन्त डॉ.कअम्बेडकर के आन्दोलन के कारण हुआ। फिर भी इस प्रथा के घृणित रूप आज भी ग्रामीण क्षेत्रों में मौजूद हैं। इस संदर्भ को लेकर लेखक ने उदाहरण के लिए प्रेमचन्द की 'सद्गति' कहानी में इस प्रथा का विकट रूप और षड्यन्त्रकारी अमानवीय रूप को चित्रित किया है। इन पंक्तियों के लेखक की आत्मकथा 'जूठन' में इस प्रथा का विस्तृत और भयावह रूप दिखाया गया है।

भंगी जिस जर्जर अवस्था में अन्याय सहते हुए, कष्टपूर्ण जीवन जीते हैं, वह सभ्य कहे जानेवाले लोगों को दिखाई नहीं देता है। उनकी इस उपेक्षा के कारण ही, वे अपने को हीन मान बैठे हैं, क्योंकि कदम-कदम पर उनके जहन में भरा गया कि तुम्हारे पूर्व जन्मों का फल है जो तुम भंगी के घर जन्मे हो। ये बात इतनी बार दोहराई गई कि इन लोगों ने इस झूठ को भी सच मान लिया, जबकि यह एक दार्शनिक साजिश है।

वर्ण-व्यवस्था, जाति-व्यवस्था के सबसे निचले पायदान पर खड़ा यह समाज भूल गया है कि इस गन्दे और अस्वास्थ्यकर काम के बदले उन्हें जूठन और उतरन दी जाती है, इसका गन्दे और अस्वास्थ्यकर काम के बदले उन्हें जूठन और उतरन दी जाती है, इसका विरोध करना चाहिए था, वे नहीं कर पाए। विरोध करने की तमाम कोशिशों पर बंधन थे। एक सोच-समझी घेराबन्दी थी, जो आज भी मौजूद है। यह ऐतिहासिक वैमनस्यता है, जिसे भंगी-समाज को समझ लेना चाहिए, वरना हजारों साल आगे और अन्धेरा है, जो बहुत घना है। जिससे बाहर निकलना मुश्किल होगा। हीनता-भरी मानसिकता ने उन्हें कमजोर किया है। उनके आत्मविश्वास को तोड़ा है, बल्कि उनकी विचार शक्ति को भी छिन्नभिन्न कर दिया है। इसका भयानक रूप पेशव राज में देखा जा सकता है। जब भंगी बस्ती में आता था तो शोर करते हुए आता था, ताकि उच्चवर्णीय लोगों को पता चल जाए कि कोई भंगी आ रहा है। काम के बदले जो रोटी उन्हें दी जाती थी, उसे एक लम्बे बाँस में फँसाकर दूर से ही देते थे कहीं उनकी परछाई, देनेवाले तक न आ जाए, और वे अपवित्र न हो जाएँ।

भारतीय समाज-व्यवस्था सामन्ती ढाँचे पर निर्मित हुई है। जिसे ऋषि-मुनियों, राज-पुरोहितों ने तैयार किया और दार्शनिकों, विचारकों, साहित्यकारों ने खाद-पानी देकर सुदृढ़ किया है। आज कहने

को तो भारत में लोकतन्त्र है। लोक यानी जनता द्वारा संचालित। लेकिन समाज-व्यवस्था के सामने बौन। जहाँ जातीय अहम ही सर्वश्रेष्ठ है, शक्तिशाली है। जिसने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र को प्रभावित ही नहीं किया अपनी गिरफ्त में कसा हुआ है। इसकी गिरफ्त इतनी ताकतवर है कि भंगी-समाज इससे छूट नहीं पा रहा है।

इस समाज की वर्तमान आर्थिक, सामाजिक स्थिति का विश्लेषण करने के लिए अतीत को अनदेखा नहीं किया जा सकता है। कुछ लोग अक्सर कहते हैं कि 'यह समाज अपनी नारकीय स्थिति से उबरना नहीं चाहता है।' अक्सर सामाजिक कर्यकर्ता यह शिकायत करते हैं कि हम उन्हें समझाना चाहते हैं, उन्हें जागरूक करना चाहते हैं, पर वे समझना ही नहीं चाहते हैं। कुछ लोग यह तक कहते हैं कि - 'सफ़ाई कार्य करते-करते ये इतने आलसी हो गए हैं कि दो घंटे काम करो और फिर दिन भर निठठल्ले बैठे रहो'...यानी वे कहना चाहते हैं कि वे यथा-स्थिति से सन्तुष्ट हैं या फिर वे महत्त्वाकांक्षी नहीं हैं... ऐसा कहकर वे उन तमाम कारणों, स्थितियों, षड्यन्त्रों को नजरअन्दाज करते हैं, जिनके कारण ये इस स्थिति में पहुँच हैं।

धर्मसूत्रों, स्मृतियों के अध्ययन से साफ दृष्टिगोचर होता है कि ये आचार संहिता भंगी-समाज पर जबरन थोपी गई है। जिसके कारण उनहें गाँव के दक्षिण में रहना पड़ता था, वे अपना निवास पूरब में नहीं बना सकते थे। वे अपने पास कोई सम्पत्ति या भूमि नहीं रख सकते थे। किसी सवर्ण के सामने बैठ नहीं सकते थे। सीधे खड़े नहीं रह सकते थे। घोड़े या पालकी पर भंगियों का दूल्हा नहीं जा सकता था। आज भी ऐसी घटनाएँ लगातार हो रही हैं।

हिन्दू समाज में जातियों का निर्माण, फिर ऊँच-नीच के आधार पर उनका विभाजन एक योजना के तहत हुआ है। जिसे दार्शनिक आधार देकर सुदृढ़ किया जाता रहा है। जिसका उद्देश्य समाज पर वर्चस्व बनाए रखना एक वर्ग के लिए जरूरी था। सत्ता पर अपना अधिकार बनाए रखने के लिए यह वर्ग नये-नये हथकंडे का इस्तेमाल करता है। जो विभिन्न रूपों में दिखाई पड़ते हैं। जातियों को निम्न से निम्न बनाकर उन पर अपना शिकंजा कसते रहना और फिर उन जातियों को 'गाली' की तरहा इस्तेमाल करना एक सोची-समझी रणनीति है। इसीलिए भंगी, मेहतर, जमादार, धेड़, चमार गालियों की तरह प्रयोग में लाए जाते हैं। यह इन जातियों की दुर्दशा का प्रतीक है। अनेक संस्थाएँ सरकारी,

गैर-सरकारी अपने आकर्षक, भव्य दावों के बावजूद भी, इनकी मुक्ति असम्भव लगती है। आज भी ये इस नारकीय जीवन की अन्धी सुरंग से बाहर निकलने का रास्ता खोज रही है।

लेखक जयप्रकाश वाल्मीकि का जिक्र किया है, और उन्होंने अपने लेख में कहा हैं कि - "सफाई कार्य को कम कष्टप्रद बनाने के लिए संगठित क्षेत्रों में कुछ सुविधाएँ दी गई हैं। जैसे नगर निगम, परिषद में कचरा उठाने की हाथ गाड़ियाँ, डम्पर और उसके साथ कचरा भरने की मशीन आदि। लेकिन इस दिशा में भी अभी बहुत कुछ करना शेष है। जैसे सीवर लाइनों की बनावटों में सुधार लाना तथा कस्बों की पालिकाओं के अधीन सफाई कर्मचारियों को समय पर वेतन आदि का भुगतान एवं चिकित्सा व अन्य सुविधाएँ मुहैया कराना सम्मिलित है। जहाँ तक असंगठित क्षेत्र के सफाई कर्मचारियों के प्रति जवाबदेही की बात है, उस ओर सरकार क़तई ध्यान नहीं दे रही है। सरकारी गैर-सरकारी का भेद इस सन्दर्भ में पूरी तरह बैमानी है। सफाई का काम जितना महत्त्वपूर्ण है, यह बताना जरूरी नहीं है। इसलिए उससे जुड़े हर व्यक्ति के स्वास्थ्य व कल्याण का नैतिक उत्तरदायित्व पूरी तरह सरकार तथा समाज पर है, जिसे समझा जाना जरूरी है। दुःख की बात यह है कि करोड़ों रुपयों से संचालित सफाई कर्मचारियों के पुनर्वास की राष्ट्रीय योजनाएँ संपूर्ण वाल्मीकि जाति की 'मुक्ति' का भाव कहीं दिखाई नहीं देता।"[1]

उदारीकरण और भूमंडलीकरण के इस दौर में सरकार ने अपनी जिम्मेदारी से बचने के लिए सफाई कर्मचारियों की भर्ती पर ही रोक लगा दी है। सफाई का सारा काम ठेके पर कराया जाने लगा है। अकेले दिल्ली में सफाई के इस काम में 50 हजार सफाई कर्मचारी लगे हुए हैं। ठेकेदार इनका शोषण करते हैं, और इनकी सुरक्षा के प्रति लापरवाह हैं। दूसरे शब्दों में सरकार की भूमिका भी सन्देह के घेरे में आ जाती है। पहले इन कर्मचारियों से पिंड छुड़ाया, और फिर ठेकेदार के हवाले कर दिया। जो इनकी सुरक्षा के प्रति तो लापरवाह है ही, इनका आर्थिक शोषण भी करता है। स्थानीय निकाय, न्यायपालिका, कार्यपालिका भी इनके प्रति उतने ही लापरवाह हैं। इस काम के दौरान न्यूनतम सुरक्षा की ओर भी किसी का ध्यान नहीं जाता है। इसलिए ये लोग अमानवीय, नारकीय कार्य करने को मजबूर हैं। किसी कर्मचारी की कार्य पर मृत्यु हो जाने पर, उनके परिवार को मुआवज़ा तक नहीं मिलता है। किसी प्रकार की कानूनी लड़ाई लड़पाना इनके वश की बात नहीं है। दुर्घटना होने पर इनका परिवार, जो पहले ही खराब स्थिति

[1].सफाई देवता - ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.111-112

में होता है, और भी ज्यादा बदत्तर हालत में पहुँच जाता है।

आज भी ये सफाई कर्मचारी अत्यंत अमानवीय, असुरक्षित स्थितियों में काम करते हैं। क्या सरकार का यह उत्तरदायित्व नहीं है कि वह सफाई कर्मचारियों की सुरक्षा के पुखता इन्तजाम करे। आधुनिक मशीनीकरण करे। उनका जीवन बीमा करे। ठेकेदार पर कोई नियम लागू नहीं होता। न चिकित्सा सुविधा, न जाँच सुविधा। जब देश की राजधानी में ये हाल हैं तो बाक़ी शहरों में क्या होता होगा?

शहर छोटे हो या बड़े सफ़ाई कर्मियों की स्थिति सभी जगह एक जैसी ही है। समूचा देश उनकी कोशिशों को बेरहमी से कुचला गया। कभी धर्म का वास्ता देकर तो कभी संस्कृति का, वे तमाम हथकंडे इस्तेमाल करते रहे इन्हें अपने अधीन रखने के। समय की गर्त में डूबते चले गए। लेकिन न साज ने इनकी सुध ली, न धर्म है।

उपर्युक्त विवरण के साथ जयपुर (राजस्थान), इन्द्रा कॉलोनी, उरई (उत्तर प्रदेश), हरियाणा आदि नगरों में कर्मचारीयों का वास्तविक चित्रण हम इस कृति में देख सकते हैं।

भंगी-समाज 'वाल्मीकि' को भगवान मानता है। विशेष रूप से पंजाब में वाल्मीकि के मन्दिर, धर्मशालाएँ बहुतायत में देखने को मिलते है। बल्कि विदेशों में बसे इस समाज के लोगों ने अपने मन्दिर बना लिए हैं, और वहाँ वाल्मीकि की मूर्ति, चित्र प्रस्थापित किए हैं। अमृतसर से 12 किलोमीटर पर वाल्मीकि आश्रम है। जिसके विषय में वहाँ के निवासियों का मानना हैं कि वाल्मिकि ने इसी स्थान पर लव-कुश को शस्त्र विद्या की शिक्षा दी थी। उसी स्थान पर सीता की रसोई है।

इतना तो साफ है कि ऐसा वर्ग था जो वाल्मीकि की उपल्ब्धियों, लोकप्रियता से कहीं-न-कहीं डरा हुआ था, और एक विशिष्ट शैली में उन्हें छोटा बनाने की कोशिश में था। ऋषियों में यदि उन्हें माना तो 'तर्पण' से बाहर क्यों? यह एक ऐसा तथ्य है जो उन्हें किसी-न-किसी रूप में ब्राह्मणी-व्यवस्था से बाहर कर देता है। वास्तविकता चाहे जो भी हो लेकिन भंगी-समाज ने उन्हें भगवान का दर्जा दिया है। उनके मन्दिर बनाए हैं। 'प्रकट दिवस' मनाते हैं।

उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर कह सकते है कि आज 'वाल्मीकि' और भंगी एक-दूसरे के पर्याय हैं। भारत के अनेक नगरों में वाल्मीकि मन्दिर बन चुके हैं। अमृतसर, जलन्धर, बिठुर, हरका पौडी हरिद्वार, ऋषिकेश, चंडीगढ़, फतेहाबद (हरियाणा), हिसार, कुरुक्षेत्र, सन्नोर (पटियाला), रुड़की,

पंचकुइया (नई दिल्ली), बोलनी (मेरठ), बबीना, चित्रकूट धाम, कनखल (हरिद्वार), सीतामढ़ी, बागपत (मेरठ) स्थानों पर अनेक मन्दिर हैं। अमृतसर का वाल्मीकि तीर्थ एक विशिष्ट और प्राचीन स्थान है।

गोहना (सोनीपत, हरियाण) कस्बे में 31 अगस्त, 2005 को दिन-दहाड़े 11 बजे वाल्मीकि बस्ती के 50 घरों में जाटों ने लूटपाट, आगजनी का जो तांडव किया वह भारतीय समाज-व्यवस्था की वर्चस्ववादी सोच और संकीर्ण मनोवृत्ति का परिचायक है।

लेखक ने यह उद्धृत किया है कि 'सहारा समय' अपने सम्पादकीय में लिखा है- "गोहाना में वाल्मीकि बस्ती के पचास घरों में अब सिर्फ खाली दीवारें और जली हुई चीजों की राख है। हरियाणा के सोनीपत जिले की इस तहसील की बस्ती में ज्यादातर सफाई मजदूर रहते हैं। सौभाग्य से इस घटना में किसी की जान नहीं गई लेकिन दलित परिवारों की सारी गृहस्थी भस्म हो गई,जिसमें स्कूली बच्चों के कपडें, और बस्ते भी थे। कहा जाता है कि यह अग्निकांड जाट समुदाय के एक व्यक्ति की हत्या का प्रतिशोध लेने के लिए किया गया और अब इस समुदाय की पंचायत कह रही है कि जिन दलितों के घर लुटे और जलाए गए वे सब असामाजिक तत्त्व थे। यह भी कहा गया कि घटना से दो दिन पहले पंचायत ने दलितों के खिलाफ़ कार्यवाही के फैसले की सूचना प्रशासन को दी थी, लेकिन हरियाणा पुलिस ने उसे रोकने के लिए कुछ नहीं किया। इसका अर्थ है कि दलितों के घर फूँकने, लूटने का यह काम आकस्मिक प्रतिक्रिया या स्वतः स्फूर्त क्रोध में नहीं, बल्कि सोच-समझकर, योजनाबद्ध और तथाकथित पंचायती न्याय के आधार पर किया गया है, और पंचायत का अहंकार देखिए कि वह कानून हाथ में लेने, लूटपाट और आगजनी करने को 'न्यायोचित' मान रही है।"[1]

गोहाना कांड सिर्फ एक अग्निकांड नहीं है, यह समाज-व्यवस्था की क्रूर वास्तविकता का ही एक नया अध्याय है। हरियाणा में पंचायतों की तानाशाही कुख्यात है, और उनके सामन्तवादी, जातिवादी फैसलों के चलते दलितों, महिलाओं का उत्पीड़न हाल के वर्षों में हरियाणा की पहचान बन गई है। पंचायतें बुनियादी लोकतन्त्र और लोक प्रशासन की संस्थाएँ मानी जाती हैं। जिनसे समता और न्याय के मूल्यों की प्रतिष्ठा और रक्षा करने की उम्मीद की जाती है, लेकिन सामन्ती-जातिगत ताकतों के नियन्त्रण के चलते, खासकर हरियाणा जैसे राज्यों में उनका आचरण अक्सर जन विरोधी होता है। जाति

[1].सफाई देवता - ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.142

की जकड़नों से विद्रोह करने और अपनी इच्छा से स्वतन्त्र जीवन जीने की कोशिश करने वाले युवक-युवतियों को दंडित और उत्पीड़ित करना पंचायतों का काम हो गया है। क्योंकि जिन पंचायतों को राष्ट्रहित में सामाजिक बदलाव और जागरुकता लाकर विकास की धारा से जोड़ना चाहिए वे उसे और पीछे ले जाने के साथ-साथ जातीय प्रर्वाग्रहों को मजबूत करने में लगे हैं।

गोहना कांड पर वाल्मीकि-समाज को पुनर्विचार और मंथन विश्लेषण करना होगा। जैसी सामूहिकता, विरोध, जिस स्तर पर दिखाया है, इस समाज ने, वह भविष्य की ओर संगठनात्मक विकास का संकेत है। अमृतसर, जालंधर, लुधियाना, चंडीगढ़, पंचकूला, अम्बाला, सहारनपुर, देहरादून, दिल्ली, मुजफ्फरनगर, मेरठ, राजस्थान के अनेक नगरों आदि में जो प्रतिक्रिया हुई, वह भविष्य की धारा को प्रभावित करेगी। यहाँ गोहना कांड कोई ऐसी पहली घटना नहीं है। पूर्व गुजरात, दक्षिण भारत के अन्य राज्यों, उत्तर प्रदेश में, महाराष्ट्र आदि राज्यों में ऐसी घटनाएँ होती रहीं।

5.3.मुख्यधारा और दलित साहित्य- अस्मिता की तलाश :

प्रस्तुत इस पुस्तक में दलित-विमर्श और साहित्य-विमर्श से जुड़े लेख शामिल हैं जिनमें दलित साहित्य और जाती मुक्ति के प्रश्नों को उठाने की कोशिश की गई है। सेमिनारों-संगोष्ठियों में पढ़े गए कई लेख दलित-विमर्श की पक्षधरता का साक्ष्य तो बने ही, साथ ही साहित्य की संवेदनशीलता के सरोकारों को जीवंतता के साथ उभारने में भी सफल रहे हैं। दलित साहित्य, दलित चेतना और साहित्य की सामाजिकता को पुनःस्थापित करने के प्रयास भी इन लेखों में देखे जा सकते हैं।

लेखक के लेखों का क्रम इस प्रकार है कि -मेरे लिखने का कारण, मेरी रचना प्रक्रिया : अस्मिता की तलाश, मुख्यधारा के यथार्थ, दलित चेतना और हिंदी कथा साहित्य, दलित नैतिकता बनाम वर्चस्ववाद, दलितों के प्रति घोर अमानवीय व्यवहार और दोहरे मापदंड, दलित साहित्य और प्रेम का महत्व, भारतीय जाति-व्यवस्था और दलित-उत्पीड़न, बेगार-प्रथा : एक सामाजिक अपराध, स्त्री नैतिकता का तालिबानीकरण, धर्म की प्रासंगिकता के सवाल, 'जाति' से मुक्ति का सवाल, 1857 और हिन्दी नवजागरण, प्रेमचंद : संदर्भ दलित विमर्श, प्रेमचन्द की संवेदना का विस्तार : समकालीनता का संदर्भ-बिंदु, समकालीनता की अवधारण : कुछ प्रश्न और समस्याएँ, जूठन और दलित-विमर्श, बाल

साहित्य : मेरे अनुभव और उम्मीद अभी बाकी है..आदि लेखों का चित्रण इस कृति में किया गया है।

इस रचना में लेखक ने शुरू में कहता है कि- "हजारों साल की घुटन, अंधेरे में गुंजती चित कारों और भीषण यातनाओं से मुक्त होकर जब कोई खुली हवा में सांस लेने की कोशिश करता है तो उसके सामने सिर्फ चमत्कृत कर देने वाली रोशनी की चकाचौंध ही होती, उसकी अपनी अस्मिता का सवाल और पहचान भी उतनी ही तीव्र होती है। अज्ञानता और उत्पीड़न की पर्तों को तोड़कर जब पुस्तकों में छपे 'शब्दों' से साक्षात्कार हुआ, तो मेरे जैसे अनेक दलित लेखकों को अपनी-अपनी अभिव्यक्ति फूट करबाहर आई, मूक वेदनाएँ तड़प उठी और आक्रोशित चेतना साहित्य की एक ऐसी धारा के रूप प्रवाहित हुई जिसमें मुक्ति-संघर्ष की अनुभूतियों का प्रचंड, दग्ध आवेग तो है ही, संवेदनाओं की सूक्ष्म प्रस्तुति भी है। इसमें यथार्थवादी जटिलताएँ और मानवीय भावनाओं का महीन कसाव है, जो कलास्वादों और प्रतिमानों के पारंपरिक दलित पीड़ा को कभी उद्वेलित नहीं कर पाई।"[1] यहाँ मानव विकास की सतत प्रक्रिया और अतीत से वर्तमान को जोड़कर देखने का विश्लेषणात्मक दृष्टिकोण एवं साहित्य की समाज शास्त्रीय व्याख्या से विहीन हिन्दी साहत्य दलितों को चीखों से अनभिज्ञ ही रहा है। इन स्थितियों में लेखक का लिखने का कारण कहीं न कहीं इन वेदनाओं से स्वतः ही जुड़ जाता है।

हिन्दी साहित्य में जो सहज और सामान्य दिखाई पड़ता है, वह सिर्फ बाह्य रूप है। भीतर ही भीतर ऐसा बहुत कुछ है जो उनसे हमको अलग-अलग खेमों में बांटकर देखता है, यह एक भयानक त्रासदी है। तरह-तरह के साहित्यिक आंदोलनों को समाविष्ट कर लेने वाली हिंदी जगत को चारण काल, भक्तिकाल, नवजागरण काल, छायावाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद, नई कहानी, नई कविता, जनवादी-साहित्य, वामपंथी-साहित्य, मार्क्सवादी-साहित्य, गांधीवादी-साहित्य, ललित-साहित्य वैदिक साहित्य, लौकिक साहित्य आदि कहने से कोई एतराज नहीं है, लेकिन दलित-साहित्य या अंबेडकरवादी साहित्य कहने से उनकी भवें तन जाती हैं। सारी संवेदनाएं सूखे रेत की मानिंद मुट्ठी से फिसल जाती है। वैचारिक असहमति को स्वीकार करने की परंपरा सिर्फ दिखावा है।

दलितों को अस्पृश्य, अंत्यज बनाकर समाज से अलग कर देने इस देश में न तो कोई बाबर आया था, न कोई अंग्रेज। यहीं के हमारे अपने तथाकथित महान संस्कृति के लोग थे, जिन्होंने गत तीन हज़ार

[1]. मुख्यधारा और दलित साहित्य - ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.11

वर्षों में, जितने जुल्म ढाई, जितना शोषण किया, उतना तो विदेशी शासक ने भी नहीं किया। यह पीड़ा बार-बार उकसाती है, और इसलिए रचनाकार को लिखने पर मजबूर करती है और लेखक सार्त्र का भी जिक्र करते हुए लिखा है कि "लेखन केवल लिखना ही नहीं है, एक कार्यवाही है, और बुराई के खिलाफ मनुष्य के सतत संघर्ष में लेखन साहास हथियार की तरह इस्तेमाल करना चाहिए।"[1] यह लेखक का मानना है कि हिन्दी साहित्य इस समाज और व्यवस्था के खिलाफ दिखाई नहीं पड़ता। बल्कि कहीं-कहीं तो खुले आम इस व्यवस्था की पक्षधरता तक जाहिर करता है। यदि साहित्य आम आदमी और अपने रिश्ते को लेकर एक मानवीय उच्च नैतिकता की बात नहीं उठाता है तो हमको साहित्य की व्यख्या फिर से एक बार नये सिरेसे कर लेनी चाहिए। हिन्दी साहित्य दलित प्रश्नों पर स्पष्ट राय नहीं देता।

हिन्दी साहित्य ने एक सीमित दायरे को ही अपनी दुनिया मानी है, लेकिन इससे दुनिया का अस्तित्व कम नहीं हो गया है। हजारों प्रस्त, दीन-हीन दलित धरती की शकल बदलकर अपनी आंतरिक ऊर्जा और ताप का सबूत देते हैं। उनके चेहरे भले ही उदास दिखें पर उनके संकल्प दृढ़ हैं, इरादे मजबूत। वे विवश हैं लेकिन इन हालात में बदलाव चाहते हैं, यह उनकी बारीक धड़कनों को सुनकर ही समझा जा सकता है। यहाँ लेखक कहते है कि इतना काफ़ी नहीं है लिखने के लिए। इस छोटी सी संघर्ष-यात्रा में न जाने कितने दंश हैं जो फाँस की तरह गड़े हैं जो कविता-कहानियों में व्यक्त होते हैं। इस संदर्भ में लेखक का कहना है कि "मेरी आंखों के सामने वे दीन-हीन, भूखे-नंगे, गंदे नालों पर दड़बेनुमा घरों में कीड़े-मकोड़ों की तरह बिलबिलाते, मैला ढोते, खेतों में खटते लोग हैं जो मात्र आर्थिक दबावों में ही नहीं सामाजिक उत्पीड़न और भेदभाव में जीने के लिए बाध्य हैं। ये आदमी की तरह जीना चाहते हैं, और मेरे लिखने का कारण बनते हैं।"[2] यह एक कटु सच्चाई है। हिन्दी के राष्ट्रीय स्तर के अखबारों- जनसत्ता, नवभारत टाइम्स, दैनिक हिन्दुस्तान और भी कई बड़े नाम हैं, जिन्होंने लेखक की रचनाओं को लौटाया। लेखक ने एक मात्र दलित कविता, वह भी सिर्फ़ 'नव भारत टाइम्स' ने 26 जुलाई, 1992 को प्रकाशित की, वह भी तब जब 'हंस' जुलाई, 1992 में छपी लेखक की कविताएं

[1].मुख्यधारा और दलित साहित्य - ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.16

[2].मुख्यधारा और दलित साहित्य - ओम प्रकाश वाल्मीकि, पृ.16

चर्चा में आ गई थी।

कविता के साथ-साथ 1977-78 में लेखक ने इन राष्ट्रीय पत्र-पत्रिकाओं में कहानियां भी भेजना शूरू किया था। 'जंगल की रानी' कहानी एक आदिवासी युवती के संघर्ष और शोषण की कहानी है जो 'सारिका' ने 1980 में स्वीकृति देकर भी 1990 में वापस कर दी थी। बाद में यह कहानी 'जनसत्ता' (चंडीगढ़) में प्रकाशित हुई थी। दिसंबर, 1992 के 'हंस' में 'बैल की खाल' कहानी छपी तो हिन्दी पाठकों, समालोचकों का ध्यान हिन्दी में उभरते दलित साहित्य की ओर गया।

'बैल की खाल' काहनी में मरे जानवरों की खाल उतारने वाले काले-भूरे पात्रों के माध्यम से समाज में दलितों के प्रति स्थापित पूर्वाग्रहों को तोड़ने की कोशिश की गई है। ये पात्र लेखक के अपने परिवेश के पात्र थे, जिन्हें उन्होंने बचपन से ही अपने आसपास देखा था। उनकी संवेदनशीलता और जजबातों को गैर दलितों ने हमेशा अनदेखा किया है। उनके प्रति दुर्भावनापूर्ण व्यवहार किया है। उनकी मानवीय संवेदना के प्रति साहित्य का नजरिया भी नकारात्मक ही रहा है। उनका सुख-दुःख, उनकी पीड़ा साहित्य के लिए त्याज्य ही रही है। लेकिन यह लेखक की प्राथमिकताओं में है। समाज में स्थापित विद्रूपताओं को रेखांकित करना लेखक ने जरूरी समझा है। साथ ही दलित अस्मिता की पहचान लेखक के लेखन की मूलभूत जरूरत है।

गैर दलितों का कहना है कि लेखक ने जान बुझकर ऐसे पात्र खड़े किए हैं। यह सब उन्हें बनावटी लग रहा था। सच यह भी तो है, जो जीवन जिसे दलित भोगता है, उसे वे जानते ही नहीं। धर्म के ढकोसलों ने जो व्यवस्ता हमारे और उनके बीच खड़ी की है, उसमें हमारे जीवन को वे जान ही नहीं पाते हैं। इसलिए उन्हें यह सब अकल्पनीय, बनावटी और अतिरंजदनापूर्ण भी लगता है। उन्हें विश्वास ही नहीं होता कि दलित इस तरह सोचते होंगे। हिन्दी साहित्य ने तो सिर्फ़ उनकी अकर्मण्यता, उनकी शराबखोरी ही दिखाई है। एक मनुष्य की तरह भी वे जीते हैं यह हिंदी साहित्य की सोच से बाहर है। इसीलिए हिंदी का पारंपरिक लेखक और पाठक दलित रचनाओं पर विश्वास नहीं कर पा रहा है। यह एक भयावह स्थिति है।

इस संदर्भ में रचनाकार कहते है कि 'मेरी रचनाओं के चित्रित पात्र इसी दुनिया के जीते-जागते पात्र हैं।' उदाहरण के लिए 'सलाम' कहानी का 'हरीश' हो या कमल उपाध्याय, 'अंधड़' का रस लाल, 'कहां जाए सतीश' का पंत परिवार, 'ग्रहण', 'बिरमा की बहू', 'जिनावर' की बहू जी, अम्मा,

कहानी का केंद्रीय पात्र 'अम्मा' आदि दलित समाज की भितरी पर्तों में विद्यमान हैं। घोर गरीबी, अशिक्षा, यातना, प्रताड़ना जातीय हीनता बोध के बावजूद दलित समाज में जीवन मूल्यों की नैतिकता, मानवीय संवेदनाएं मौजूद हैं।

दलित जीवन के मूल्यों, संवेदनशीलता को साहित्य में लिपिबद्ध करने की चेष्टा में लेखक ने लिखा है कि "कई बार मेरे हाथ ही नहीं जले, तन-मन भी जला है। लेकिन युगों-युगों की यातना से मुक्ति की भावना के आगे निजी पीड़ा अर्थ हीन लगती है। रचनाओं के ज़रिये अपनी बात को असंख्य पाठकों तक पहुँचाने की कोशिश में कितना सफल हुआ हूँ, यह तो पाठक ही बता सकते हैं। इतना अवश्य है कि हर एक रचना के बाद मैंने स्वयं को कटघरे में रखकर देखा है।"[1]

कविता हो या कहानी लेखक के लिए आनंद या रसास्वाद की वस्तु नहीं है। समाज की गहन पीड़ा उसकी मन्यताएं, चिन्ताएं, उसका संघर्ष, मुक्ति की चाह को शब्दबद्ध करना उनके लिए जरूरी है, ताकी बदलाव की सुगबुगाहट पैदा हो सके। साहित्य हमें जिंदा रखता है। अतीत और वर्तमान को सही-सही देखने की शक्ति देता है। निराशा और उद्विग्नता के क्षणों में सहारा देता है। एक हौसला मिलता है मुक्ति-संघर्ष के लिए लड़ने का। शब्द की आग और ऊर्जा को पहचानना जरूरी है। दलित साहित्य इस आग की आंच से जन्मा है। उसकी ऊर्जा समाज की तड़प है। लेखन के जरिए खुद को तलाशने की एक लंबी संघर्ष-यात्रा शुरू की है जो लेखक इसे अभी अधूरी मानते हैं।

मुख्यधारा-एक वर्ण विशेष (वर्ग नहीं) की इच्छाओं-आकांक्षाओं से उत्पन्न मान्यताओं, स्थापनाओं की धारा; और इस धारा के लिए एक दलित को अपने वजूद के लिए संघर्ष करना पड़े तब यह मुख्यधारा बेहद खूंखार और निर्दयी होकर अपने तमाम दांव-पेंचों, कलाबाजियों, बौद्धिक विमर्श, साहित्य शिल्पों के साथ दीवार की तरह खड़ी हो जाती है और दलित के अस्तित्व को ही नकार देती है। उसके साथ छल करती है, उसे ठगती है, उसे ख़ारिज करती है, या फिर दूसरे दर्जे का या उससे भी नीचे का दर्जा देकर अपना पिछलग्गू बनाने में सफल हो जाती हैं, जिसका सीधा अर्थ है दलित का मनुष्य होना बेमानी है। इसलिए एक दलित के माथे पर अंकित जातीय हीनताबोध और हजारों साल की दग्ध जिंदगी उसे सहज और सामान्य नहीं होने देती। इस हीनताबोध और सामान्य होने की प्रक्रिया में वह लगातार खंडित

---

[1]. मुख्यधारा और दलित साहित्य - ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.22

होता है, जिस पर यह मुख्यधारा चुप्पी साधे हुए है।

घेरे से बाहर रहने की उसकी छटपटाहट ने दलित साहित्य की एक ऊर्जावान धारा को जन्म दिया है, जो तथाकथित इस मुख्यधारा के विपरीत ध्रुवों पर खड़ा है। कंवल भारती, अरविंद घोष, नैमिशराय, जयप्रकाश कर्दम, आदि रचनाकारों ने इस धारा को अपनी अस्मिता की तलाश के लिए चुना है। इस धारा का निर्माण एक दिन में नहीं हुआ है। यह एक लंबी संघर्ष-यात्रा है जो बुद्ध, फूले और अंबेडकर से होते हुए यहाँ तक पहुँची है। गैर बराबरी के दावानल में झुलसते, झूझते, संघर्ष करते लोगों के सांस्कृतिक टकराव से यह धारा सुदृढ़ हुई है।

साहित्य की यह धारा अपने आदर्शों, मान्यताओं के प्रति गहरी सोच और संवेदनाओं के साथ दृढ़ है, तभी तो लेखक जयप्रकाश कर्दम की कविता का जिक्र किया है कि-

"रोक लेती है मेरे कदमों को
बेड़े बनकर
मेरे पूर्वजों की सीख-
हिंसा नहीं है
हिंसा का जवाब"[1]

क्योंकि यह धारा बुद्ध की मानवीय चिंताओं को अपने भीतर संजोए हुए है। घृणा करने वालों से भी घृणा नहीं करने की सीख देती है।

दलित साहित्य में जन्म जातिगत पूर्वाग्रहों के खिलाफ विद्रोह का भाव है। सामाजिक धार्मिक जीवन में स्थापित मूल्यों को खंडित करने की चेतना है। इसीलिए लंबी दासता से भरे जीवन की अमानवीय स्थितियों से मुक्त होने की छटपटाहट दलित साहित्य में बखूबी देखी जा सकती है। समाज में व्याप्त असमानता और भेदभाव मुख्यधारा की अराजकता से पैदा हुइ हैं। इसीलिए अराजकता के सामने मुट्टी भींच कर जब दलित खड़ा है तो इस स्थिति का चित्रण दलित कविता में उत्कर्ष पर होता है। इस संदर्भ में लेखक ने नामदेव ढसाल, 'अंधेरे ने सूर्य देखा तब' की कविता का जिक्र किया है कि-

"अंधेरे ने सूर्य देखा तब

[1].मुख्यधारा और दलित साहित्य- ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.26

शब्द गरज उठे

नरक के कैदखाने में

कब तक यहाँ रहेंगे हम ?

सांस घुटते हुए"[1]

और लेखक ने एक बानगी दलित कविता का जिक्र किया है कि-

"कच्चे घर में

जलते दीए की रोशनी पर

कब्जा करके बैठे गए तुम

0 0 0

मेरी पिंडलियों,

और भुजाओं के मांस से बनी बाती

हड्डियों से निचोड़कर

निकाला गया तेल

किंतु इतना याद रखो

जिस रोज इंकार कर दिया

दिया बनने से मेरे जिस्म ने

अंधेरे में खो जाओगे

हमेशा-हमेशा के लिए।"[2]

उपर्युक्त उद्दरण में दलित जीवन की दारूण, दग्ध स्थितियों का चित्रण है और आक्रोश से भरी हुई दलित चेतना, जो साफ-साफ दिखाई पड़ती है। दलित कविता की यह भूमिका मुख्यधारा से भिन्न है।

डॉ.पी.एन सिंह, देवेंद्र चौबे, रामप्रकाश कुशवाह, निर्मला जैन, मैनेजर पांडेय, लालु जगन्नाथ दास

---

[1].मुख्यधारा और दलित साहित्य -ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.27

[2]. मुख्यधारा और दलित साहित्य - ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.32-33

'रत्नाकर', महावीर प्रसाद द्विवेदी और रघुवीर सहाय आदि आलोचकों, रचनाकारों और साहित्यकारों के विचार को भी लेखक ने इस कृति में चित्रित किया है।

दलित समाज का संबंध उत्पादन से जुड़ा हुआ है। प्रकृति, श्रम और उत्पादन इन तीनों का परस्पर गहरा संबंध है, जिसकी संरचना में दलित गुंथा हुआ है। कृषि कार्यों, कारखानों, कपड़ा मिलें, चमड़ा उत्पादन, सफाई कार्य आदि ऐसे महत्त्वपूर्ण क्षेत्र हैं, जहाँ दलित समाज ने विशेष योग्यता हासिल की है, जब कि गैरदलित इन सब कार्यों से विरत रहने के बावजूद इनकी महत्ता को भी नकारते हैं, इसलिए गैर दलित साहित्य में जब भी कृषि, मिल, मजदूरी, श्रम, किसान, पशुपालन आदि का चित्रण होता है, वहाँ कल्पना आधारित तथ्य होते हैं, जिनका संबंध यथार्थ जीवन से नहीं होता।

धार्मिक ग्रंथों में दलितों के प्रति जो अस्पृश्यता का भाव मौजूद है, वही समाज में स्थापित रहा है, जिसके कारण सामाजिक जीवन में दलित के लिए अपमान, तिरस्कार, गाली, प्रताड़ना आदि ही स्थापित होते गए। इसके नियम इतने कड़े थे कि दलित न संपत्ति रख सकता था, न विकास करके अपनी वर्गीय स्थिति बदल सकता था। आज भी ऐसी स्थितियाँ घटित होती हैं। हरियाणा के सालवन-कांड (1मार्च, 2007) एवं गोहान-कांड (31 अगस्त, 2005) में दलितों के विकास को अवरुद्ध करके उनकी अर्जित संपत्तियों को नष्ट किया गया। उनके घरों में आग लगा दी गई। लूटपाट की गई, वह भी दिन-दहाड़े पुलिस की मौजूदगी में, जहाँ प्रशासन की भूमिका असहाय दिखी। लोकतंत्र बेमानी नजर आयी। यही नहीं भारत के प्रत्येक कोने में दलितों के साथ यही व्यवहार मुख्यधारा के लोग कर रहे होते हैं। यानी मुख्यधारा अपने वर्चस्व को कायम रखने के लिए दलितों के उन तमाम मूल्यों, आदर्शों, उनकी सांस्कृतियों विरासत, उनकी प्रकृति आधारित मान्यताओं को नकारती हैं और सामाजिक समरसता को बाधित करती हैं।

हिन्दी साहित्य की मुख्यधारा को ऐतिहासिकता के आधार पर जब देखते हैं, तो वहाँ भी स्थिति भिन्न नहीं हैं। हिन्दी साहित्य में छायावाद और भक्तिकाल महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। भक्तिकालीन साहित्य का जो रूप हम देखते हैं, वह बाह्य है। उसके आंतरिक संघर्ष को देखना जरूरी है।

भक्तिकालीन संतों, कवियों ने भारतीय जीवन में रची-बसी जाति-व्यवस्था का विरोध तो किया, लेकिन जाति-व्यवस्था मानने वालों पर कोई असर नहीं हुआ। इस संदर्भ में लेखक ने डॉ.अंबेडकर के चिंतन को उद्धृत किया है कि "जहाँ तक संतों का प्रश्न है, तो मानना पड़ेगा कि विद्वानों की तुलना

में संतों के उपदेश कितने ही अलग और उच्च हों, वे शोचनीय रूप से निष्प्रभावी रहे हैं। वे निष्प्रभावी दो कारणों से रहे हैं। पहला-किसी भी संत ने जाति व्यवस्था पर कभी भी हमला नहीं किया। इसके विपरीत वे जात-पांत की व्यवस्था के पक्के विश्वासी रहे। उनमें से अधिकतर उसी जाति के होकर जिए और मरे, उसी जाति में जिसके वे थे। उन्होंने यह शिक्षा नहीं दी कि सारे मनुष्य बराबर हैं। परंतु यह शिक्षा प्रभावहीन रही है, क्योंकि लोगों को पढ़ाया गया कि संत जाति का बंधन तोड़ सकते हैं, लेकिन आदमी नहीं तोड़ सकता। इसीलिए संत अनुसरण करने का उदाहरण नहीं बने।"[1]

भक्तिकालीन साहित्य मुस्लिम काल से संघर्ष से पलायन का साहित्य रहा है। हिन्दू धर्म से इस्लाम में धर्म-परिवर्तन से जनता को रोकने का काम भी भक्तिकालीन साहित्य ने बखूबी किया है। हन्दू संतों के अधःपतन और मुस्लिम संतों के उभार के इस काल में समाज के विभिन्न वर्णों, अतिशूद्रों, अंत्यजों, स्त्रियों के प्रवक्ता भी उभरने लगे थे। हिन्दू धर्म-सत्ता के दमन चक्र पर इस्लामिक आक्रमण ने भी अंकुश लगाया था। इसीलिए इस काल में शूद्रों, अतिशूद्रों के प्रवक्ता, कलाकार, कवि, बुद्धिजीवी परिदृश्य पर उभर सके। इस थोड़े से काल में ही समाज की सृजनात्मकता सामने आ गई थी। इसीलिए भक्तिकालीन साहित्य को संक्रमणकालीन साहित्य कहना ज्यादा उचित होगा।

इस्लाम के बाद ब्रिटिश शासन के दौर में जो औद्योगिक क्रांति का सूत्रपात भारत में हुआ इससे भारतीय उत्पादन में भी बदलाव के संकेत दिखाई दिए। युरोप-अमेरिका की वैचारिक, सामाजिक, धार्मिक मान्यताएँ भी साथ में आई। इसका प्रभाव भारतीय साहित्य पर भी पड़ा-और आधुनिक साहित्य का उद्‌भव हुआ। आरंभिक दौर के हिन्दी साहित्य में आध्यात्मिक, पारलौकिक, धार्मिक विषयों के साथ सामाजिक विषय भी शब्दबद्ध हुए।

पहले 'धर्म-दंड-सत्ता' के समाज में वर्चस्व था, वे ही अर्थ-सत्ता धर्म-सत्ता, दंड-सत्ता पर क़ाबिल थे। वे ही उच्चवर्णीय अपने पारिवारिक प्रश्न लेकर सामाजिक आंदोलन में जैसे पहले थे, वैसे ही लेखक, कवि के रूप में आते गए। मंचों पर सभी गोष्ठियों में उनके पारिवारिक प्रश्न चर्चा में बने रहे। इस चर्चा में हिन्दू धर्म की समीक्षा होती रही। सैकड़ो साल से हो रही है। इसमें यदि सुधार की संभावनाएँ पैदा होती तो निःसंदेह मानसिक प्रगति जरूर होती। लेखन साहित्य की मुख्यधारा में कला वादी,

[1].मुख्यधारा और दलित साहित्य- ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.34

सौंदर्यवादी रचनाकारों का प्रभुत्व बना रहा। इसीलिए दुख, दारिद्रय, दासता, विषमता, भेदभाव, सामाजिक विद्वेष उनकी शब्द सामर्थ्य स्त्री के लिए न कोई सहानुभूति है, न उनके जीवन के प्रति संवेदनात्मक अभिव्यक्ति। इसीलिए दलित, स्त्री उनके लिए अपवित्र ही रही। पांव की जूती या फिर जन्मना असभ्य।

इस संदर्भ में लेखक ने बाबुराव बागूल का जिक्र किया है कि- "असंख्य अवतार हुए, संत आए परंतु शूद्र-अतिशूद्र व स्त्रियों का दुःख किसी को दिखाई नहीं दिया। देव, संत और धर्म जब गरीब, कमजोर लोगों के प्रति शत्रुता और तुच्छता भाव प्रकट करते हैं, तब हिंदू पौराणिकता और संस्कारों में शूद्रों के प्रति कैसे विचार होंगे? यानी समाज और मन में कहां जगह होगी? हिन्दू वर्ण व्यवस्था में करुण, प्रेम, भ्रातृत्व नहीं होने के कारण शूद्र-अतिशूद्र के लिए समाज और साहित्य में स्थान नहीं था, उनके उद्धार के लिए कोई रास्ता किसी ने नहीं सोचा। किसी ने उनके बीच जाकर उन्हे स्वीकार नहीं किया।"[1]

इसीलिए जिसे आज मुख्यधारा कहा जा रहा है, वह हिन्दू वर्ण-व्यवस्था, सामंतवाद, ब्राह्मणवाद की वह धारा है, जहाँ दलित और स्त्री के लिए कोई स्थान नहीं है। यह कटू सत्य है, जो साहित्य और समाज में मौजूद है। संस्कृत साहित्य में राजवंशों की विरुदावली, राजाओं के देवत्व, उनकी प्रशस्ति करने वाले साहित्य की भरमार थी, जो मुख्यधारा का केंद्रीय भाव रहा है। इसी धारा में दलित, आदिवासियों, अल्पसंख्यकों को जोड़ने की बात जोर-शोर से की जाती है, जिसका उद्देश्य वर्चस्ववाद का स्थापित करना है। यही है मुख्यधारा का यथार्थ।

'दलित चेतना' का संबंध संस्कारों, सांस्कृतिक, ऐतिहासिक पृष्ठभूमि से है। अक्सर यह देखने में आता है कि आरोप-प्रत्यारोपों के बीच साहित्य के मुख्य सरोकार पीछे छूट जाते हैं।

'दलित चेतना' को समझने के लिए इसकी पूर्व पीठिका को भी दृष्टि में रखना होगा। 'दलित' का आखिर मसला क्या है? यह एक गंभीर सवाल है। दलित समस्या समूचे राष्ट्र की समस्या है। इसने विकास प्रक्रिया को बाधित ही नहीं किया उसे अवरुद्ध भी किया है।

हिन्दी मे अनेक उपन्यासकारों ने दलित पात्रों को केंद्र में रखकर अनेक उपन्यास लिखें। जिनमें प्रमुख हैं 'यथा प्रस्तावित', 'परिशिष्ट', (गिरिराज किशोर), 'नाच्यौ बहुत गोपाल' (अमृतलाल नागर),

[1].मुख्यधारा और दलित साहित्य - ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.42

'धरती धन न अपना', 'नरक कुंड में बास' (जगदीश चंद्र), 'पत्थर के आंसू' (यादवेंद्र चंद्र शर्मा), 'सती माता का चौरा' (भैरव प्रसाद गुप्त), 'किस्सा गुलाम' (रमेशचंद्र शाह), 'एक टुकड़ा इतिहास' (रामदरश मिश्र), 'रंगभूमि' (प्रेमचंद) आदि। उपन्यासों में 'धरती धन न अपना' और 'नरक कुंड में बास' का यथार्थवादी कथ्य, वातावरण, पात्र सभी प्रभावित करते हैं, लेकिन लेखक का वर्गीय दृष्टकोण हावी रहता है। दलित समस्या को मात्र आर्थिक नजरिए से ही देखा गया है लेखक जगदीश चंद्र स्वयं कहते हैं- "मैं यह सब देखकर उद्विग्न होता था कि आर्थिक अभावों की चक्की में युग-युगांतर से पिस रहे हरिजन अब भी मध्यकालीन यातनाओं को भोग रहे हैं।"[1] इस उपन्यास का नायक 'काली' जो संघर्ष का बीज बोने में सफल होता है, लेकिन ज्ञानो के प्रेम तथा लोक डर से, एक रात चुपके से गांव छोड़कर भाग जाता है। उपन्यास का यह अंत ही इसका कमजोर पक्ष है जो दलित चेतना को कुंद कर देता है। यही स्थिति 'परिशिष्ट' (गिरिराज किशोर) में भी है।

एक बात जो साफ तौर से दिखाई देती है वह यह है कि हन्दी लेखकों ने दलित आंदोलनों को गंभीरता से नहीं लिया। चाहे वह ज्योतिबा फूले का संघर्ष हो या डॉ.अंबेडकर, अछूतानंद या फिर रामास्वामी पेरियार का। ऐसे में लेखकीय ईमानदारी पर प्रश्नवाचक चिन्ह लग सकता है। हिन्दी साहित्य सिर्फ़ गांधी और उनके अछूतोद्धार से प्रभावित है। उपन्यासकारों ने मसीहाई अंदाज में दलितों की दीनता-हीनता और उनकी स्त्रियों की विवशता का विवरण तो दिया, लेकिन उनके संघर्ष की धार को कुंद करके। दलित स्त्री के भोग्य रूप को ही देख पाए, उनकी उत्कृष्ट जिजीविषा का कहीं चित्रण नहीं मिलता है। दलित पात्र सवर्णों के निमित्त मात्र हैं। वे सवर्णों की करुणा जगाने के लिए हैं या उनका संस्कार करने के लिए या उनकी उदारता महानता दिखाने के लिए। दूसरे शब्दों में कहें तो वे सब्जेक्ट नहीं आब्जेक्ट, बने रहे हैं। समूचे हिन्दी साहित्य को पढ़कर यह नहीं जान पाते हैं कि दलित सवर्णों के बारे में क्या सोचते हैं? उनकी स्त्रियों को देखकर दलितों के मन में क्या विचार आते हैं, क्योंकि लेखक ने जो भी अभिव्यक्ति की है वह सवर्ण मन से ही की है।

[1].मुख्यधारा और दलित साहित्य- ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.49

दलित चेतना एक प्रतिसांस्कृतिक चेतना है। बल्कि एक वैकल्पिक चेतना भी है। इसीलिए विद्रोही है। इस चेतना की जड़ में भारतीय सामाजिक संरचना है। जो न सिर्फ़ जाति पर आधारित है बल्कि इसे धार्मिक वैधता भी प्रदान करती है। जाति-व्यवस्था सामाजिक दुराव के सिद्धांत पर आधारित है। यह हमारे सामाजिक संबंधों को ही नहीं बल्कि धार्मिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक पक्षों को भी प्रभावित करती है। यह गुलामी की संपूर्ण व्यवस्था है, हिन्दू समाज व्यवस्था में प्रारंभ से ही धर्म प्रधान और अर्थ गौण रहा है। व्यावहारिक स्तर पर हिन्दुत्व की जो अवधारणा आम आदमी तक पहुंचती है, वह बहुत हद तक जातीय आधार-व्यवहार और संसार से परे सीमित हुई रहती है। स्वतंत्रता के बाद भी यह स्थिति किसी न किसी रूप में बनी हुई है। परिवर्तन के बावजूद दलित वर्ग को मूलभूत सुविधाओं से वंचित रखने का प्रयास जारी है।

समकालीन हिन्दी दलित कथा साहित्य में उपन्यास, कहानी, नाटक, आत्मकथा आदि विधाओं की अनेक कृतियों ने पाठकों, आलोचकों का ध्यान आकर्षित किया है। आलोचना की भी अनेक पुस्तकें आई हैं जिन्होंने सौंदर्यशास्त्रीय मान्यताओं की समीक्षा दलित चेतना की दृष्टि एवं सोच के अनुरूप की है। मोहनदास नैमिशराय, सूरजपाल चौहान, जयप्रकाश कर्दम के कथा साहित्य में दलित जीवन की गहरी छानबीन की गई है। इनकी रचनाओं में दलित समाज का जद्दोजहद और अस्मिता की पहचान की उत्कृष्ठ इच्छाओं को अभिव्यक्ति मिली है। दलित साहित्य में आत्मकथाओं ने एक विशिष्ट स्थान बनाया है जो मात्र लेखक की निजी पीड़ा नहीं बल्कि समूचे दलित समाज की व्यथा-कथा बनकर रह गई है। 'जूठन', 'अपने-अपने पिंजरे' को पढ़कर दलित समाज की जिजीविषा से पाठकों का परिचय हुआ है। हिन्दी साहित्य की जड़ता टूटी है। 'दोहरा अभिशाप', 'तिरस्कृत' के माध्यम से हिन्दी साहित्य को नई जमीन मिली है। इसी तरह 'सलाम', 'आवाजें हरी कब आएगा' कहानी-संग्रहों ने हिन्दी दलित साहित्य को गरिमा प्रदान की है। इसे एक ऐसा फलक दिया है जो साहित्य को जीवंत बनाता है।

साहित्य में रस, आनंद, कला के मर्मज्ञों ने जनमानस के दुःख-दर्द और उसकी पीड़ा को जिस तरह छिन्न-भिन्न किया था, वह एक दुःखदायी दौर था। दलित-साहित्य अपनी प्रतिबद्धता और वैचारिक दृढ़ता से साहित्य और समाज के संबंधों को फिर से जोड़ने का कठिन और जरूरी काम कर रहा है। इसे 'जातिवादी' कहकर खारिज कर देने वालों की भी कमी नहीं है। लेखक का यह मानना है कि-

"दलित-साहित्य सामाजिक जीवन में मानव मूल्यों के प्रति गहरा लगाव रखता है और उनकी पुनर्प्रतिष्ठा के लिए कृत संकल्प है। इसकी अंतर्धारा में जीवन के वे तमाम सरोकार शामिल हैं जो एक मनुष्य को मनुष्य के रूप में पहचाने।"[1]

'भारतीय समाज-व्यवस्था' में 'जाति' का अस्तित्व बहुत गहरा है। जो विद्वान 'जाति-समस्या' को 'आर्थिक-समस्या' मानकर 'वर्ग-संघर्ष' की बात करते हैं, वे जान-बूझकर इससे आंख चुराते हैं, शुतुरमुर्ग की तरह आंखे बंद कर लेने से समस्या का समाधान नहीं होगा। आज प्रत्येक क्षेत्र में 'जाति' की एक 'अहम' भूमिका है। शैक्षणिक संस्थाओं में इसका चरम उत्कर्ष देखा जा सकता है।

राजेंद्र यादव ने 'जाति' के अन्दरूनी रूप पर विचार करते हुए अपने एक साक्षात्कार में कहा है कि- "मैं सारे भारत की बात नहीं जानता मगर मैं हिन्दी पट्टी में देखता हूँ कि दिन-रात प्रगतिशील की बात करने वाले, देश-विदेश का उद्धरण उगलने वाले खुद कैसे भयंकर रूप से जातिवादी हैं- कोई राजपूतों-क्षत्रियों के साथ जुड़ने में गर्व महसूस करता है तो कोई ब्राह्मणों को अपना आदमी मानता है- इसका घिनौना रूप शिक्षणसंस्थाओं और सरकारी दफ्तरों में दिखाई देता है, जिसे नीची जाति वालों को रोज भुगतना पड़ता है।"[2]

'जाति' के सवाल को डॉ. अंबेडकर ने जिस प्रखरता और जुझारूपन के साथ उठाया, वह भारतीय इतिहास में एक युग प्रवर्तक की भूमिका है जिसने दलितों को सिर्फ़ वाणी ही नहीं दी, उनमें आत्मविश्वास भी भरा। यही वह ऊर्जा है जो दलितों को डॉ. अंबेडकर से मिली है। वे एक चेतनासंपन्न दलित विचारक, भविष्यद्रष्टा थे, जिन्होंने 'जाति-उन्मूलन' के अपने मुख्य एजेंडे को निरंतर गतिशील रखा था। उन्होंने दलितों को धार्मिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक पहचान दी। जैसे-जैसे दलित इस प्रक्रिया से जुड़ते गए, वैसे-वैसे डॉ.अंबेडकर की महत्ता का भी विस्तार होता गया। 'दलित-समस्या' का सीधा अर्थ है- 'जाति का सवाल'।

---

[1].मुख्यधारा और दलित साहित्य- ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.51

[2].मुख्यधारा और दलित साहित्य - ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.52-53

डॉ.अंबेडकर ने स्वयं को बुद्ध के अनुयायी के तौर पर स्थापित किया। उनका विश्वास था कि राष्ट्र निर्माण में अहिंसा एक आधारभूत मूलतत्व होना चाहिए। अपनी पुस्तक 'बुद्ध और कार्ल मार्क्स' में वे लिखते है कि इसका भी जिक्र लेखक ने किया है कि-"हिंसा यदि आवश्यक है तो उसे एक ऊर्जा के तौर पर ही इस्तेमाल करना चाहिए, न कि जरूरत की तरह। "[1]

'जाति' के सवाल का विश्लेषण करते हुए प्रसिद्ध लेखक कांचे ऐलैय्या का मंतव्य को लेखक ने उद्धृत किया है कि-"कुछ हिन्दुत्ववादियों का मानना है कि अंग्रेजों की 'फूट डालो, राज्य करो' की नीति के कारण ही वर्तमान 'जाति-संघर्ष' बढ़ा है। प्रत्येक सामाजिक विघटन और राजनीति के लिए ब्रिटिश राज को ही जिम्मेदार मानते हैं। ऐसा मानने वालों में ज्यादातर कट्टरपंथी और आदिनायकवादी समूह के लोग हैं, जिन्होंने देश को बहुत क्षति पहुँचाई है। इनमें अधिकतर ब्राह्मण नेता हैं। यह ऐतिहासिक साज़िश दलित-बहुजन के विरुद्ध थी क्योंकि इन्हीं ब्राह्मणों ने दलितों को अनपढ़ बनाए रखने की साजिश में धर्म को एक हथियार की तरह इस्तेमाल किया था।"[2] भारत में 'हिन्दुत्व' का विचार कभी भी समानता और भाईचारे का समर्थक नहीं रहा, इसी कारण समाज में विघटन की भावना बढ़ी और राष्ट्र निर्माण सिर्फ़ कागजों पर ही सीमित रहा। उदाहरण के लिए लेखक ने 'गोहाना-अग्निकांड', बाबरी-विध्वंस' और 'परमाणु-विस्पोट' आदि का चित्रण किय गया है।

बुद्ध के 'धम्म' में 'नैतिकता' का विशेष स्थान है क्योंकि बुद्ध ने 'धम्म' के दो तत्त्व बताए हैं- प्रज्ञा और करुणा। 'प्रज्ञा' यानी बुद्धि और 'करूणा' यानी 'प्रेम' और 'मैत्री'। इनके बगैर समाज जी नहीं सकता, न रह सकता है, न ही विकास कर सकता है। ये दोनों तत्व बुद्ध के धम्म के मूल आधार हैं।

'मजहब' और 'रिलीजन' की तरह बुद्ध के 'धम्म' में ईश्वर या परमात्मा के लिए कोई स्थान नहीं है लेकिन नैतिकता के लिए विशेष स्थान है। बुद्ध के धम्म में प्रार्थनाओं, तीर्थ-यात्राओं, कर्मकांडों, रीति-रिवाजों, बलि-कर्म आदि के लिए भी कोई स्थान नहीं है, लेकिन नैतिकता का सीधा संबंध आदमी

---

[1]. मुख्यधारा और दलित साहित्य- ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.53

[2]. मुख्यधारा और दलित साहित्य- ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.54

से आदमी के बीच मैत्री भाव की आवश्यकता से है। इसमें ईश्वरीय स्वीकृति की कोई गुंजाईश नहीं है। ईश्वर को प्रसन्न करने के लिए भी नैतिकता की जरूरत नहीं है। यह मनुष्य की अपनी आवश्यकता है कि वह दूसरों से मैत्री करे, तभी उसकी सामाजिकता बनती है।

सामाजिक जीवन में वर्चस्ववादियों ने कुछ ऐसी स्थितियाँ निर्मित कि हैं, जो यह स्थापित करती है कि वे महान हैं, उनकी संतान महान हैं, उनकी संस्कृति श्रेष्ठ हैं, वे ही संस्कृति के सच्चे और सर्वश्रेष्ठ वाहक हैं। यह बात इतनी बार दोहराई जाती है कि इसे ही सच मान लिया जाता है और समूचे समाज की मानसिकता पर यह सोच हावी हो जाती है। इसी कल्पना पर आधारित मानसिकता ने वर्चस्ववादियों की सामाजिक और सांस्कृतिक स्थितियों को ताकतवर बनाया है।

जिस समाज में कृषि-उत्पादन के लिए हल को हाथ लगाना पाप हो या व्यक्ति के छोटे या बड़े, निम्न या उच्च हो जाने का घोतक हो, ऐसे लोग ही धन्य-धन्य से समृद्द हों जो हल को हाथ लगाना पाप मानें और जो दिन-रात, सर्दी-गर्मी, बरसात, हारी-बीमारी में भी खूनपसीना बहाकर अनाज पैदा करें-वे भूखे रहें-निकम्मे कहे जाएँ जाएं-भारतीय जीवन का यह एक वीभत्स रूप देखकर ही पीड़ा होती है। भीतर कहीं गहरी वेदना उपजती हैं, जो गर्म भट्ठी की तरह सुलगती है।

वर्चस्ववादी दूसरों के श्रम पर अपना अधिकार समझते है, इसलिए वह दर्शन गढ़ता है, आख्यानों का निर्माण करता है। भारतीय ब्राह्मणवादी मानसिकता, लोगों में सामूहिक आर्थिक गतिविधियों के लिए कोई चेतना नहीं जगाई, इसलिए उनकी तमाम गतिविधियों से स्वयं को अलग कर लेता है। वह अपनी मजबूरियों, विवशताओं के चलते उनसे जुड़ता है, न कि अपनी स्वेच्छा से। इसके पीछे ऐतिहासिक कारण मौजूद हैं। यहाँ दलितों ने बार-बार धोखा खाया है और वे आज धोखा भी खा रहे हैं।

धर्म और वर्चस्ववाद का मजबूत गठजोड़ एक बाजार-व्यवस्था उत्पन्न करता है जो एक ऐसा तंत्र तैयार करता है, जहाँ दलित और श्रमिक की एक वस्तु से ज्यादा कोई अहमियत नहीं होती, उनके लिए वे सिर्फ़ एक उपभोग की वस्तु बन जाते हैं। इस्तेमाल किया और फेंक दिया।

दलित नैतिकता में स्त्री की स्वतंत्र महत्ता है इसके बावजूद वह पितृसत्तात्मकता की चक्की में पिस रही है। हालांकि विधवा विवाह को हमेशा उच्च श्रेणी में रखा लेकिन पितृ सत्ता ताकतों के दोहरे चरित्र से भी उसे रूबरू होना पड़ा। इस संघर्ष में उसने अपना विरोध प्रकट करने की स्वतंत्रता अपने पास रखी। वह गाली का जवाब गाली से देती है। मारपीट का जवाब मारपीट से देती है। दलितों में पारिवारिक

व्यवस्था भी सामूहिकता का एक हिस्सा है। हिंसा का विरोध भी सामूहिक ज़्यादा है। यह उनकी चेतना का हिस्सा है। यही कारण है कि दलित साहित्य में दलित आत्मकथाएँ व्यक्तिगत नहीं समूह की व्यथा-कथाएँ होती हैं। यदि किसी ने व्यक्तिगत करने का प्रयास किया भी हैं तो भी वहाँ सामूहिकता ही प्रभावी होती है जो उसे व्यक्ति से समूह बनाती है।

दलितों में 'निजी संपत्ति' का दर्शन नहीं था। यह उनकी शक्ति का द्योतक था लेकिन वर्चस्ववादियों ने इस शक्ति को विखंडित किया और दलितों की सोच को बदलने के तमाम हथकंडों को प्रभावी रूप से फैलाने की कोशिश की।

दलित नैतिकताएँ ईश्वरीय नहीं हैं। वे रोज़मर्रा के जीवन की अच्छाइयों और बुराइयों पर आधारित जीवन कि मानवीय संवेदनाएँ और अनुभूतियाँ हैं। वे ज्यादा लोकतांत्रिक और समाज-सापेक्ष हैं, जिन्हें समझना और जानना उस हर एक व्यक्ति के लिए जरूरी है, जो समय के साथ बदलना चाहता है और मानवीय मूल्य के प्रति सजग है।

समय के साथ कहानी के तेवर, विषय, शिल्प, भाषा बदली और पचपन-छप्पन तक आते-आते बहुत कुछ ऐसी घटनाएँ हुइ जिसने हिन्दी कहानी को एक नया रूप दिया। प्रेमचंद, जैनेन्द्र, यशपाल जीवन की विविधताओं, विभिन्न रूपों, मूल्यों की कहानी लेकर आए थे। लेकिन आलोचकों की राय उत्साहवर्धक नहीं थी, जबकि इन कथाकारों की लोकप्रियता पाठकों के नये आयाम स्थापित कर चुकी थी। इसके बाद 'कहानी' पत्रिका ने जब 'धरती अब भी घूम रही है' (विष्णु प्रभाकर), 'गदल' (रांगेय राघव), 'कोसी का घटवार' (शेखर जोशी), कहानियों को प्रकाशित किया, तो आलोचकों का ध्यान इन कहानी विधा की ओर गया। इन कहानियों में जीवन-मूल्यों का भावुकतापूर्ण, आदर्शवादी रूप नहीं था, बल्कि संयत और वस्तुपरकता की अधिकता थी।

सन्1960 तक कहानी का रूप पूरी तरह बदल चुका था। उसकी भावभूमि, कथ्य तथा मूल्य बदल चुके थे। उदाहरण के लिए रवींद्र कालिया, राजेंद्र यादव, कमलेश्वर और मोहन राकेश ने हिन्दी कहानी में शिल्प और भाषा के जो प्रयोग किये, उसने हिन्दी कहानी को एक मुख्य विधा के रूप में स्थापित किया। स्त्री-लेखन में उषा प्रियंवदा, सुधा अरोड़ा, ममता कालिया, मन्नू भंडारी अपने जीवन मूल्यों, अनुभवों, निजी व्यक्तत्व को लेकर सजग दिखाई देती हैं लेकिन सामाजिक बंधनों में घुटती स्त्री की मुक्ति

या संघर्ष का कोई संकेत वहाँ दिखाई नहीं देता है। कृष्णा सोबती की कहानी 'मित्रो मरजानी' यथार्थ की तीखी अभिव्यक्ति है। हरिशंकर परसाई, भीष्म साहनी, फणीश्वरनाथ रेणु, शेखर जोशी, दूधनाथ सिंह, मार्कंडेय आदि ने बदलते सामाजिक मूल्यों को अपने-अपने ढंग या नजरिये से अभिव्यक्त किया है।

एक समय था, जब आम आदमी के जीवन को साहित्य के लिए त्याज्य माना गया, लेकिन आज साहित्य में वही आम आदमी, दलित, श्रमिक, भूखा, नंगा व्यक्ति, उसका चरित्र, उसकी समस्याएं, उनकी दैनिक गतिविधियां, तमाम बंधनों को तोड़कर आए हैं और इन तमाम गतिविधियों के राजनीतिक संबंधों को रेखांकित करने में एक रचनाकार को कोई गुरेज नहीं है।

इस समाज से एक दलित लेखक के अपने निजी अनुभव, उसके सामाजिक अनुभव कितने भयानक और कमज़ोर करने वाले होते हैं, इसका अंदाजा दूर खड़ा कोई लेखक, आलोचक, संपादक नहीं लगा पाता है। अनुभवों का अंतःकरण में रूपांतरण उन भावनाओं में होता है, जो उस संघर्ष, आक्रोश की ओर ले जाती है और अंततः करुणा, प्रेम के रास्ते कविता, कहानी और आत्म-कथा के रूप में सामने आती है। इन्ही अनुभवों ने अनेक दलित लेखक पैदा किए हैं, जिनके अंतर्द्वंद्व उन्हें दूसरों से अलग करते हैं। कई बार यह भी होता है कि भीतर की बेचैनी, छटपटाहट, ठीक उस रूप में व्यक्त नहीं हो पाती है, जैसा वह रचनाकार चाहता है। यह एक स्वाभाविक प्रक्रिया है जो उसके आंतरिक पीड़ा से जुड़ी है।

साहित्य और समाज के संबंध बदलते रहते हैं। इसके अनेक कारण है। इसीलिए पाठक और रचनाकार के रिश्तों में भी बदलाव आया है। यदि कथाकार समाज के इस बदलाव को ठीक से नहीं पकड़ पाएगा तो उससे कहीं न कहीं समाज का कुछ अंग छूट जाएगा। उसकी भाषा, शिल्प और संरचना, सामाजिक जीवन के दुःख-दर्द, उसकी संघर्षशीलता को अभिव्यक्त करने में कमजोर ही साबित होगी विशेष रूप से दलित जीवन और 'स्त्री' को केंद्र में रखकर लिखी जा रही कहानी के संदर्भ में यह तथ्य छूट जाता है। यही कारण है कि एक दलित पाठक जब किसी गैर दलित रचनाकार की कहानी से गुजरता है तो उसे यह अंतर दिखाई पड़ता है कि पिछले पचास वर्षों में 'दलित जीवन' का स्वरूप बदल गया है। इससे दूर खड़ा रचनाकार संवाद स्थापित नहीं कर पा रहा है। वह उस समाज के लिए हमेशा ही 'गैर' रहा है। यही स्थिति तथाकथित वामपंथियों की भी हैं। उनहोंने 'सर्वहारा' तो चुन लिया लेकिन

उनके आगे, उनके सामने एक पहाड़ की तरह 'जाति' खड़ी है, जिसे वे समझना नहीं चाहते, न उस पर बात करना चाहते हैं।

हिन्दी कहानी कई तरह के ऊबड़-खाबड़ रास्तों से होते हुए यहाँ तक पहुँची है। जिसे आप प्रत्याशित यथार्थ कह रहे हैं, वह सामाजिक विसंगतियों के आकलन से उपजा है। समाज बदलाव के लिए संघर्ष का रास्ता ढूंढता है, जिसे कई आलोचक सामाजिकता की इकहरी अवधारणा समझ रहे हैं। कहानी हो या कविता अप्रत्याशित कुछ नहीं होता। रचनाकार अपने जीवन अनुभवों के जरिये ही पारस्परिक संबंधों की इमारत खड़ी करता है। जैसे अनुभव होंगे, रचना का रूप भी वैसा ही होगा। अनुभवहीनता के आधार पर लिखी गई कहानियां बोझिल और बौद्धिक जुगाली से ज्यादा कुछ नहीं होती हैं। यही कारण है कि हिन्दी में सामाजिक संदर्भों की कहानियाँ जब भी लिखी गई, उसने पाठकों को अपनी जमीनी लड़ाई लड़ने की शक्ति दी।

दरअसल यह जो बौद्धिकता का छद्म रूप है, वहीं सब गड्बड् करता है, जिसे कलावादियों का प्रश्रय मिलता रहा है। कई बार यह छद्म रूप विभिन्न वैचारिक मुखौटे पहनकर साहित्य को प्रभावित करता है, जिसे पहचानना भी मुश्किल होता है। कई बार तो वे अपने 'समय' को भी अपने प्रभा मंडल की चकाचौंध में इतना चमत्कृत कर देते हैं कि उनका वही रूप हम देखते हैं, जो वे दिखाना चाहते हैं। इन स्थितियों से हिन्दी कहानी बाहर जरूर जाएगी, तब न कोई झटका लगेगा, न कोई विवाद पैदा होगा। ऐसी लेखक की उम्मीद है।

दलित साहित्य में प्रेम की अनुपस्थित को लेकर लगातार सवाल उठ रहे हैं, यहाँ लेखक का मानना है कि जबकि ऐसी स्थिति नहीं है। 'प्रेम' की अभिव्यक्ति को लेकर जो अंतर है, उसी वजह से अनुपस्थिति दिख रही है। यह दृष्टि भेद भी कहा जा सकता है। 'सदियों का संताप' कविता का अंश लेखक ने उद्धृत किया है-

"हमने अपनी समूची घृणा को
पारदर्श पत्तों में लपेटकर
ठूंठे वृक्ष की नंगी टहनियों पर टांग दिया है।
ताकि आने वाले समय में

ताजे लहू से महकती सड़कों पर

नंगे पांव दौड़ते

सख्त चेहरों वाले सांवले बच्चे

देख सकें कर सकें प्यार

दुश्मनों के बच्चों से भी...."[1]

इन पंक्तियों में जो अभिव्यक्ति है, लेखक प्रश्न करता है कि क्या वह प्रेम की अभिव्यक्ति नहीं है? या सिर्फ़ स्त्री-पुरुष के बीच ही प्रेम होता है।

इसीलिए लेखक ने प्रेम को परिभाषित करने की आवश्यकाता को मानते हुए वैभव सिंह की आलेख का उल्लेख किया है कि- "प्रेम किसी के भी प्रति सहज आकर्षण का अनुभव करने, उसका साथ चाहने और प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से अपनी यौनेच्छाओं के केंद्र में उसे स्थापित करने का नाम है।"[2]

वैभव सिंह का यह भी मानना है कि - "प्रेम का सवाल जाति और जेंडर से भी जुड़ा है। निम्न जातियां और स्त्रियां मध्यकाल में प्रेम और वासना के बारे में क्या सोचती थी। इसके बारे में आज भी हमारे पास कोई ठोस प्रामाणिक जानकारी नहीं है। रीतिकाल के डेढ़ सौ-दो सौ साल के इतिहास में एक भी स्त्री कवयित्री नहीं है। वे भोग्या और सुंदरी तो हैं, बौद्धिक या कवि नहीं है। उनकी ओर से सोचने का काम भी पुरुषों के जिम्मे था। वही उनकी अनुभूतियों और स्वभाव का वर्णन करने का प्रयास करते हैं। जाहिर है कि सवर्ण पुरुष लेखकों ने अपनी अनुभूतियों के बारे में जिस विस्तार से लिखा है, उतना दलित-शूद्रों और स्त्रियों ने नहीं। शूद्रों-स्त्रियों के लेखन में प्रेम की जगह अस्तित्व की समस्याएँ केन्द्र में रहती हैं और प्रेम का वह कुलीन रूप और मुहावरा भी वहं नहीं होता जिसे सुनने और पचाने का सवर्ण लेखन अभ्यस्त होता है। प्रेम वहाँ श्रम, उत्पादन और संघर्ष की दुनिया में स्वायत्त दिव्य अनुभूतियों के रूप में नहीं आता, बल्कि वह रोजी रोटी और सम्मान के संघर्ष से निर्मित जीवन-शैली

[1].मुख्यधारा और दलित साहित्य- ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.73

[2].मुख्यधारा और दलित साहित्य - ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.74

का ही अंग होता है।"[1]

दलित समाज ने स्त्री को स्वतंत्रता दी है लेकिन साथ ही पितृसत्तात्मक वर्चस्व भी कायम रखा है। इस वर्चस्व ने कुछ ऐसी नैतिकताएँ भी निर्मित की हैं, जो इनकी अपनी नैतिकताएं नहीं थी। प्रेम का सीधा संबंध इन्हीं नैतिकताओं के साथ जुड़ा है। इसीलिए स्त्री की सोच और उसके निर्णय पुरुष अपने वर्चस्व में बांधे हुए है। उत्पादन के स्तर पर स्त्री उसके साथ खड़ी है, लेकिन प्रेम संबंधी उसकी धारणाओं, मान्यताओं पर पूरा नियंत्रण पुरुष का है, जिसे वे अपना पुरुषत्व समझ बैठे हैं और अपनी इन मानवीय इच्छाओं को उन्होने नैतिकता के छद्म में कुछ इस तरह लपेट रखा है कि वह स्त्री की इच्छाओं के विरुद्ध खड़ा है।

दलित रचनाओं में 'आक्रोश' उनकी संवेदना का हिस्सा है, लेकिन यह आक्रोश प्रेम विरोधी है ऐसा कहना या मान लेना सही नहीं है। स्त्री कहीं भी दलित चेतना से बाहर नहीं हैं, इसलिए 'स्त्री' का विरोध भी अर्थहीन है। वह दलित संघर्ष और अस्तित्व के सवाल में शामिल हैं। यदि किसी रचना में ऐसी कोई स्थिति दिखाई भी पड़ती है तो उसे विचलन या वैचारिक उपवाद ही कहा जाएगा या किसी रचनाकार की व्यक्तिगत कुंठा, जिसका सामान्यकरण नहीं किया जा सकता है। यही ठीक वैसे ही है जैसे एक जन्मजात दलित को दलित साहित्यकार मान लेना या सभी प्रगतिशीलवादियों, जनवादीयों को मार्क्सवादी मान लेना। ऐसे लोग बीच की रेखा पर खड़े रहते हैं जो अवसर पाते ही पलड़ा बदल लेते हैं, उनके लिए यह आसान भी होता है। ये अंतर्द्वंद्व दलित साहित्य में भी मौजूद हैं, जिन्हें चिह्नित करना भी उतना ही जरूरी है।

यदि प्राचीन भारत में जाति के उद्भव और इसकी परिभाषा पर दृष्टिपात करें तो विद्वानों द्वारा स्थापित कई सिद्धांत, विशेष रूप से आर्यों का रक्त सम्मिश्रण से बचाव का सिद्धांत, आर्थिक और राजनीतिक वर्चस्व का सिद्धांत दिखाई पड़ता है। चाहे सिद्धांत कोई भी रहे हों, पर जाति जन्मना होती है औ इसी कारण हिन्दू मानसिकता में जाति जन्म से लेकर मृत्य तक साथ नहीं छोड़ती है।

भारतीय जाति-व्यवस्था का उद्भव चातुर्वण्य-व्यवस्था से है। वर्ण का अर्थ 'रंग' से है। लेखक ने डॉ.अंबेडकर के शब्दों को उद्धृत किया है-"हम कह सकते हैंकि अमेरिका में मुख्यतः तीन जातियां

[1].मुख्यधारा और दलित साहित्य- ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.76

हैं- श्वेत जाति, ब्लैक जाति और रेड इंडियन जाति।"[1] इस प्रकार जाति एक सामान्य शब्द है जो रेस (race) के अर्थों में प्रयोग कि जाती है। इसका अर्थ यह हुआ कि 'जाति' शब्द आर्य संदर्भों में भिन्न-भिन्न रेसिस (races) के अर्थों में ही इस्तेमाल हुआ है। डॉ.अंबेडकर का यह भी मानना है कि आर्य धर्म या ब्राह्मण कोई धर्म नहीं था।

जाति के उद्‌भव को लेकर तरह-तरह की विचार पद्धति, मान्यताएं विद्वानों द्वारा प्रतिपादित की गई। ओलिवर सी कॉक्स हरर्बट रिस्ले, नृपेंद्र कुमार आदि विद्वानों ने जाति-व्यवस्था के उद्‌भवों और कारणों पर विस्तार से चर्चा की है। जाति-व्यवस्था की गंभीरता को दलितों के दैनिक जीवन में घटित होने वाली घटनाओं से जाना जा सकता है।

जाति का मूल ऋग्वेद के दशम मंडल का पुरुष-सूक्त है जो कहता है कि पुरुष (ब्रह्मा) के सिर से ब्राह्मण, बाहों से क्षत्रिय, जंघाओं से वैश्य तथा पैरों से शूद्र का जन्म हुआ है। इसे श्रम-विभाजन कहकर महिमा मंडित किया गया था जबकि वास्तविकता यह है कि यह श्रम विभाजन नहीं 'श्रमिक-विभाजन' था, जो ब्राह्मणों के वर्चस्व को कायम रखने के लिए रचा गया था।

सबसे पहले इस व्यवस्था का विरोध बुद्ध ने किया। बौद्ध-विहारों की जीवन-पद्धति को एक विकल्प के रूप में प्रस्तुत करते हुए बुद्ध ने एक सशक्त प्रहार किया था। उसके बाद विभिन्न सामाजिक आंदोलनों, जैसे हिन्दू धर्म से अन्य धर्मों में धर्मांतरण, ग्रामीण क्षेत्रों से नगरों में पलायन, मूल निवासी होने की अवधारणा आदि ने इस समस्या के उन्मूलन में मामूली प्रभाव छोड़ा है। 'जाति' समाज में अपने वर्चस्व और संसाधनों के उपभोग से जुड़ी हुई है।

गांधी वर्ण-व्यवस्था को भारत की विश्व सभ्यता की एक अप्रतिम देन मानते थे। वे 'जाति-प्रथा' और 'अस्पृश्यता' के उन्मूलन के हिमायती नहीं थे। वे लिखते हैं कि- "मेरा मतलब यह है कि जो आदिम भंगी के रूप में पैदा हुआ है, उसे भंगी के काम से ही जीविका प्राप्त करनी चाहिए और इसके बाद वह अपनी पसंद का कोई और काम कर सकता है, क्योंकि एक भंगी भी अपने मेहनताने का उतना हकदार है जैसे एक वकील या आपका अध्यक्ष। मेरे अनुसार यही हिन्दुत्व है। पूरी दुनिया में इससे अच्छा

[1]. मुख्यधारा और दलित साहित्य- ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.81

कम्युनिज्म नहीं है। वर्णाश्रम धर्म गुरुत्वाकर्षण के नियम की तरह भी काम करता है। वर्ण का नियम गला काटने वाली प्रतियोगिता का विरोधी है।"[1]

भारतीय संविधान में 'दलित' को अनुसूचित जाति कहा गया है। उनकी जनसंख्या पूरे भारत की जनसंख्या का 16 प्रतिशत है। जो हिन्दू धर्म से धर्मांतरित होकर मुस्लिम, ईसाई, बौद्ध या सिक्क हो गए हैं उनके साथ भी जातीय उत्पीड़न हो रहा है। यदि इन्हें भी जोड़ा जाए तो कुल जनसंख्या का 20 प्रतिशत होगा, यानी 20 करोड़ आबादी जिन्हें जन्म के आधार पर आज भी प्रताड़ित किया जा रहा है। दलितों की यह प्रताड़ना अमानवीय है जो उन्हें मानवीय अधिकारों से वंचित करती है। उनकी कॉलोनियाँ अलग हैं, पानी के संसाधन अलग हैं, पूजा स्थल अलग हैं, श्माशन अलग हैं। अस्पृश्यता व्यक्तिगत भी है और सामाजिक जीवन में भी जबकि संविधान ने अस्पृश्यता पर पूर्ण प्रतिबंध लगाया हुआ है और उसे समाप्त करने की घोषणा की है। फिर भी भारत में अस्पृश्यता मौजूद है क्योंकि जातीय भेदभाव की मान्यता सामाजिकता के साथ-साथ धार्मिक भी है।

भारत में जाति जन्म के साथ शुरू होती है और मरने के बाद भी पीछा नहीं छोड़ती। कुछ लोग यह दावा करते हैं कि समाज में अब 'जाति' की समस्या नहीं है। लेकिन वे उन समाचारों को अनदेखा करते हैं जो हर रोज़ अखबारों में छपते हैं। हर रोज घटने वाली इन घटनाओं से यह पता चलता है कि समुचे देश में पुरातनपंथी कट्टरवादिता अपने चरम पर है। लोकतंत्र मात्र एक दिखावा भर होकर रह गया है।

लेखक ने ग्रामीण भारत में अस्पृश्यता से संबंधित घटनाओं का चित्रण किया है। उदाहरण के लिए "आंध्रप्रदेश राज्यों के अनंत पुरम जिले के महासमुंद्रम गांव में 10 साल की दलित बच्ची लता कुएँ पर पानी भरने गई हुई थी, जब उसी कुएँ पर जमींदार गोल्ला जाति की कलावथम्मा पानी भरने पहुंची तो लता को हटने में थोड़ी देर लग गई। कलावथम्मा ने लता को गाली देते हुए उसकी बाल्टी को लात मार दी। यही नहीं कलावथम्मा ने अपनी बिरादरी के लोगों को इकट्ठा किया और उन्होंने फतवा जारी कर दिया कि अब दलित कुएं पर नहीं आ सकते। दलितों ने इसका सामूहिक विरोध किया तो उनकी बस्ती पर हमला हुआ। गंगम्मा ने पुलिस में शिकायत की, लेकिन मारने-पीटने वाले सब छूट गए। यही

[1].मुख्यधारा और दलित साहित्य- ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.82

हाल जीवन के अन्य क्षेत्रों में भी नजर आता है।"[1] पानी जैसी समस्या से दलितों को लगातार जूझना पड़ता है। राजस्थान, हरियाणा में सार्वजनिक तालाबों का पानी जानवर इस्तेमाल कर सकते हैं, दलित नहीं। इसके लिए उन्हें संघर्ष करना पड़ रहा है। यह है तस्वीर उस भारत की जिसकी महानता का गुणगान करना पड़ रहा है। यह है तस्वीर उस भारत की जिसकी महानता का गुणगान करने में साहित्य पीछे नहीं है। दलितों के जीवन से साहित्यकार उदासीन दिखाई पड़ते हैं। चिंतक, विचारक इस पर चर्चा करना हेय समझते हैं। लेखक ने ऐसा अनेक राज्यों में गुजरात, मुंबई, उत्तराखंड, हरियाणा जैसे 'गोहाना-कांड' और राजस्थान आदि राज्यों की घटनाओं का जिक्र किया है।

आज दलितों में एक नई चेतना पैदा हुई है। उसका श्रेय डॉ. अंबेडकर को जाता है। समूचे भारत में दलितों ने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अपनी छाप छोड़ी है, फिर भी दलित होने का जो खामयाजा उन्हें भुगतना पड़ता है वह उनके प्रगति पथ में रोड़ा बनकर खड़ा है। दलित चिंतक भगवान दास का मत इस प्रकार है कि- "गांवों में ऊंची जाति के भूमिधर लोग दलितों को अच्छे कपड़े पहनने, निर्भय होकर मतदान करने, शादी के जुलूम में घोड़े पर चढ़ने, सार्वजनिक कुओं से पीने का पानी लेने और ऊंची जाति के आदमी के सामने खड़े रहने की तथा सामने चारपाई पर बैठने की इजाजत नहीं देते। शहरों में अनुसूचित जाति के छात्र को जानबूझकर कम अंक दिए जाते हैं। एक अधिकारी को जन्मना अछूत होने के कारण पहले से ही अयोग्य और अक्षम मान लिया जाता है। अछूत परिवार में पैदा हुए प्रोफेसर, वकील, डॉक्टर, आर्किटेक्ट को उसका काम देखे बिना अक्षम और घटिया करार दे दिया जाता है। एक रोगी अछूत डॉक्टर से इलाज कराने को मना कर देता है और मकान मालिक छूत के डर से किराये पर उन्हें खाली मकान देने को तैयार नहीं होता। एक उच्च पदाधिकारी अपने अधीनस्थ दलित की पदोन्नति रोकने के लिए उसकी रिपोर्ट खराब करता है। कैंटीनों, बसों, रेलगाड़ियों और हवाई जहाजों, कार्यालय और संस्थानों में रोजाना अछूत मूल के आदमियों और औरतों पर निकम्मापन थोपा जाता है और घृणित फिकरे कसे जाते हैं। विश्वविद्यालयों और कालेजों में 'स्वायत्त संस्थानों' को प्रदत्त शक्तियों और अधिकारों का प्रयोग करते हुए 'योग्यता' की रक्षा के लिए छात्रों और अध्यापकों की तरक्की के दरवाजे बंद कर दिए जाते हैं-वह योग्यता जो जाली प्रमाण-पत्रों, परीक्षा में अनुचित साधनों, भाई-भतीजावाद

[1]. मुख्यधारा और दलित साहित्य- ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.87

और भ्रष्टाचार से प्राप्त की जाती है।"[1]

दलित की पीड़ा है कि उसे मनुष्य योनि में जन्म लेने के बावजूद मनुष्य रूप मे जीने की स्वीकृति नहीं मिली, अगर दलित को मनुष्य का जन्म लेने के बावजूद मनुष्य के रूप में जीने की स्वीकृति नहीं मिलेगी तो जाहिर है, मनुष्य के रूप में जीने का अधिकार और अवसर भी नहीं मिलेगा. यानी दलित को मनुष्य नहीं मानने के लिए इस तरह का सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक तंत्र रचा गया है कि उसे मनुष्य बनने ही न दिया जाए।

दलितों में, गैर-दलितों के बीच यह घृणा हजारों साल पुरानी है। जब कोई दलित अपनी अस्मिता के लिए उठकर खड़ा होता है या जातीयता की चारदीवारी से बाहर आना चाहता है तो उस पर जातीय घृणा फैलाने का आरोप लगा दिया जाता है। वक्त बदल जाने के बावजूद सवर्णों के मन में दलितों के प्रति घृणा कम नहीं हो रही है। पेड़-पौधों, पक्षियों, पशुओं को पूजने वाला हिन्दू दलितों के प्रति इतना असहिष्णु क्यों है?

जब तक यह पता नहीं होता कि आप दलित हैं तो सब कुछ ठीक रहता है, जाती मालूम होते ही सब कुछ बदल जाता है। दलित होने कि पीड़ा नस-नस में उतर जाती है। गरीबी, अशीक्षा, छिन्न-बिन्न दारुण जिंदगी, दरवाजे से बाहर खड़े रहने की पीड़ा भला अभिजात्य गुणों से संपन्न सवर्ण हिन्दू कैसे जान पाएगा?

बेगार यानी बिना श्रम-मूल्य के जबरन कार्य कराना। इस बेगार-प्रथा के कारण दलित वर्ग में विपन्नता बढ़ी। उनकी निर्धनता के कारणों में बेगार-प्रथा की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। भारतीय समाज में दलितों के शोषण में 'बेगार' का इस्तेमाल एक हथियार के रूप में होता रहा है। बेगार-प्रथा, बंधुआ-मजदूरी ने दलितों का शोषण ही नहीं किया, बल्कि उनके मानवीय अधिकारों का हनन बी किया है। सामाजिक आर्थिक विकास को अवरूद्ध करने में 'बेगार-प्रथा' ने दलितों को गरीबी रेखा से नीचे धकेलने में योगदान दिया है। संपत्ति को विशिष्ट वर्गों, समुदायों में केंद्रित करने में सहयोग दिया है। सामंती-व्यवस्था ने बेगार-प्रथा को वैधानिकता प्रदान की थी।

---

[1]. मुख्यधारा और दलित साहित्य-ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.91

बेगार-प्रथा के उद्‌गम और विकास को जानने-समझने के लिए भारतीय इतिहास, साहित्य, दर्शन आदि की पड़ताल जरूरी हैं।

बेगार-प्रथा और गुलाम-प्रथा दोनों ही भारतीय-जीवन का महत्तवपूर्ण हिस्सा रहे हैं। उन्नीसवीं सदी के प्रारंभ में अब्बे दुबायस की एक महत्त्वपूर्ण और उल्लेखनीय पुस्तक प्रकाशित हुई थी। लेखक कई वर्षों तक दक्षिण भारत के लोगों में रहा था। उन्होंने स्पष्ट तौर पर घोषणा की थी- "मेरा यह कार्य केवल कृष्णा नदी के तटीय क्षेत्रों तक ही सीमित है। उन्होंने मलाबार के गुलामों के विषय में लिखा था कि पेरियाह गुलाम पैदा होते हैं और वे उस भूमि को नहीं छोड़ सकते जो उनके भूमिस्वामी की होती है। भूस्वामी चाहे तो अपनी इच्छा से पेरियाह को बेच भी सकता है। उनका कहना है कि यह हिन्दू-कानून की संवैधानिक मान्यता थी, जो अपनी प्राचीनता के कारण सभी को मान्य थी।"[1]

उन्नीसवीं सदी में ही ज्योतिबा फुले ने महाराष्ट्र में गुलाम-प्रथा के विरुद्ध अपना आंदोलन चलाय था। उनके ग्रन्थ 'गुलामगिरी' में गुलामों की दयनीय दशा को तथ्यपूर्ण ढंग से प्रस्तुत किया गया है, जो मंडल-रिपोर्ट का आधार बना।

गुलाम-प्रथा को समाप्त करने के आंदोलन 1843 से कई उल्लेखनीय तथ्य उभरकर आते हैं। दस्तावेज यह सिद्ध करते हैं कि गुलाम-प्रथा संपूर्ण भारत में फैली हुई थी, जिसे हिन्दू-कानून के तहत लागू किया गया था तथा प्राचीनकाल से जिसका अस्तित्व विद्यमान था।

मिसेज रीज डेविस, रेमिला थापर, ए.सी.दास आदि के मतों से इतना सिद्ध अवश्य होता है कि दास और आर्यों के बीच जो वैमनस्य था, उसने गुलाम-प्रथा को मजबूत किया है। मेगस्थानीज का मानना था कि भारत में दास नहीं थे, परंतु भारतीय स्रोत इस बात का खंडन करते हैं। समृद्ध परिवारों में गृह-दासों की प्रथा आम थी, और ये दास निम्न वर्ण के होते थे। 'अर्थशास्त्र' में कहा गाया है कि- "कोई आदमी या तो जन्म से या स्वेच्छा से अपने को बेचकर अथवा युद्ध बंदी बन जाने पर या न्यायालय से दंड प्राप्त करके दास हो सकता है। दास प्रथा को सामाजिक मान्यता प्राप्त थी, और स्वामी तथा दास के

[1].मुख्यधारा और दलित साहित्य- ओमप्राकाश वाल्मीकि, पृ.99

वैधानिक संबंधों को स्पष्ट रूप से परिभाषित कर दिया गया था।"[1]

लेखक ने संस्कृत साहित्य और उपनिषदों से 'त्रिपिटक', वैदिक साहित्य, वाल्मीकि रामायण में 'किष्किंधा' और 'लंका' , महाभारत के 'शांतिपर्व' और 'महासुपिन जातक' आदि का जिक्र किया है।

आज जब राजा नहीं हैं, जमींदार नहीं हैं, किसान ही खेती की भूमि के स्वामी बन गए हैं, लेकिन बेगार-प्रथा खेतिहर मजदूरों पर ज्यों-की-त्यों लागू है। वही दर्द, वही पीड़ा, वही बेबसी।

अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन की 1993 की एक रपट में यह बात कही गई है कि कई लोग समझते हैं कि गुलाम-प्रथा समाप्त हो चुकी है, लेकिन ऐसा नहीं है। हो सकता है कि श्रमिकों पर बाध्य तरीके भिन्न हो पहले से, लेकिन पहले से कम स्तब्ध करने वाले हरगिज नहीं हैं। रिपोर्ट के अनुसार जबरन मजदूरी के तीन सबसे अधिक प्रचलन वाले तरीके हैं- "पारंपरिक गुलामी, जबरन बालश्रम और ऋण के कारण बंधुआ मजदूरी।"[2]

उपरोक्त तथ्यों से हम इस निष्कर्ष तक पहुंच सकते है कि भारतीय समाज में गुलाम-प्रथा का अस्तित्व प्राचीनकाल में मौजूद था जो समाज-व्यवस्था का आवश्यक अंग था। इसे एक ओर धर्म का समर्थन मिला, वहीं दूसरी ओर समय-समय पर इस अमानवीय प्रथा के विरोध में संघर्ष भी चलते रहे। सामंती युग में इस प्रथा ने बेगार-प्रथा को जन्म दिया, जो समाज-व्यवस्था का आवश्यक हिस्सा बन गयी।

बेगार मानवीय अस्तित्व की गरिमा को तो घटाती ही है; मनुष्य को पशुवत जीवन व्यतीत करने को भी बाध्य करती है। किसी भी समाज में गैर-बराबरी पनपने वाली इस तरह की कुप्रथा का बाहरी रूप भिन्न हो सकता है, परंतु इन सभी का मूल चरित्र लगभग समान रूप से शोषण-उत्पीड़न है।

आज भी ग्रामीण क्षेत्रों में विशेष रूप से कृषी कार्यों में बेगार-प्रथा का चलन विद्यमान है। तमाम संवैधानिक अधिकारों, सामाजिक, राजनैतिक आंदोलनों के बवजूद इस प्रथा से पूर्ण रूपेण मुक्ति नहीं मिली है। 'श्रम का मूल्य' न देकर जबरन काम कराना, सामाजिक अपराध की श्रेणी में गिना जाना

---

[1]. मुख्यधारा और दलित साहित्य- ओमप्राकाश वाल्मीकि, पृ.101

[2]. मुख्यधारा और दलित साहित्य- ओमप्राकाश वाल्मीकि, पृ.111

चाहिए।

दलित-साहित्य का वैचारिक आधार डॉ.अंबेडकर और बुद्ध-दर्शन है, न कि रैदास और कबीर। रैदास और कबीर दलितों के प्रेरणास्रोत अवश्य हैं, लेकिन दलित-आंदोलन, दलित साहित्य के आदर्श नहीं हैं। दलित चेतना में जो जुझारुपन और जीवटता है, वह अंबेडकर की देन है क्योंकि कबीर और रैदास के सामाजिक आंदोलन धार्मिक आख्यानों और रहस्यवाद की बारीकियों में कहीं गुम हो गए, जो वर्ण-व्यवस्था से जूझने और मुक्त होने का विकल्प नहीं बन पाए, जबकि अनेक विद्वान कबीर और रैदास को बुद्ध की परंपरा से जोड़ते हैं। भक्तिकाल के अनेक कवि दलित और शूद्र थे, फिर भी वे कोई स्वतंत्र आंदोलन खड़ा नहीं कर पाए, जो दलितों, शूद्रों में स्वाभिमान और आत्मविश्वास पुख्ता करके, उनकी अस्मिता की पहचान बानता। ये काम डॉ.अंबेडकर ने किया। इसीलिए डॉ.अंबेडकर की भूमिका ज्यादा प्रभावशाली है। ऐसे अनेक विद्वान विचारक हैं जो जाने-अनजाने डॉ.अंबेडकर की इस भूमिका को नजरअंदाज करने की कोशिश करते हैं। साथ ही स्त्री विरोधी विचार की मुहिम में दलित स्त्री की अस्मिता को तार-तार कर देने की साजिश में शामिल हो जाते हैं। यह दलित साहित्य में भटकाव पैदा करने के उद्देश्य से किया जा रहा है, क्योंकि दलित विरोधी खेमों में शामिल अवसरवादी विद्वान, रचनाकार, समीक्षक ऐसा कर सकते हैं, इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

हजारों वर्ष पूर्व बनाए गए विधानों को आरोपित करने में धर्म की भूमिका ज्यादा प्रभावी और सक्रिय रहती है। जोर इसी बात पर रहता है कि धर्म वर्तमान नहीं भूतकाल की श्रेष्ठ चीज है। एक ऐसे समाज के निर्माण में धर्म का उपयोग होता है, जहाँ अधिसंख्यक लोग सिर्फ़ आश्रित होते हैं। यही कारण है कि धर्म कभी भी आश्रयदाता के विरुद्ध खड़ा नही हुआ। न कभी दासता के विरुद्ध अपनी अवाज उठाई। ऐसे समय में जब जनमानस अपनी मुक्ति के लिए संघर्षरत होता है तो उस वक्त धर्म बचाव की रणनीति अपनाता है।

धर्मऔर सत्ता के गठजोड़ ने जो घृणा फैलाई है वह सामाजिक समरसता और भाई चारे की भावना को तहस-नहस कर रही है। धर्म उन सभी तत्वों की मदद कर रहा है जो इस कार्य का नेतृत्व कर रहे हैं। धर्म यदि निजी मामला होता या जैसा कहा जाता है मानवतावादी होता तो यह सांप्रदायिकता, नस्लवाद,जातिवाद, वर्णवाद, सामंतवाद किसकी देन है। राजा को ईश्वर का अंश घोषित करने वाला धर्म ही है। धर्म कभी भी निजी नहीं रहा, यह एक भ्रम, सिर्फ़ बाहरी दिखावा रहा है।

एक दलित के लिए धर्म एक डरावनी भयभीत कर देने वाली संस्था है, जो जरूरत पड़ने पर एक दलित, आदिवासी का इस्तेमाल तो करता है लेकिन उसके अस्तित्व, उसकी पहचान के प्रति असंवेदनशील है जो उसे एक मनुष्य मानने के लिए भी तैयार नहीं है। हजारों साल से धर्म ने दलितों को जानवर से भी नीचे का दर्जा दिया है। उनके लिए वे तमाम रास्ते बंद करके रखे गए जहाँ से होकर विकास के रास्ते पहुंचा जा सकता है।

'जाति' भारतीय समाज व्यवस्था की एक ऐतिहासिक विडंबना है जो सामाजिक वर्चस्व कायम करने के उद्देश्य से रची गई है। इसे धार्मिक दार्शनिकता में लपेटकर समाज के ऊपर थोपा गया है। इसे सही और उचित ठहराने के लिए अनेक टोटके रचे गए हैं जो आज भी जारी हैं।

हिन्दी साहित्य में दलित पात्र एक 'आब्जैक्ट' की तरह इस्तेमाल होते रहे हैं, वे कभी 'सब्जैक्ट' नहीं बनाए गए। लेकिन दलित साहित्य ने उनके जीवन को सब्जैक्टिव बनाया, जिससे उनके गूंगेपन को शब्द मिले और वे दमघोटू वातावरण से बाहर आए। एक और महत्त्वपूर्ण स्थिति निर्मित हुई जिसका गहरा प्रभाव देखने को मिलता है। अभी तक गैर दलित ही उनके लिए, उनकी पहचान के लिए संबोधन तय करते थे। जैसे ढेड़, नीच, कमीन, हरिजन, चूहड़े, चमार, महार आदि। लेकिन दलित-आंदोलन के संघर्ष से 'दलित' संबोधन बाहर आया है जो उन्होंने स्वयं अपने लिए तय किया है। साथ ही अस्पृश्य समाज की तमाम जातियों के अतिशूद्र, नमोशूद्र, पेरियाह, आदि धर्मी, अछूत, हरिजन, अत्यंज आदि नाम इस 'दलित' शब्द में समाहित हो गए हैं। यह शब्द उनकी जिजीविषा और सरोकारों, उनके संघर्ष अस्मिता का परिचायक बनकर उभरा है, जो हीनता का संबोधन नहीं उनके आत्म स्वाभिमान का प्रतीक है। यह शब्द डॉ. अंबेडकर के आंदोलन की आंच में तपकर निकला है। गैर दलित द्वारा दिए गए हिकारत भरे घृणास्पद शब्दों, संबोधनों की जगह 'दलित' सम्मानसूचक, सामूहिक संघर्ष और अस्मिता की पहचान के साथ जुझरूपन की प्रक्रिया का हिस्सा बन गया है, जिसका ऐतिहासिक महत्त्व है।

अस्पृश्यता और जाति भेद पर दो तरह के मत दिखाई देते हैं। एक मत गैर-दरित लेखकों का और दूसरा दलित लेखकों का। कुछ लेखक मध्यम मार्ग पर खड़े दिखाई देते हैं, लेकिन इसके उन्मूलन के प्रश्न पर या इसके उद्‌गम पर चुप्पी साध लेते हैं, इसकी चर्चा तक करना नहीं चाहते हैं। समाज में मौजूद 'जाति' की मानसिकता के वजूद को नकारतें हैं। उसको साहित्य में लाने तथा पाठ्यक्रमों में

शामिल करने आदि को ग़लत व राष्ट्र विरोधी मानते हैं। इसे वे 'जाति' का जहर और वैमनस्य फैलाना कहते हैं। ऐसे ही लोग घरों में बच्चों को दलितों के प्रति नफ़रत करना, अंबेडकर और अन्य दलित नेताओं, दलित समर्थक बुद्धिजीवियों के प्रति अपशब्द कहने से भी नहीं चूकते हैं। डॉ.अंबेडकर की पुस्तक, 'शूद्र कौन', 'जाति का उन्मूलन' आदि अध्ययन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं, जो जाति-व्यवस्था के पीछे छिपे सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक उद्देश्य का विश्लेषण बहुत ही उत्कृष्टता के साथ तर्कसंगत ढंग से करते हैं।

डॉ.कौसांबी, गांधीजी और अंबेडकर, अर्जुन डांगले, विलियम जोंस और डॉ.अभय मोर्य आदि लेखकों, विचारको का विश्लेषण करते हुए लेखक ने डॉ.अभय मोर्य का वामपंथी विचार के सैद्धांतिक पक्ष को प्रस्तुत करते हुए समस्या का विश्लेषण किया है। ये वही बाते हैं जो अक्सर चर्चा-बहसों के दौरान कही जाती हैं। लेकिन दलितों की समस्या इससे ज्यादा जटिल है। वह सिर्फ़ आर्थिक कारणों से ही नहीं है, उसमें आर्थिक पक्ष है, लेकिन मुख्य मुद्दा यह नहीं है। वहाँ वर्ग जैसी अवधारणा का अभी तक निर्माण नहीं हुआ है। वहाँ दो नहीं कई हजार जातियां हैं, जो एक-दूसरे के समानांतर नहीं खड़ी हैं, बल्कि एक पिरामिड की शक्ल में एक दूसरे के ऊपर खड़ी हैं। एक जाति के ऊपर अनेक जातियां हैं जो हर किसी से सामाजिक हैसियत में बड़ी या छोटी हैं। सिर्फ़ यह भेदभाव नीचे की जातियों में ही नहीं है। ब्राह्मण जिसे सर्वोच्चपद प्राप्त है, उसने भी स्वयं को अनेक जातियों में बांट रखा है- कान्यकुब्ज, सरयूपारी, सारस्वत, बीस बीसे वाला तो कोई उन्नीस-बीसे वाला, कोई बड़ी धोती वाला, तो कोई छोटी धोती वाला, किसी के मस्तक पर ऊर्ध्व टीका तो किसी का समतल यानी जटिल होती जडातियों की संरचना, जिसे विदेशी उद्धरणों से नहीं समझा जा सकता है।

हिन्दी में अनेक मार्क्सवादी कहे जाने वाले लेखक, कवि, आलोचक, संपादक हैं, जो स्वयं को प्रतिबद्ध मार्क्सवादी कहते हैं, लेकिन अपने व्यवहार में वे किसी पुरातनपंथी से कम नहीं। ऐसे तमाम लोग तुलसीदास के भक्त हैं। रामचरितमानस पढ़ कर वे अभिभूत हो जाते हैं। वेदों से उन्हें प्रेरणा मिलती है, तो गहरी आस्था के साथ जुड़ी है। ऐसे मार्क्सवादियों पर एक दलित विश्वास करे भी तो कैसे, क्योंकि घर की देहरी में वे ब्राह्मण हैं, ठाकुर हैं, बनिए हैं। अपनी ही जाति के लोगों को उच्च पदों, विश्वविद्यालयों में नियुक्त कराने के सारे जोड़तोड़ कराने में ये माहिर हैं। ये कार्य कोई फासिस्ट करे, ब्राह्मणवादी करे

तो हैरानी नहीं होगी, कोई संघी करे तो आश्चर्य नहीं होगा, लेकिन जब कोई मार्क्सवादी, वामपंती करता है तो विश्वास दरकता है, खंडित होता है और इस आंदोलन के प्रति अविश्वास पैदा होता है। जबकि मूल तत्वों में मार्क्सवाद ने विश्व में जो बदलाव पैदा किया है, उसका कोई सानी नहीं है। मार्क्सवादी चिंतन ने सामाजिक, साहित्यिक मान्यताओं को प्रभावित किया है। किसानों, मजदूरों की भूमिकाएं बदली हैं। इस संदर्भ में डॉ.अंबेडकर ने कहा था कि "राजनीतिक एवं आर्थिक क्रांति से पूर्व सामाजिक क्रांति होनी चाहिए।"[1] उनका यह भी मानना था कि राजनीतिक सत्ता सर्वहारा के द्वारा अधिग्रहित होनी चाहिए, लेकिन साथ ही वे इस बात पर आश्वस्त नहीं थे कि भारत का सर्वहारा वर्ग इस क्रांति को लाने के लिए एकमत हो सकता है। भारत में समानता एवं भ्रातृत्व एवं सबसे जरूरी न्याय की अनुभूति से प्रेरित सर्वहारा का इस प्रकार का एकीकरण, जाति एवं वंश के आधार पर, असंख्य विभाजनों एवं भिन्नताओं के चलते असंभव है। बिना जाति उन्मूलन के समानता और भाईचारे की भावना जाना संभव नहीं है।

हिन्दी नवजागरण के लेखक धार्मिक रूढ़ियों से बंधे दिखाई देते हैं। वहाँ 'वर्ण-व्यवस्था' का विरोध नहीं समर्थन है। दलित-सम्स्याओं के प्रति उदासीनता है। ज्योतिबा फूले के कार्यों, आंदोलन पर कहीं चर्चा दिखाई नहीं पड़ती है। यदि हिन्दी नवजागरण इन सवालों पर चुप्पी साध लेता है, तो इसका सीधा और सरल निष्कर्ष यही है कि नवजागरण तथाकथित उच्चवर्णियों का आंदोलन था और उसमें वही मुद्दे मुखर थे, जिनसे उनका संबंध था।

नवजागरण में भाषा को धर्म के साथ जोड़ने का प्रयास दिखाई देता हैं। जैसे संस्कृत को ब्राह्णों के साथ जोड़ कर देखा गया। नवजागरण में धर्म और संस्कृति को राष्ट्रवाद के साथ देखने की प्रवृत्ति भी स्पष्ट दिखाई पड़ती है। इसीलिए नवजागरण सवर्ण हिन्दू नवजागरण है, जिसने भीतर छिपी सांप्रदायिकता को खाद-पानी देकर मजबूत किया है।

नवजागरण में दलित प्रश्नों को अनदेखा ही किया गया। यहाँ तक कि ज्योतिबा फूले के आंदोलन की ओर भी विद्वानों का ध्यान नहीं गया। इसीलिए उनकी चर्चा भी नहीं हुई। रामशरण जोशी ने एक जगह कहा है कि "भारत में मुक्ति की तीन धाराएँ हैं- 1857 से 2007, सत्याग्रह 1906 से 2006,

[1]. मुख्यधारा और दलित साहित्य -ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.132

और भगत सिंह-हथियारबंद क्रांति। रामशरण जोशी भी फूले- अंबेडकर मुक्ति-संघर्ष जो 1850 से जारी है-अभी तक, की चर्चा नहीं करते हैं। जब कि फूले जी ने स्त्री-समस्या, दलित सम्सया, किसान-समस्या को गंभीरता से लेते हुए, समाज में एक नई चेतना पैदा की, जिससे प्रेरणा पाकर अंबेडकर सामाजिक, वैचारिक चेतना लेकर आते हैं और दलित साहित्य के रूप में एक नई चेतना से साक्षात्कार होता है।"[1]

नवजागरण की चर्चा में दलित जीवन दर्शन के प्रमुख मुद्दे-श्रम के बल पर जीना, मानव और प्रकृति के बीच संघर्ष में से दर्शन रूपायित करना, उत्पादन का समान हिस्सों में उपयोग और मानवीय संबंधों, भाषा, भाव, आचरण आदि में समानता का निर्धारित होना गायब हैं।

डॉ.अंबेडकर के आविर्भाव ने मूक दलितों को वाणी दी थी। हजारों साल के शोषण-दमन और सामाजिक उत्पीड़न के विरुद्ध दलितों ने अपनी आवाज उठाई थी। महाराष्ट्र में डॉ.अंबेड़कर का संघर्ष दलितों में एक नई चेतना जगाने में सफल हुआ था उत्तर प्रदेश में अछूतानंद सक्रिय थे।

लेकिन दलितों के इस मुक्ति-संघर्ष को हिन्दू अलगाववादी नजरिये से देख रहे थे। लाला लाजपत राय जैसे नेता भी दलित आंदोलन को संदेह की दृष्टि से देख रहे थे। उनका कहना था, "नौकरशाही की सहानुभूति के पात्र के रूप में अछूत एक नई खोज है-भारतीयों की स्वराज कामना के विरुद्ध एक हथियार के रूप में अछूत कितना बहुमूल्य है।"[2]

प्रेमचंदयुगीन साहित्य मे दलितों के प्रति भी यही दृष्टिकोण दिखाई देता है। उन्हें शक की दृष्टि से देखा जाता है, उन पर विश्वास नहीं किया जाता है, वे एक वस्तु हैं, जिसे सिर्फ़ इस्तेमाल किया जाए। दलितों की पीड़ा, दुःख-दर्द, उनकी चेतना, उनका संघर्ष साहित्य में संवेदना का अधिकारी बनकर अभिव्यक्ति नहीं पा सका।

प्रेमचंद अपने प्रारंभिक दौर में आर्य समाज से प्रभावित दिखाई पड़ते हैं, फिर गांधीवादी और अंतिम दिनों में प्रगतिशील लेकिन अपने दलित विषयक लेखन में वे वर्ण-व्यवस्था से उपजी शोषण-दमन की विभीषिका की जगह आर्थिक अंतर्वस्तु को ही ज्यादा महत्त्व देते रहे हैं। प्रेमचंद के इस अंतर्द्वंद को उनकी रचनाओं में स्पष्ट देखा जा सकता है।

---

[1].मुख्यधारा और दलित साहित्य -ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.141

[2].मुख्यधारा और दलित साहित्य - ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.145

प्रेमचंद दलित विषयक-मंदिर (1927), मंत्र (1928), घासवाली (1931) आदि कहानियों में सुधारवादी आदर्श को ही प्रस्तुत किया गया है। इन कहानियों में दलित-चेतना का कोई सूत्र दिखाई नहीं देता। एक समय ऐसा भी था, जब प्रेमचंद वर्ण-व्यवस्था और वैदिक संस्कृति का गुणगान करते नहीं थकते थे।

प्रेमचंद ही नहीं के अनेक रचनाकार, आलोचक, बुद्धिजीवी- किसान, मजदूर, दलित को एक ही खांचे में रखकर सोचत-विचारते हैं। ऐसे तथ्यों पर किए जाने वाले विमर्श में वे वर्ण-व्यवस्था से उपजी अमानवीय मंत्रणाओं के परिणामों को अनदेखा कर देते हैं। दलित की समस्या धार्मिक और सामाजिक समस्या है, क्योंकि भारतीय समाज में 'जाति' एक महत्त्वपूर्ण घटक है, जो जीवन के हर क्षेत्र को प्रभावित करती है। प्रेमचंद की रचनाओं में यह बिंदु भ्रम की स्थिति पैदा करता है। वे आदर्शवादी, सुधारवादी पद्धति से इस समस्या को देखते हैं। लेखक ने डॉ.पी.एन. सिंह, डॉ.श्यौराज सिंह बेचैन, मोहनदास नैमिशराय, भगवानदास और डॉ.महीपसिंह आदि का जिक्र भी किया।

प्रेमचंद ने दलित-विमर्श को अपने साहित्य का अंग बनाया। समय काल की दृष्टि से भी उनका पक्ष उचित हो सकता है, लेकिन प्रेमचंद जैसे महान कथाकार की सामाजिक संवेदना का फलक अन्यों से तो अलग होने की अपेक्षा होती है। प्रेमचंद किसान, मजदूर के पक्ष में जिस शिद्धत से अपनी संवेदना और सरोकारों को अभिव्यक्ति दे रहे थे वहाँ दलितों के पक्ष को जानना भी तो आवश्यक था। एक दलित के पक्ष को जानने के लिए 'वर्ण' से उपजी अमानुषिकता को पहचान पाना क्या प्रेमचंद के लिए मुश्किल था। लगभग तीन सौ कहानियों में मात्र दो कहानी ही ऐसी हैं जिनमें दलित पीड़ा को सही अभिव्यक्ति मिल पाई है- 'ठाकुर का कुआँ' और 'दूध का दाम'। 'सदगति' एक उत्कृष्ट कहानी है लेकिन उसे दलित-विमर्श की कहानी कहना उचित नहीं है। कहानी आदर्शोन्मुख यथार्थ से आगे बढ़कर भारतीय गांव के सामंती ढांचे की नग्नता चित्रित करती है जिसमें धार्मिक पाखण्डों के सामने दुःखी चुपचाप अपने-आपको मर जाने देता है। कहीं कोई शिकवा-शिकायत का भाव तक नहीं उभरता। भीषण अमानवीय भय और अमंगल की आशंका पर आधारित व्यवस्थाओं में वह चुपचाप मर जाता है। उसके मरने परभी कहीं कुछ नहीं होता। कोई फुसफसाहट तक नहीं। यह घोर नैराश्य की कहानी है, जिसमें दलित-विमर्श का कहीं कोई संकेत नहीं है।

प्रेमचंद वर्गीय चेतना के आदर्शवादी कथाकार हैं। वर्ण-व्यवस्था ने दलितों को जो सामाजिक पीड़ा दी है उसकी छटपटाहट आक्रोश प्रेमचंद के कथा संसार में सुसुप्त अवस्था में है। अपने अंतिम समय में 'कफ़न' कहानी लिखते हैं जिसे हिन्दी समालोचक चाहे जितने तर्कों, मापदंडों, वैचारिक आवरणों मे लपेट कर श्रेष्ठ या उत्कृष्ट कलात्मक कहानी सिद्ध करते रहें, लेकिन दलित के लिए यह कहानी हिन्दूवादी, वर्णवादी सोच की कहानी है, जिसमें दलित की आंतरिक व्यथा का कहीं कोई संकेत तक नहीं, केवल उनकी 'अकर्मण्यता' को ही दिखाया गया है जो एकपक्षीय सोच और मानसिकता की नकारात्मक कहानी है।

इन तमाम सहमतियों, असहमतियों के बावजूद प्रेमचंद अपने समय के एक ऐसे रचनाकार है जिन्होंने हिंदी साहित्य में यथार्थ को स्वीकार्य बनाया, पाठकों की रुचि विकसित की, साहित्य को प्रासंगिक बनाया। किसान, मजदूर, दलित को साहित्य का अंग बनाया। प्रेमचंद प्रामाणिक, अनुभव जनित यथार्थ के लेखक हैं। दलित रचनाकार उनकी साहित्य-यात्रा से प्रेरणा लेता है। प्रेमचंद के समकालीन छायावादी रचनाकारों के साथ जब प्रेमचंद का मूल्यांकन करते हैं, तो अंतर दिखाई पड़ता है। छायावादी युग का अमूर्त स्वप्निल यथार्थ प्रेमचंद के इर्द-गिर्द कहीं दिखाई नहीं देता। वे अपना रचना-संसार वहाँ रचते हैं जहाँ जनमानस के सरोकार विद्यमान होते हैं।

प्रेमचंद की रचनाएं जितनी सहज और सरल हैं उतना ही उनका प्रभाव गहरा है। यह सहजता जीवन की जटिलताओं से उभरी है। इसीलिए उसका सीधा संबंध जीवन की जीजीविषा से जुड़ता है। इसीलिए दलित रचनाकार प्रेमचंद को अपने करीब पाता है। विरोध सिर्फ़ वहाँ है जब हिन्दी आलोचक 'कफन' जैसी कहानी को दलित-चेतना की कहानी कहते हैं, जिससे एक दिशाहीन भ्रम पैदा होता है, जिसके पीछे दलित-चेतना को खारिज करने या नकारने की मंशा अधिक होती है।

प्रेमचंद का रचना-संसार जितना विस्तृत है, उतना ही विविधताओं से भरा हुआ है। उनकी रचनाओं में राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन, सांप्रदायिकता-विरोध, निजी जीवन के उतार-चढ़ाव, अति प्राकृतिक घटनाएं, व्यंग्यात्मक, मनोवैज्ञानिक एवं रूपक शैली में लिखी गई रचनाएं, ग्रामीण जीवन की यातना, संघर्ष और शोषण पर आधारित कहानियाँ, नारी-समस्या और दलित पात्रों को केंद्र में रखकर लिखी गई रचनाएँ प्रमुख हैं।

प्रेमचंद ने किसान, मजदूर, नारी और दलित के जीवन के कटु यथार्थ और जीवन की क्रूरता, अमानवीयता, दयनीयता को समय-काल की विशेष परिस्थितियों के साथ उनकी विवशता भरी जदिंगी को उपस्थित करने में जिस भाषा का प्रयोग किया है, हिन्दी कथा-जगत को एक ऐसा मुहावरा दिया जो उनसे पूर्व दिखाई नहीं देता है। यानी यथार्थ-जगत का उसी भाषा में चित्रण प्रेमचंद से ही शुरू होता है।

दलित साहित्य की जीवंतता, स्पष्टता, मौलिकता की ओर ध्यान देने के बचाए समीक्षक या परंपरावादी पाठक उसके जातीय-संघर्ष, अतीत के प्रति आक्रोशित अभिव्यक्ति जैसी स्थिति में ही उसे रखकर देख रहे हैं। कुछ लोग तो इसे जातिवादी भी कह रहे हैं; जबकि दलित साहित्य 'जातिवाद' के विरोध में खड़ा है। उसकी अंतः चेतना, उसके मानवीय सरोकर, जीने की ललक, समता और भाईचारे के लिए उसकी प्रतिबद्धता की ओर से समीक्षक उदासीन हैं, उनके विश्लेषण में इन आंतरिक मूल्यों का कहीं जिक्र नहीं होता। न ऐसी कोशिश दिखाई पड़ती है। दलित साहित्य के ये मूल्य आलोचना के कसौटीगत मूल्यों को प्रभावित क्यों नहीं करते हैं? दलित साहित्य के प्रति यह उदासीनता साहीत्यिक छद्म ही कहा जाये?, या फिर एक दुःखद स्थिति? साहित्य शास्त्र के बने बनाए मापदंडों के प्रति जो अवज्ञ भाव दलित साहित्य में दिखाई देता है वह दलित जीवन के यथार्थ से उपजा है। इसमें उन पारंपरिक मूल्यों का निषेध है, जो मनुष्य की स्वतंत्रता, बंधुता और समता के विरोध में खड़े हैं। दलित साहित्य का यह बिंदु विवेकहीन नहीं है, बल्कि उसकी अंतःचेतना का हिस्सा है, जो समकालीनता की अवधारणाओं को दृढ़ता प्रदान करता है। वह जड़ता के विरुद्ध समय की जरूरत के साथ अपनी प्रतिबद्धता और बदलाव की प्रक्रिया के प्रति सचेत है। इसीलिए एक नई चेतना का उन्मेष दलित साहित्य की अवधारणाओं का विशिष्ट अंग है। इसी के आधार पर दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र विकसित हो रहा है।

आज दलित साहित्य की रचनात्मकता और विमर्श का जो विस्तार हुआ है, गैर दलित पाठक दलित साहित्य की ओर जो आकर्षित हुए हैं, उस के विमर्श में हिस्सा ले रहे है, उससे साहित्य की व्यापकता प्रभावित हुई है। लेकिन एक बात जो लगातार चिंता का विषय बनी हुई है, वह यह है कि दलित साहित्य विमर्श में भागीदारी करने वाला गैर दलित रचनाकार, विद्वान, आलोचक, पाठक दलित समाज के प्रति

उदासीन है। यह बेचैन कर देने वाली स्थिति है।

दलित साहित्य का उद्‌भव भारतीय समाज-व्यवस्था की अमानवीयता से हुआ है। आज बदलते परिदृश्य में स्थितियाँ कुछ भिन्न हैं, और बहुत तेजी से बदल रही हैं। भारतीय समाज-व्यवस्था पर पाश्चात्य प्रभाव बहुत तीव्रता से अपनी जड़े बढ़ा रहा है। भारतीय मानस की प्राथमिकताएँ, मानसिकताएँ, अभिरुचि, भाषा, व्यवहार भी बदल रहा है। एक ओर परंपराओं को बचाए रखने का काम भी युद्ध स्तर पर हो रहा है। देश में मंदिरों की संख्या में वृद्धि हो रही है। इन बदलती स्थिति, मानसिकताओं को साहित्य के लिए पकड़ना जरूरी है। जब समाज बदलता है तो साहित्य में भी परिवर्तन आता है। इसीलिए लेखक का मानना है कि हर लेखक को एक साथ कई मोर्चों पर ध्यान केंद्रित करना होता है। यदि साहित्यकार इस बदलाव को अनदेखा कर देगा, तो वह समय के साथ नहीं चल पाएगा।

दलित आत्मकथाकार कथा तो अपनी कहता है, लेकिन वह उन सब की कथा भी कह रहा होता है जिनके बीच वह रहता, जिनके संग-साथ उसने शोषण-प्रताड़ना भोगी है, जो इससे मुक्ति चाहते हैं। इसीलिए यहाँ ओमप्रकाश वाल्मीकि कहता है कि- "दलित आत्मकथा किसी एक व्यक्ति विशेष के दग्ध अनुभवों का विवरण मात्र नहीं होता है बल्कि समुचे समाज का ऐतिहासिक तथ्य बन जाता है। इससे सामाजिक समानता, स्वतंत्रता और बंधुत्व की भावना संवर्द्धित होती है। सामाजिक संदर्भों में लिंग, जाति, वर्ण और धर्म के भेद मिटाने का जद्दोजहद पैदा होती है। इसीलिए जब आत्मकथाकार सवाल खड़े करते हैं तो उसके सामने समानता की मांग सर्वोपरि होती है। यहाँ यह कहना भी अप्रसंगिक नहीं होगा कि धार्मिकता मनुष्य की स्वतंत्रता के लिए नहीं लड़ा। दासता का सवाल उसके लिए गौण होता है। दलित आत्मकाथाकार इस तथ्य को समझता है; क्योंकि हजारों साल की दासता में धर्म का व्यवहार उसने देखा है।"[1]

अंत में लेखक ने 'उम्मीद अभी बाकी है..' आलेख में 'युद्धरत आम आदमी' संपादिका-रमणिका गुप्ता की पक्षधरता, मखरता, गंभीरता, जिम्मेदारी और प्रतिबद्धता के साथ कैसे उपस्थित है इन सब का चित्रण लेखक ने इस कृति में विस्तार से प्रस्तावित किया है।

---

[1].मुख्यधारा और दलित साहित्य - ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.172

निष्कर्ष:

ओमप्रकाश वाल्मीकि जी ऐतिहासिक उत्पीड़न, शोषण और दमन का विश्लेषन करते हैं। उनकी ऐतिहासिक और सांस्कृतिक पुष्ठभूमि का आकलन करना है, और उनके सामने खड़ी समस्याओं का विवेचन करना है। इसके लिए ऐतिहासिक विवरण ही काफ़ी नहीं हैं, बल्कि वर्तमान का मूल्यांकन भी उतना ही आवश्यक है। ओमप्रकाश वाल्मीकि का उद्देश्य लम्बे भीषण, नारकीय दौर में वाल्मीकि समाज की उलब्धियों, संघर्षों की खोज कर, ऐसी मिसाल पेश करना है जो भविष्य के अन्धकार से उसे बाहर निकलने की प्रेरणा दे सके।

दलित साहित्यान्दोलन की एक बड़ी कमी को पूरा करती हुई दलित-रचनात्मकता की कुछ मूलभूत आस्थाओं और प्रस्थान बिन्दुओं की खोज भी करती है, और साहित्य के स्थापित तथा वर्चस्वशाली गढ़ों को उन आस्थाओं के बल पर चुनौती भी देती है। दलित साहित्य और उसकी सोच एवं दृष्टि को व्याख्यायित करने का प्रयास भी किया गया है। वाल्मीकि जी ने अपने विचारात्मक लेखन का ज़रिया भी बनाया है जिसमें उनके दलित लेखन को लेकर दूसरे लेखकों से हुए आलोचना की भी महत्वपूर्ण भूमिका है।

भारतीय वर्णवादी व्यवस्था में 'वर्चस्वादी शक्तियों द्वारा निर्मित धारा' ही ओमप्रकाश वाल्मीकि की दृष्टि में मुख्यधारा है और दलित साहित्य...तथाकथित इस मुख्यधारा के विपरीत ध्रुवों पर खड़ा है। विपरीत ध्रुवों पर खड़ी दलित साहित्य-धारा के संबंध में वाल्मीकि जी का कहना है कि यह एक लंबी संघर्ष यात्रा है, जो बुद्ध, फुले और अंबेडकर से होती हुई यहाँ पहुँची है। यह धारा बुद्ध की मानवीय चिंताओं को अपने भीतर संजोए हुए है। घृणा करनेवालों को भी घृणा नहीं करने की सीख देती है।

*****

षष्टम अध्याय

ओमप्रकाश वाल्मीकि का साहित्य अभिव्यक्ति के विविध रूप

प्रस्तावना :

6.1.दलित साहित्य की भाषा

6.2.ओमप्रकाश वाल्मीकि के साहित्यिक शिल्प में दलित चिन्तन

6.2.1.प्रकृति चित्रण की अभिव्यक्ति

6.2.2.प्रतिरोध की भाषा

6.2.3.परंपरागत शिल्पगत विधानों का तिरस्कार

6.2.4.नये समाजशास्त्र को रचता भाषिक विधान

6.3.ओमप्रकाश वाल्मीकि की रचनाओं में शब्द और अर्थ

6.4.दलित साहित्य में बिम्ब और प्रतीक

निष्कर्ष

षष्ट अध्याय

ओमप्रकाश वालमीकि का साहित्य अभिव्यक्ति के विविधा रूप

प्रस्तावना :

इस आध्याय में दलित साहित्य की भाषा, ओमप्रकाश वाल्मीकि के साहित्यिक शिल्प में दलित चिन्तन, के अंतर्गत प्रकृति चित्रण की अभिव्यक्ति, प्रतिरोध की भाषा, परंपरागत शिल्पगत विधानों का तिरस्कार, नये समाजशास्त्र को रचता भाषिक विधान, ओमप्रकाश वाल्मीकि की रचनाओं में शब्द और अर्थ, दलित साहित्य में बिंब और प्रतीक और दलित व गैर दलित रचनाकारों के दृष्टिकोण में अंतर स्पष्ट किया जायेगा।

दलित साहित्य में जनभाषा के शब्दों और आंचलिक बोलियों को अधिक महत्व दिया गाय है। दलित साहित्य में सरल जनभाषा के द्वारा अपने कथ्य को स्पष्ट करना ही महत्वपूर्ण माना गया। दलित साहित्य में भाषा-शिल्प, प्रतीकात्मकता, बिम्ब-विधान, छन्द एवं अलंकार- विधान, विद्रोही मनोवृत्ति, सामाजिक यथार्थ आदि का संस्पर्श दिखाई पड़ता है। सामाजिक यथार्थ दलित साहित्य की शक्ति है, सामाजिक बदलाव और चेतना पर दलित साहित्य का विशेष ध्यान रहा है।

6.1.दलित साहित्य की भाषा :

आज का दौर परिवर्तन का दौर है। भारतीय समाज, साहित्य और संस्कृति में दलित विचारधारा एक सशक्त सामाजिक आन्दोलन के रूप में उभर कर आ रहे हैं। दलित साहित्य और दलित अस्मिता की परख और पहचान पर सशक्त एवं खुले रूप से बहस हो रही है। लेकिन अभी भी लेखकों और विद्वानों के अनुसार दलितों की मुक्ति का रास्ता स्पष्ट नहीं हुआ है। आज इस पर गहन चिन्तन की आवश्यकता है कि दलितों की अस्मिता व पहचान के लिए कौन-सा दृष्टिकोण अपनाया जाये जिससे कि उसका सही रूप सामने आ सके और सही मायने में मुक्ति मिल सके।

हिन्दी साहित्य के अन्तर्गत दलित साहित्य ने वर्तमान समय में विशेष स्थान बनाया है। दलित अपनी पहचान अपने साहित्य के माध्यम से ही कर सकता है। जाति भेद के विरुद्ध साहित्य में उत्पीड़न, मानवता के प्रति घृणा, दलित का विकास मूलतः मराठी में सबसे पहले हुआ। हिन्दी के क्षेत्र में दलित

साहित्य की चर्चा ने नवें दशक में जोर पकड़ा। दलित साहित्य मानवीयता को केन्द्र बिन्दु मानने वाला, अन्याय के विरुद्ध संघर्ष करने वाला, समता-बन्धुता का प्रचार-प्रसार करने वाला साहित्य है, जिसकी सोच वैज्ञानिक, विवेक और तर्क पर आधारित है।

आत्मकथाओं के साथ ही दलित साहित्य हिन्दी की विभिन्न विधाओं - कविता, उपन्यास, नाटक, निबन्ध आदि में भी उपलब्ध है। इन रचनाओं ने विशेषकर आत्मकथाओं में दलित साहित्य को नयी दिशा दी है। दलितों का यथार्थ वास्तविक रूप में उनकी आत्मकथाओं में ही अंकित होता है। साहित्य में आत्मकथा लेखनबन्धुत्व, समता, भ्रातृ-भावपूर्ण शान्ति और समृद्धि है। दलित शब्द से अनेक प्रकार का बोध होता है जैसे दुःख-बोध, दैन्य-दासत्व बोध, जाति-वर्ग बोध और क्रान्ति बोध।

हिन्दी दलित साहित्य अपने पहले चरण में है, इसलिए अभी उससे परिपक्व शिल्प की अपेक्षा नहीं की जा सकती है। जिन विद्वानों को यह कमज़ोरी दिखाई देती है, वह दलित साहित्य का कम उनका अपना दृष्टिकोण अधिक है। "दलित साहत्य का शब्द सौन्द्रर्य प्रहार में है, सम्मोहन में नहीं। वह समाज और साहित्य में शताब्दियों से चली आ रही सड़ी-गली परम्पराओं पर बेदर्दी से चोट करता है। वह शोषण और अत्याचार के बिच हताश जीवन जीने वाले दलित को लड़ना सिखाता है।"[1]

दलित कवियों की भाषा किसी की मुहताज नहीं है। दलित कवि जानते हैं कि भाषा अभिव्यक्ति का माध्यम है। वे जिस भाषा का प्रयोग करते हैं उसके माध्यम से अपनी बातें, अपने विचार, अपना संदेश, क्षोभ, क्रोध, राग-विराग,पीड़ा सब कुछ सम्प्रेषित करने में समर्थ हैं। वे आक्रोश की भाषा का प्रयोग करते हैं, तो भाषा का आक्रोश भी देखने में आता है। वे ऐसी भावना का प्रयोग भी करते हैं, जिसमें कुछ लोगों को ऐतराज भी हो सकता है तथा उनके मन में जुगुप्सा भी पैदा हो सकती है, किन्तु ऐसी भाषा अकारण नहीं आती। इसका कोई-न-कोई तार्किक सन्दर्भ होता है। इस संदर्भ में मुद्राराक्षस लिखते हैं कि- "दरअसल कोई भी नया कथ्य अपने पूर्व की विचार परम्परा से विद्रोह करता है। उतनी सीमा तक परम्परा के सौन्दर्यबोध सम्बन्धी मूल्यों को भी तोड़ता है। वह अपनी भाषा, अलंकारशास्त्र और अपना छन्द-तन्त्र बनाता है। कबीर ने यही किया था। उन्होंने संस्कृत का प्रयोग भी नहीं किया था और तत्कालीन सवर्ण कथ्य की अवधी और ब्रज को भी स्वीकार नहीं किया था। उन्होंने जिस भाषा

[1].मेरा दलित चिन्तन, डॉ.एन.सिंह, पृ.40

का आविष्कार किया था, वह देश के बहुसंख्यक गैर साहित्यिक समाज के बोध की भाषा थी। इसीलिए मात्रिक छन्दों का स्वरूप भी उनका अपना था।"[1]

दलित साहित्य ने संस्कृतनिष्ठ परम्परागत साहित्यिक भाषा, काव्यशैली, प्रस्तुतीकरण को नकार कर सर्वग्राही भाषा का प्रयोग किया है। ऐसी भाषा जो दलितों की पीड़ा, अपमान, व्यथा की सही और यथार्थवादी अभिव्यक्ति बन सके। दलित साहित्य की भाषा नकार और विरोध की भाषा है जिसमें युगों की यातनाएँ साकार हो उठी हैं। ओमप्रकाश वाल्मीकि, मोहनदास नैमिशराय, श्यौराजसिंह बेचैन, जयप्रकाश कर्दम आदि रचनाकारों ने इस भाषा को विस्तार दिया है।

विमल थोरात लिखती हैं कि- "दलित कविता व्यक्तिगत अनुभवों से सम्पृक्त होने के साथ ही समूह-मन के अनुभवों की अनुभूति भी है।"[2]

ओमप्रकाश वाल्मीकि की 'जूठन' और मोहनदास नैमिशराय की 'अपने-अपने पिंजरे' इन आत्मकथाओं में दलित साहित्य में चित्रित समूह मन के अनुभवों की अनुभूति विद्यमान है। सूरजपाल चौहान, ओमप्रकाश वाल्मीकि, जयप्रकाश कर्दम आदि रचनाकारों की कहानियों में दलित जीवन की भाषा अपनी सहजता के साथ प्रभावशाली रूप ग्रहण करती है।

कुछ आलोचक दलित साहित्य में गन्दी और अशलील भाषा के प्रयोग की ओर संकेत करते हैं। उन्हें लगता है साहित्य का पाठ 'पवित्र' होना चाहिए। भले ही उसमें बनावटी भाषा, जो अभिजात्य संस्कारों से रची-बसी हो, का प्रयोग करना पड़े। यह धारणा उचित नहीं है क्योंकि दलित साहित्य कल्पना में नहीं जीता। वह जीवन के कटु यथार्थ से रूबरू होता है।

यातनाओं से उपजी आक्रोशित भाषा एक तेज़ औज़ार की तरह भीतर तक झकझोर देती है। दलित समाज की बोली-बानी के ऐसे अनेक शब्द प्रकट होते हैं, जिनसे साहित्य अनभिज्ञ था। यह दलित साहित्य को ताजगी देता है और भाषा की जड़ता भी टूटती है।

दलित जिस परिवेश में जीवन जीते हैं, वहाँ गन्दी गलियों में नंग-धड़ंग घूमते बच्चे हैं, दूषित वातावरण है जिसे पारम्परिक आलोचक नहीं जानते। उस परिवेश की भाषा को अश्लील कहना पूर्वग्रह

---

[1].दलित विमर्श के विविध आयाम, वीरेन्द्र सिंह यादव, पृ.177

[2].दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र - ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.81

ही कहा जाएगा।

दलित साहित्य की भाषा गद्यात्मक है जिसमें नकार और विरोध का स्वर मुख्य रूप से उभरता है। दलितों के जीवन की विसंगतियाँ, उत्पीड़न, शोषण और दमन की अभिव्यक्ति के लिए यही भाषा ज्यादा सटीक लगती है। कुछ आलोचक सपाटबयानी का आरोप भी लगाते हैं।

"शब्द ही तो थे
जो मनुस्मृति में लिखे गए
राम राज चला गया
पर शम्बूक की चीख अभी बाकी है
जैसे दलितों की पीठ पर
चोट के निशान
शब्द सिसकते नहीं बोलते हैं
चोट करते हैं
जैसे दलित से हरिजन
और हरिजन से दलित"[1]

दलित साहित्य की भाषा सिर्फ नकार और विद्रोह की भाषा ही नहीं है बल्कि परिवर्तन की छटपटाहट और अन्तर्सम्बनधों की ऊर्जा अपने भीतर सँजोए हुए है। वह अपनी दुःखद स्थितियों पर सन्ताप व्यक्त करता है। लेकिन अतीत के स्याह दिनों में भी अपनी अस्मिता ढूँढ़ना चाहता है। 'मुट्ठी भर चावल' शीर्षक की कविता में ओमप्रकाश वाल्मीकि कहते है कि-

"ओ, मेरे अज्ञात अनाम पुरखो
तुम्हारे मूक शब्द जल रहे हैं
दहकती राख की तरह।
राख : जो लगातार काँप रही है
रोष से भरी हुई।

[1]. दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र - ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.82

मैं जानना चाहता हूँ
तुम्हारे शब्द...
तुम्हारा भय...
जो तमाम हवाओं के बीच भी
जल रहे हैं

दीये की तरह युगों-युगों से!"[1]

दलित साहित्यकारों ने वेदना, विद्रोह और आक्रोश के साथ-साथ वैचारिक प्रतिबद्धता को भी अपनी भाषा में प्रधानता के साथ अपनाया है। दलित रचनाकार सामाजिक यथार्थ के प्रति सिर्फ संवेदनशील ही नहीं सजग भी हैं।

दलित कविता में जो आक्रोश और विरोध की भाषा है, उसकी अभिव्यंजना अर्थपूर्ण है। सामाजिक सन्दर्भों से जुड़कर वह अपनी अभिव्यक्ति में एक आह्वान है। डॉ.सी.बी.भारती की कविता 'चुनौती' में छिपी वेदना तड़पकर कहती है-

"हमारी भागीदारी के लिए
योग्यता की सर्त
कब तक फेकोगे तुम
अपना मकड़जाल हम पर?
घबराओ नहीं
समय आ रहा है
जब हम भी बदेंगे तुमसे
दौड़ने की शर्त
जीतेंगे बाजी
तोड़ेंगे तुम्हारा दर्प।
सुनो ! परिवर्तन की सुगबुगाहट

[1].बस्स बहुत हो चुका- ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.15

हवा का रुख

पहचानो ! पहचानो ! पहचानो ! ! !"[1]

नकार, विरोध, प्रतिरोध, विद्रोह को व्यक्त करने के लिए दलित कवि जिस भाषा का प्रयोग करता है वह तेज बहाव की तरह है। नदी के उफनते जल का वेग जो किनारो को तोड़ बन्धनमुक्त होना चाहता है। आलोचकों को इस भाषा के उद्‌गम को समझना होगा, क्योंकि दलित साहित्य की भाषा का सीधा सम्बन्ध दलित-जीवन से है। अपने दग्ध अनुभवों को दलित रचनाकार सीधे-सीधे साहित्य में प्रस्तुत करता है, बिना किसी लाग-लपेट के।

6.2.ओमप्रकाश वाल्मीकि के साहित्यिक शिल्प में दलित चिन्तन :

दलित साहित्य दलित समाज की वास्तविक पहचान कराने वाला साहित्य है। वह परम्परावादी चेतना के विरुद्ध दलित चेतना का प्रचार-प्रसार करता है। सनातनी परम्परावादी व्यवस्था एक मिथ्या चेतना के विरुद्ध जिसके आधार पर आज हिन्दुत्ववादी ताकतें हिन्दुत्व का दर्शन विकसित करने की कोशिश कर रही हैं। यह मिथ्या चेतना ब्राह्मण-पुराण और उपनिषदों के आधार पर विकसित की गई हैं। वर्णव्यवस्था और जातिवाद जैसी घृणित प्रथा का वैचारिक ढांचा भी इन्हीं मुल्यों के आधार पर खड़ा किया गया है ताकि दलित समाज विभिन्न जातियों में बंटकर अलग-सलग पड़ा रहे।

हजारों साल के सामाजिक-सांस्कृतिक अलगाव की वजह से ही दलित समाज अपनी ही साहित्यिक अभिव्यक्ति से वंचित रहा। इससे भारत की सामाजिक-सांस्कृतिक विकास की स्वाभाविक प्रक्रिया में अवरोध पैदा हुआ। हजारों साल तक परम्परावादी ताकतें दलितों की साहित्यिक अभिव्यक्ति रोकने में सफल रहीं, पहले नाथों-सिद्धों और फिर मध्ययुगीन निर्गुण संतों-कबीर-रैदास आदि ने परम्परावादी साहित्य-संस्कृति के खिलाफ आवाज़ उठाकर इस गतिरोध को तोड़ा। अब दलित साहित्यकार अपनी रचनाओं के माध्यम से परम्परावादी संस्कृति का पोषण करने वाले हिन्दुत्व के दर्शन पर सीधा प्रहार करके उसे समूल नष्ट करने की कोशिश कर रहे हैं, तब कहीं जाकर जातियों और वर्गो में विभाजित भारतीय समाज के जातिहीन और वर्गहीन समाज में बदलने की प्रक्रिया शुरू हुई है।

---

[1]. युद्धरत आम आदमी - सं.रमणिका गुप्ता, जुलाई-सितम्बर,अंक 31, पृ.82

यह प्रक्रिया दलित साहित्यकारों के दखल के बाद तेज हुई है क्योंकि पूरे भारत में दलित साहित्यकारों ने एक साथ अपनी सामाजिक-सांस्कृतिक अभिव्यक्ति का इज़हार किया है। वर्तमान में दलितों की साहित्यिक-अभिव्यक्ति को अब किसी भी सूरत में रोका नहीं जा सकता है, क्योंकि दलित साहित्यकार इसके प्रति सजग और सतर्क ही नहीं है बल्कि दृढ़ संकल्प भी लिए हुए है।

आज दलित साहित्य, साहित्य की सभी विधाओं में विस्तार पा रहा है। देश की विभिन्न प्रतिष्ठित गैर-प्रतिष्ठित, पत्र-पत्रिकाओं में दलित साहित्यकारों की जो भी रचनाएँ छप रही हैं वे परम्परावादी आलोचकों के विरोध की मार झेल रही हैं। विरोध के बावजूद दलित साहित्य धीरे-धीरे तथाकथित हिन्दी लेखकों में अपनी अलग पहचान बनाने में सफल हो रहा है। "दलित साहित्य बहुजन समाज की पीड़ा और दुःख-दर्दों को ही नहीं दिखा रहा बल्कि सामाजिक-अन्याय और शोषण के विरुद्ध उनके आक्रोश और विद्रोह को भी अभिव्यक्त करके उसमें दलित चेतना का विस्तार कर रहा है। दरअसल दलित साहित्य मनोरंजन या आनन्द उठाने का साहित्य नहीं है। ये प्रितबद्ध, अनुबद्ध, कटिबद्ध परिवर्तनकामी प्रवृत्तियों से भरा साहित्य है जो अतीत से नहीं वर्तमान से सीखता है और जो भविष्य को बनाने में विश्वास रखता है। ये दलितों को धर्म और उसके अंधविश्वासों से मोह भंग करने के लिए यदि नकार का प्रयोग करता है तो नये समाज का निर्माण करने के लिए स्वीकार का प्रयोग भी करता है।"[1]

6.2.1. प्रकृति चित्रण की अभिव्यक्ति :

दलित कवि प्रकृति को भी अपनी कविता का विषय बनाता है। प्रकृति के माध्यम से अपनी पीड़ा, दुःख, दर्द और भावों को व्यक्त करता है। कहीं-कहीं पर प्रकृति को बिंब के रूप में प्रयोग किया हैं। दलित कवि अपनी कविताओं में दलितों के दुःख-दर्द, पेड़, नदी, पहाड़, आकाश, सूरज, हवा, दूध आदि के माध्यम से अभिव्यक्ति दी है। हर व्यक्ति के लिए सम्मान, प्रतिष्ठा, पहचान, स्वेच्छा, अधिकार ये महत्त्वपूर्ण चीज़ें हैं। इनके बिना व्यक्ति की हालत ठीक वैसे ही है जैसे बिना पत्ते के, बिना हरियाली के पेड़ की।

[1].दलित चेतना : साहित्यिक एवं सामाजिक सरोकार, डॉ.रमणिका गुप्ता, पृ.95

ओमप्रकाश वाल्मीकि अपनी 'पेड़' शीर्षक कविता में इसका वर्णन करते हैं-

"पेड़
तुम उसी वक्त तक पेड़ हो,
जब तक ये पत्ते
तुम्हारे साथ हैं
पत्ते झरते ही
पेड़ नहीं ठूँठ कहलाओगे
जीते जी मर जाओगे।"[1]

इस व्यवस्था में सुख-सुविधाएँ कुछ लोगों को ही मिलती हैं। गरीब हमेशा अभावों में जीता है। जब वह गर्भ में था तब चारों ओर घिरा अंधकार था और जब पैदा हुआ तब भी जीवन में सब कुछ अंधकारमय है। ओमप्रकाश वाल्मीकि इस विषमता का चित्रण 'अंधेरे की नदी' शीर्षक कविता में करते हैं-

"उसने चिल्ला कर आवाज़ दी-
तुम कहाँ हो धूप?
धूप ने कहा-
सबसे ऊँची इमारत के सबसे ऊँचे
कमरे में कैद हूँ।"[2]

दलित कवि अपनी कविता में उस स्थिति का वर्णन करता है- जब बहुत दिनों तक बरसात न होने के कारण चारों ओर पानी के लिए त्राही-त्राही मची हो। मनुष्य और जानवरों को पीने के लिए पानी मिलना भी मुश्किल हो गाया है। किसान ज़मीन में बीज बोने के लिए अधीर है। ओमप्रकाश वाल्मीकि अपनी 'अकाल' शीर्षक कविता में कहते हैं-

---

[1].बस्स ! बहुत हो चुका है- ओमप्रकाश वाल्मीकि-पृ-11
[2].बस्स ! बहुत हो चुका है- ओमप्रकाश वाल्मीकि-पृ-26-27

"दूर-दूर तक
आकाश में
बादल का कोई भी टुकडा नहीं था
सूख रही थी नदी चुपचाप।"[1]

इसी कविता में आगे कवि हवा का वर्णन और उसकी ताक़त का वर्णन करते हैं कि जहाँ कुछ नहीं होता वहाँ खालीपन भरने के लिए हवा होती है। जो अपने आसपास से गुज़रती है और अपने अंदर चाकू की तरह उतर जाती है।

"हवा की सरसराहट
गुज़रती है पास से
धारदार चाकू की तरह
जिसे तुम छुओ या न छुओ
चुपचाप उतर जायेगी।"[2]

दलित कवि प्रकृति को देख भाव-विभोर होकर प्रकृति का वर्णन नहीं करता। क्योंकि उसके सामने भोगा हुआ यथार्थ है। प्रकृति से ज्यादा कवि को मेहनत करने वाला व्यक्ति और उसका पसीना आकर्षित करता है। ओमप्रकाश वाल्मीकि की 'अच्छे लगते हैं' शीर्षक कविता का उदाहरण देख सकते है-

"आकर्षित करती हैं नदियाँ
उनका बहता पानी
उससे भी ज्यादा खींचता है अपनी ओर
चप्पू चलाता मल्लाह
उसके जिस्म से टपकता पसीना।"[1]

---

[1].बस्स ! बहुत हो चुका है- ओमप्रकाश वाल्मीकि-पृ-38
[2].बस्स ! बहुत हो चुका है- ओमप्रकाश वाल्मीकि-पृ-38

एक दलित कवि सूरज को देखता है तो उसे वह रोटी के जैसा दिखायी देता है। जब सूरज अस्त होता है तब उसे उसकी उम्मीदों की तरह अस्त हुआ दिखायी देता है। अगर कोई व्यक्ति भूखा है अभाव में जिंदगी जी रहा है तो उसे सूरज या चाँद देखने से दोनो रोटी की तरह ही दिखायी देते है। वह सोचेगा कि कब उतरेगी रोटी का सूरज मेरी थाली में। जयप्रकाश कर्दम ने अपनी 'सूरज' शीर्षक कविता में इसका वर्णन किया है-

"अभाव की थाली में
कब उतरेगा
रोटी का सूरज।"[2]

दलित कवि हवा को भी अपनी कविता का विषय बनाता है। वह हवा के माध्यम से होने वाले प्रदूषण पर चिंतित है। हवा बहुत ठंडी प्रकोप मचाने वाली होती है। उससे बचने के लिए मनुष्य गीरे-सूखे उपले, लकड़ी या फूंस-पत्तियों को जलाता है। जिससे धुआँ निकलता है। बहुत गर्म प्रकोप मचाने से पंखे और कूलर-जनरेटर जलाने पडेंगे जिससे धुआँ फैलेगा तब वातावरण प्रदूषित हो जायेगा। जयप्रकाश कर्दम जी अपनी प्रदूषण शीर्षक कविता में हवा से प्रकोप न मचाने के लिए विनती करते हैं -

"प्रदूषित होगा वातावरण
और बचोगी नहीं
प्रदूषित होने से
तुम भी।"[3]

ज़िंदगी का महत्त्व क्या होता है? यह दलित कविता पेड़-पौधों के पत्तों से सीखने के लिए कहती है। पेड़ और पत्तों को देखकर यानी प्रकृति को देखकर भी जिंदगी को समझ सकते हैं ना कि सिद्धांतों से। डॉ.पुरुषोत्तम सत्यप्रेमी जी अपनी 'अपनी ही रीढ़ के सहारे' शीर्षक कविता में कहते हैं-

"पेड़-पौधों की पीली पत्तियाँ भी

---

[1].बस्स ! बहुत हो चुका है- ओमप्रकाश वाल्मीकि-पृ-91
[2].दलित निर्वाचित कविताएँ, कंवल भारती, पृ.82
[3]. दलित निर्वाचित कविताएँ, कंवल भारती, पृ.84

झड़-झड़ कर फड़फड़ाती हुई

यही कहती हैं-

कि जिंदगी दर्शनों और सिद्धांतो से ज्यादा

जीनेके लिए होती है।"[1]

'जूठन' में दलित को मनुष्य न बनने देने की उस सवर्ण व्यूह-रचना का प्रभावी चित्रण हुआ है, जो लोक से लेकर परलोक तक रची गई है। मनुष्य एक निश्चित प्राकृतिक वातावरण और सामाजिक, परिवेश के बीच जन्म लेता है। अपने आस-पास की प्रकृति और समाज के साथ अन्तर्क्रिया करते हुए उसका आन्तरिक जगत समृद्ध होता है, उसका मूल्यबोध और सौन्दर्यबोध विकसित और पुष्ट होता है। वाल्मीकि ने शुरू में ही उस प्राकृतिक वातावरण का विवरण दिया है जहाँ उनका बचपन बीता- "जोहड़ी के किनारे पर चूहड़ों के मकान थे, जिनके पीछे गाँव भर की औरतें, जवान लड़कियाँ, बड़ी-बूढ़ी यहाँ तक कि नई नवेली दुल्हनें भी इसी डब्बोवाली के किनारे खुले में टट्टी-फरागत के लिए बैठ जाती थीं रात के अंधेरे में ही नहीं, दिन के उजाले में भी पर्दों में रहनेवाली त्यागी महिलाएँ, घूँघटे काढ़े, दुशाले ओढ़े इस सार्वजनिक खुले शौचालय में निवृत्ति पाती थीं। तमाम शर्म-लिहाज छोड़कर वे डब्बोवाली के किनारे गोपनीय जिस्म उघाड़कर बैठ जाती थीं। इसी जगह गाँव भर के लड़ाई-झगड़े गोलमेज कॉन्फ्रेंस की शक्ल में चर्चित होते थे। चारों तरफ गंदगी भरी होती थी। ऐसी दुर्गंध कि मिनट भर में साँस घुट जाए। तंग कॉगलियों में घूमते सूअर,नंग-धड़ंग बच्चे, कुत्ते, रोजमर्रा के झगड़े, बस यह था वह वातावरण जिसमें बचपन बीता। इस माहौल में यदि वर्ण-व्यवस्था को आदर्श-व्यवस्था कहने वालों को दो-चार दिन रहना पड़ जाए तो उनकी राय बदल जाएगी।"[2]

दलित साहित्यकार की किस्मत प्रकृति को निहारकर न तो वह भाव-विभोर हुआ करती है, न वहाँ से उनकी कल्पनाशीलता उड़ान भरती होती है। ऋतुचक्र समेत पूरा प्रकृति व्यापार उसके लिए पराई चीज़ है जिसके साथ उसका प्रेम कल्पना का रिश्ता नहीं जुड़ता। लिहाजा रचना के एक बृहद और सम्भावनाशील स्रोत से उसकी प्रतिभा आत्यन्त वंचित रहती है। 'जूठन' के लेखक ओमप्रकाश

[1].मूक माटी की मुखरता, डॉ.पुरुषोत्तम सत्यप्रेमी, पृ.35

[2].जूठन, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.11

वाल्मीकि का जन्म और रहन-सहन जिस प्राकृतिक वातावरण में हुआ, उसका जिक्र आ चुका है। उसके बाहर उसके स्कूल न जाने वाले मोहल्ले के साथी जंगल में खरगोश और मछली मारने जाते हैं। एक बार लेखक भी उनके साथ जाते है और दो सियार के बच्चे लेकर घर आते हैं। आत्मकथा के उस प्रसंग में अभिनव अनुभूति का संस्पर्श साफ पता चलता है। अगर वह भी प्रकृति का वैसा ही स्वामी होता, जैसा सवर्ण होता है, तो उसकी मनुष्यता और रचनात्मकता में वह झुलसन नहीं होती, जिसका लेखक ने बार-बार जिक्र किया है।

6.2.2.प्रतिरोध की भाषा :

वर्तमान समय में दलित साहित्यकार दलित समाज की समस्याओं को, उसके विभिन्न पक्षों को विविध आयामों में अभिव्यक्त करने की ईमानदार कोशिश की है। इससे उम्मीद बंधती है कि ये अपने जीवनानुभवों को और विस्तृत करते हुए, कलात्मकात की नयी ऊँचाईयों को छूते हुए दलित साहित्य को और समृद्ध करेंगे, क्योंकि साहित्य में कला की अपेक्षा चोट करने की क्षमता यदी अधिक हो तो यह अधिक सार्थक होता है। "दलित साहित्य आनंद के लिए नहीं बल्कि परिवर्तन के लिए लिखा जाता है। सार्थक कहानी के लिए कलात्मकता की बजाय हकीकत; दृष्टि; दिशा एवं वर्तमान व्यवस्था की सड़ांध के प्रति घृणा आवश्यक है, तभी उसमें एक ऐसी सृजनात्मक शक्ति उत्पन्न होगी, जिससे एक नई संस्कृति और नई दुनिया की पृष्ठभूमि तैयार होगी। पुरानी लकीरों को पीटने से संतुलन भले ही हिल-डुल जाए, पर परिवर्तन नहीं होगा। दलित कहानी पुरानी लीक से हटकर चलने की मुहिम चलाने को कटिबद्ध है।"[1]

ओमप्रकाश वाल्मीकि की कहानियाँ एक ऐसा वातावरण रचती हैं, जिसमें बहुत ही सूक्ष्मता एवं दलित उत्पीड़न की मानसिक, शारीरिक, सामाजिक या आर्थिक स्थितियाँ खुलकर सामने आ जाती हैं। यह उनकी परिपक्व समझ का ही परिचायक है।

'सपना' कहानी में ब्राह्मणवादी व्यवस्था किस तरह से गौतम जैसे अछूत के साथ

---

[1]. दलित चेतना : साहित्यिक एवं सामाजिक सरोकार, डॉ.रमणिका गुप्ता, पृ.103

नटराजन और नागराज व्यवहार करते हैं, यह बताकर ओमप्रकाश वाल्मीकि ने सवर्णों की मानसिकता का कच्चा चिट्ठा खोल दिया है। यहाँ पर ऋषि जैसे सुधर रहे हैं आधुनिक ब्राह्मण के लिए कितना कष्टप्रद है, इसका भी संघर्ष दिखाया है। लेखक ने, ऋषि का शामिल होना इस कहानी में अस्पृश्यता विरोध को दलित ब्राह्मण का साझा एजेन्डा बना दिया है। यहाँ मंदिर व्यवस्था में दलितों की हैसियत क्या है? यह तथ्य उजागर होता है। जिस कहानी का 'गौतम' फैक्ट्री के पास पड़ी जमीन पर मन्दिर बनाने के लिए कुछ लोगों के कहने पर तन-मन से पूरी निष्ठा से, मेहनत से चंदा इकट्ठा करता है। लेकिन जब मन्दिर में मूर्ति की प्राण प्रतिष्ठा का समारोह होता है तो उस पंडाल में गौतम के परिवार को आगे की पंक्ति में बैठा देखकर सवर्ण सहन नहीं कर पाते और उन्हें वहाँ से उठाने को तैयार होते है तो अन्ततः नटराजन गौतम के मित्र ऋषिराज से कह ही देता है- "ये गौतम ...एस.सी. है। नटराजन ने आखिरी चाल चल दी। 'तो इससे क्या फर्क पड़ता है...श्री नटराजन जी...।' ऋषि ने व्यंग्य से कहा। 'फ़र्क़ पड़ता है...पूजा अनुष्ठानों में उन्हें आगे नहीं बैठाया जा सकता है। यह रीत है। शास्त्रों की मान्यता है।' नटराजन ने गहरे अवसाद में भरकर कहा, 'तो यह बात है...मिस्टर नटराजन यह ज्ञान आपको आज ही प्राप्त हुआ है कि गौतम एस.सी. है। जब यह दिन-रात अपना खून-पसीना बहा रहा था, इस मन्दिर को खड़ा करने में, तब आप नहीं जानते थे कि वे एस.सी. हैं। तब आपने क्यों नहीं कहा कि जो एस.सी. है, वह मन्दिर के काम में हाथ न बटाएं। इसके चूने-गारे में अपने जिस्म का पसीना न मिलाए। क्यों नहीं आपने ऐलान किया कि जो ईंट किसी एस.सी. ने बनाई है या पकाई है, ट्रक में चढ़ाई है या उतारी है, वह इंट इस मन्दिर में नहीं लगेगी। उस वक्त भी तो सोचना चाहिए था..।"[1] ऋषि ने अपनी पूरी शक्ति से विरोध किया। यहाँ पर ऋषि को दलितों के उद्धार के लिए संघर्ष करता हुआ दिखाया है। ऋषि के आक्रोश से नटराजन अवाक् होकर ऋषि को कहता है कि तुम ब्राह्मण होने पर भी गौतम को साथ दे रहे हो, तुम समझने की कोशिश क्यों नहीं करते? ऋषि कहता है कि- "हाँ ब्राह्मण हूँ....तो क्या इसलिए गौतम पंडाल को सबसे पीछे बैठने के लिए बाध्य करूं ... नहीं नटराजन जी ....इस मंदिर को खड़ा करने में उसका भी हाथ है.....यह मंदिर उसका भी है....वह वहाँ से नहीं उठेगा, इतना समझ

[1]. सलाम, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.29

लीजिए नटराजन जी।"[1]

ओमप्रकाश वाल्मीकि जी ने ऋषि पात्र के माध्यम से कड़े शब्दों में एलान किया। इस पर टिप्पणी करती हुई डॉ.रमणिका गुप्ता का कहना है कि- "ये बौखलाए हुए आदमी की कहानियाँ नहीं हैं ये उस सताए हुए समाज की कहानियाँ हैं जो मनुष्यता का दावा करना सीख गाया है और बराबरी का हक मांग रहा है। वे लोग अब दूसरी दुनिया के यथार्थ को अपनी नियति मानने को तैयार नहीं है।"[2]

'मुम्बई काण्ड' कहानी में मुम्बई में दलितों पर हुए जुल्म और अत्याचारों का विरोध करने के लिए वह किसी प्रतिष्ठित व्यक्ति की मूर्ति को अपमानित करने का इरादा बनाता है लेकिन ज्योंहि वह गांधी की मूर्ति पर जूतों का हार पहनाना चाहता है तो उसके अन्दर से मानवता पुकार उठती है- वहाँ "'बाबा' कहने वाले मारे गये, यहाँ 'बापू' कहने वाले मारे जा सकते हैं। बाबा कहने वालों पर भी गाज गिर सकती है। जो भी हो मारे तो निर्दोष ही जायेंगे। क्योकि यह रास्ता न बुद्ध का है और न ही अम्बेडकर का। एक गुनाह का बदला दूसरे गुनाह से नहीं लिया जा सकता। अम्बेडकर में उसका विश्वास और अधिक गहरा हो गया था।"[3] दलित लेखकों पर जातिवाद का आरोप लगाने वाले परम्परावादी मानसिकता से ग्रस्त हिन्दी के आलोचकों को यह कहानी प्रेरणा दे सकती है। प्रायः ही दलित लेखक प्रतिशोध की भावना का तिरोभाव करके मानवतावादी दृष्टिकोण अपनाते हैं। "डॉ.अम्बेडकर का जीवनदर्शन उन्हें ऐसा करने की प्रेरणा देता है। इसलिए दलित साहित्य मानवतावादी साहित्य है। आज हमारे दलित लेखन या नेतृत्व की सीमा बाबा साहब को दलित मामलों की लक्ष्मण रेखा के आगे लेके ही नहीं जाना चाहती और बाबा साहब की सोच को वे केवल अपने ही आवरण में सीमाबद्ध कर लेना चाहते हैं। हम यहाँ पर निरपेक्ष भाव से कहना चाहेंगे कि संवैधानिक रूप से सम्मानित नागरिक होने के नाते हमें अपने दायित्वों की व्यापक सोच एवं सरोकारों को विस्तृत करना होगा कि हम जितना ही

---

[1]. सलाम, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.29

[2]. दलित चेतना : सहाहित्यिक एवं सामाजिक सरोकार, डॉ.रमणिका गुप्ता, पृ.98

[3].घुसपैठिये, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.35

अधिक अपने व्यक्तित्व का विस्तार करें उतना ही भारतीय समाज में अधिक से अधिक स्वीकार्य होंगे"[1]

ओमप्रकाश वाल्मीकि दलित आन्दोलन के अन्तर्विरोध को बड़ी सूक्ष्मता से 'जूठन' में रेखांकित करते हैं। अम्बेडकर के विचारों और दलित आन्दोलन के प्रभावों के बावजूद स्वयं दलितों में जातिगत दूरियाँ बनी हुई थीं। वाल्मीकिजी ने महाराष्ट्र की गलियों में भ्रमण करते हुए महसूस किया था कि "मेहतर-बस्तियों में बाबासाहेब का सन्देश पहुंचा ही नहीं था। जो पहुँचा था वह भी 'जाति' के साथ। जब किसी मेहतर (वाल्मीकि) से बात होती तो वह चौंककर मेरी ओर देखता। बाबासाहेब के लिए उनके मन में आदर था, लेकीन आन्दोलन के कार्यकर्ता और नेता उनके मन में विश्वास पैदा नहीं कर पाए थे। वे मेहतर थे, समाज में सबसे नीचे। यह भावना उन्हें आन्दोलन में जुड़ने से रोकती थीं। वे दलित नेतृत्व को सन्देह की दृष्टि से देखते थे। .... दलित आन्दोलन के इस अन्तर्विरोध ने उसे कमजोर किया है जिसका प्रभाव राजनीतिक स्तर पर दिखाई पड़ता है।"[2] इस प्रकरण से एक बात साफ़ हो जाती है कि स्पष्ट लड़ाई ब्राह्मणों और सवर्णों के ख़िलाफ़ ज़रूर है, लेकिन इससे पहले उन सामाजिक मूल्यों के ख़िलाफ़ लड़ना होगा, उन्हें ख़त्म करना होगा, जिन्हें दलित समाज ने आत्मसात कर लिया है या आत्मसात करा दिया गया है।

आत्मसात करा दी गई मूल्य सारणियों के बावजूद दलित के भीतर चेतना का बीज मरा नहीं है, बल्कि वह सुषुप्तावस्था में पड़ा है। बस उसे उत्प्रेरित करने की ज़रूरत है। अपमान की वेदना और हक़ की चिन्ता उसे जगाने का काम करती है। ओमप्रकाश वाल्मीकि के माता-पिता उस चेतना के अप्रतिम उदाहरण हैं। इनके पिताजी को इस बात का गहरा एहसास है कि पढ़-लिखकर 'जाति' सुधारनी है। हालाँकि यह और बात है कि पढ़-लिख लेने और ऊँचे ओहदे पर पहुँचने के बाद भी जाति का दंश भेदता रहता है, डंक मारता रहता है। फिर भी यह अधिक महत्त्वपूर्ण है कि ओमप्रकाशजी की पढ़ाई में बाधक हेडमास्टर रूपी निष्ठुर व्यवस्था के सामने भी जरूरत पड़ने पर इनके पिताजी दहाड़ते हैं। हार नहीं मानते। बच्चे की पढ़ाई के लिए वे सब कुछ करते हैं जो एक चेतनशील व्यक्ति को करना चाहिए। वाल्मीकिजी पहली बार गाँव से दूर पढ़ाई हेतु जा रहे थे तो उनके पिताजी स्मरण कराते हैं,

---

[1]. दलित चेतना : सहाहित्यिक एवं सामाजिक सरोकार, डॉ.रमणिका गुप्ता, पृ.92

[2]. जूठन, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.132

"बेट्टे एक गरीब चूहड़े का बेट्टा है...इसे हमेशा याद रखियो...."[1] यह वाक्य दलित समाज के प्रति कर्तव्य-बोध का एहसास कराता है।

हिन्दू-व्यवस्था में मानसिक रूप से हीनतर बनाए रखने की भिन्न-भिन्न प्रथाएँ उसकी पहचानों से जोड़ दी गई हैं- उसी का एक रूप 'सलाम' प्रथा है। उस 'सलाम' की रीति को सबसे पहले वाल्मीकिजी के पिताजी ने तोड़ी थी। उन्होंने साफ मना कर दिया था "मेरा बेटा सलाम करने नहीं जाएगा।" इस विरोध की चेतना को बस सुलगाने की जरूरत है, आग स्वतः भड़क उठेगी।

वाल्मीकिजी की माँ के अन्दर आत्मसम्मान और हक़ के लिए उपजा स्वाभाविक आक्रोश नारी चेतना का अद्‌भुत उदाहरण है। सुखदेव सिंह त्यागी की लड़की की शादी में वाल्मीकिजी की माँ ने जब काम के बदले खाना माँगा तो सुखदेव सिंह ने जूठी पत्तलों से भरे टोकरे की ओर संकेत करके कहा था, "टोकरा भर तो जूठन ले जा री है....ऊप्पर से जाकतों के लिए खाणा माँग री है अपणी औकात में रह चूहड़ी। उठा टोकरा दरवाजे से और चलती बन।"[2] इन वाक्यों ने उनके दिलोदिमाग को बरछी की तरह छलनी कर दिया था। इनकी माँ तिलमिला गई थीं, आँखें सुर्ख हो गई थीं। उन्होंने वही टोकरा बिखेर दिया था और सख्त लहजे में सुखदेव सिंह से कहा था, "इसे उठाके अपने घर में धर ले। कल तड़के बारातियों को नाश्ते में खिला देणा...."[3] आक्रोश और बदलाव की ज्वाला फूट पड़ी थी। उस दिन से जूठन का सिलसिला बन्द हो जाता है। जिस दिन दलित स्त्रियों में चेतना आ गई, उस दिन 'व्यवस्था' की चूलें हिल जाएँगी। वर्णव्यवस्था की दूह भरभराकर गिर जाएगी। स्त्रियों का आक्रोश उसे जलाकर भस्म कर देगा। 'जूठन' इस बात को रेखांकित करती है कि दलित स्त्रियों को तो दोहरी लड़ाई लड़नी है- पुरुष-सत्ता और वर्ण-व्यवस्था दोनों के खिलाफ। लड़ाई बहुत लम्बी है। इसके लिए धैर्य और साहस की ज़रूरत है जो कि उनमें कूट-कूटकर भरी है। बस एक बार संगठित होकर आवाज उठाने की ज़रूरत है। शिक्षा और आत्मनिर्भरता इसकी भूमिका तैयार करेगी।

---

[1]. जूठन, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.82

[2].जूठन, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.21

[3]. जूठन, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.21

6.2.3.परंपरागत शिल्पगत विधानों का तिरस्कार :

भारतीय समाज विश्व के अन्य समाजों की अपेक्षा अपना विशेष स्थान रखता है, इसकी खुशी व ग़म का इतिहास विशिष्ट है, यही कारण है कि इसकी परम्पराओं की पहचान उसे अन्य समाजों से पृथक रखती है। परम्पराएँ एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित की जाती हैं। ये समूह की आदतें हैं, व्यक्ति विशेष की कोई परम्परा नहीं होती। व्यक्ति जब इस समूह को छोड़ता है तो उसकी आदतें भी छूट जाती हैं। लेकिन समूह या समाज बराबर चलते रहते हैं और इसलिए परम्पराएँ भी चलती रहती हैं। पुरानी परम्पराएँ नई परम्पराओं को स्थान देती हैं। परम्पराएँ धीरे-धीरे अपना स्थान बनाती हैं।

परम्पराएँ पीढ़ी-दर पीढ़ी चलने वाली एक सतत् प्रक्रिया है, जिसे मनुष्य सामाजिक विरासत के रूप में परम्परा के नाम से जाना जाता है। परम्परा में जनरीतियों, रूढ़ियों और प्रथाओं को भी सम्मिलित करते हैं, इसके अतिरिक्त चिन्तन, ज्ञान, विचार, विश्वास, आदत, कानून, कला, संगीत आदि को सम्मिलित करते हैं, जो पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तान्तरित होती रहती है।

दलित साहित्य आन्दोलन में वर्तमान मे अनेक आरोप प्रत्यारोप लग रहे हैं। गैर दलित एवं दलित लेखकों के बीच द्वन्द्व जारी है परन्तु इस सच्चाई से मुँह नहीं मोड़ा जा सकता है कि हजारों साल तक दलितों को सांस्कृतिक-राजनीतिक व्यवस्था और स्थितियाँ पैदा कर दी गयीं कि वे मूक बने रहने के लिए अभिशप्त हो गए। उस पर आरोप यह कि उन्हें लिखना-पढ़ना नहीं आता और जब दलित जनों ने साहित्य की समझ विकसित कर ली हैं तो उन पर यह आरोप लगाया जाने लगा कि उनके साहित्य में कला नहीं है यानी कलात्मकता का अभाव है। परम्परावादी साहित्यकार- आलोचक ऐसे अनेक कुतर्कों के सहारे दलित साहित्य को ख़ारिज करके गुमनामी के अन्धेरे में रखने की नाकाम कोशिश कर रहे हैं।

दलित-साहित्यकार मोहनदास नैमिशराय ने ऐसे साहित्यकारों- आलोचकों को जवाब देते हुए लिखा है कि "कुछ समय तक हमें तथा हमारी रचनाओं को अन्धेरे में रखा जा सकता है पर कब तक। हिन्दी में दलित साहित्य का सूरज उगने से सवर्ण साहित्यकार कब तक हथेली से रोक पाएंगे।" क्योंकि दलित लेखन के पीछे कोरा बौद्धिक विलास या काल्पनिक सुख नहीं है बल्कि उसकी पृष्ठभूमि में दलित होने का एहसास भरा हुआ है, उसकी पीड़ाओं-यातनाओं का ऐसा संसार है, जिसके लिए दलित लेखक

को जद्दोजहद करनी पड़ती है। क्योंकि दलित साहित्य के विकास के पीछे डॉ.अम्बेडकर की प्रेरणा कार्य कर रही है। नैमिशराय लिखते हैं कि "किसी सवर्ण लेखक ने उसके लिए ज़मीन तैयार नहीं की बल्कि ज़मीन तो स्वयं दलित लेखकों-साहित्यकारों ने ही तैयार की है। ऐसे सभी साथी एक-दूसरे को प्रेरणा देते भी रहे हैं और प्रेरणा लेते भी रहे हैं। दलित साहित्य-आन्दोलन में अगर कोई हमारा प्रणेता रहा है तो वे हैं परम पूज्य बाबा साहेब डॉ.भीम राव अम्बेडकर। इस बात में कोई शक नहीं है कि डॉ.अम्बेडकर की 'यश और कीर्ति जैसे-जैसे हिन्दी क्षेत्र में फैली वैसे-वैसे ही दलित साहित्य का सूरज उगता चला गया।"[1] दलित साहित्य मानवतावादी साहित्य है। जो लोग उसे मानवतावादी न मानकर समाज को विभाजित करने वाला जातिवादी साहित्य बताकर अपनी हठधर्मिता का परिचय दे रहे हैं; उन्हें इन दलित कहानियों की हकीकत एवं उसकी बुनियाद की तहकीकात कर लेना चाहिए। बिना पढ़े फतवे देना उनकी परम्परावादी सोच और संस्कारों को दर्शाता है। परम्परावादी सोचवाले कितनी ही समानता और मानवता की लम्बी-चौड़ी बातें क्यों न करें, पर अपने अन्दर के सनातनी संस्कारों को छोड़ नहीं पा रहे हैं।

परम्परावादी समाज मानवतावादी- लोकतन्त्रिक मुखौटा लगाकर भी अपने चरित्र को छुपा नहीं पाता है क्योंकि वर्णव्यवस्था और जातिवाद परम्परावादियों का मुख्य आधार है जिसने आधुनिक समाज में लोकतान्त्रिक प्रक्रिया को भी अपने जातिवादी चरित्र से प्रदूषित कर दिया है। अभी भी वह भारत की ग्राम-व्यवस्था का मजबूत आधार बनी हुई है और जिसे आज तथाकथित 'पंचायती राज' द्वारा और मजबूत किया जा रहा है। वर्तमान पंचायती राज का लोकतांत्रिक स्वरूप भी जातिवादी ही है। आज भी वह सवर्ण समाज के हाथों में दलितों के शोषण और अत्याचारों का एक हथियार बनी हुई है।

ओमप्रकाश वाल्मीकि ने पंचायती राज के इस जातिवादी चरित्र को 'यह अन्त नहीं' कहानी में बड़ी ईमानदारी से उभारा है। लेखक की धारणा है कि दलितों की पुरानी पीढ़ी अशिक्षा की वजह से आत्मसाम्मान, आत्मविश्वास, स्वाभिमान, संघर्ष और संगठन जैसे शब्दों का अर्थ नहीं समझती थी। उसने पूरी जिन्दगी झुके-झुके गुजारी, जिससे उनमें खड़े होने की भी ताकत नहीं रही। लेकिन दलितों

[1].आज का दलित साहितय, डॉ.तेजसिंह, पृ.19-20

की नयी पीढ़ी पढ़-लिखकर सवर्णों के जुल्म-अत्याचारों के विरुद्ध उन्हें खड़ा होने की ताकत देना चाहती है। शिक्षा और संगठन ही वह ताकत है जिससे प्रतिरोध को आगे बढ़ाकर और मजबूत किया जा सकता है। अनपढ़ युवती बिरमा को अपने भाई किसन और कॉलेज के उसके साथियों से प्रतिरोध की वह ताकत मिलती है जिससे वह जमींदार तेजभान के बेटे सचिन्दर से अपने अपमान का बदला लेने के लिए पंचायत से न्याय की अपील करती है पर पंचायत तो सवर्ण जातियों के 'पांव की जूती' है। उसका लोकतांत्रिक स्वरूप भी जातिवादी ही है। इसलिए दलितों का पंचायती राज पर से विश्वास उठ गया है। बिरमा अपने भाई किसन का समर्थन करती हुई प्रवीन से कहती है, 'पंचायत में नियाय ना होवे' जात-बिरादरी दिखी जावे है। गुंडागर्दी होती है पंचायत के नाम पर'। हालांकि उसे उम्मीद थी कि उसकी बिरादरी का प्रधान बिसन पंचायत में न्याय दिलवाएगा, पर वह तो सवर्ण जातियों के हाथ का मोहरा बना हुआ था। आरक्षण के आधार पर दलितों के प्रधान बन जाने के बावजूद पंचायत की बागडोर सवर्णों के हाथ में ही रहती है।

इसके बावजूद दलित नारियों में प्रतिरोध की चेतना जाग रही है क्योंकि उनमें जुल्म-अत्याचारों और अन्याय के ख़िलाफ़ एकजुट होकर अपनी हार को जीत में बदलने का विश्वास पैदा हो गया है। दलितों की नयी पीढ़ी उस विश्वास को और मज़बूत आधार देना चाहती है, 'ना बिरमा....वह अन्त नहीं है तुमने हमें ताकत दी है। हार को जीत में बदलेंगे, लोगों में विश्वास जगाकर, ताकि फिर कोई बिसन मोहरा न बने।' डॉ.रमणिका गुप्ता परम्परावाद को नकारते हुए कहती है कि- "जब तक ब्राह्मण मनुवाद के अनुसार ब्रह्मा के मुख से और क्षत्रिय बाहों से उत्पन्न माने जाते रहेंगे तब तक शूद्रों को पांव से उत्पन्न माना जाता रहेगा। इसलिए उस कारण को ही मिटाना होगा जो इस धारणा का जन्मदाता है। धारणाएँ जल्दी नहीं बदलती। उनकी उत्पत्ति का स्रोत नष्ट कर उन्हें मारा जा सकता है यानी वे शास्त्र जो इन्हें पशु कहते हैं को अविश्वसनीय बनाकर नष्ट किये बिना धर्म के कटघरे में दलितों को निज़ात दिलाना सम्भव नहीं। दलित कहानी इन शोषण स्रोतों को नकारती है।"[1]

ओमप्रकाश वाल्मीकि वैचारिक तौर पर साफ़ और विवेक संपन्न रचनाकार हैं। वे दलित साहित्य

---

[1]. दलित चेतना : सहाहित्यिक एवं सामाजिक सरोकार, डॉ.रमणिका गुप्ता, पृ.99.

सृजन की परंपरा के विकास के आधुनिक रूप हैं। वाल्मीकि जी की कहानी 'सलाम' में समाज में गहरी पैठी अस्पृश्यता की सिम्पल स्टडी भी की गई है। कहानी का ताना-बाना हरीश नामक दलित की शादी में शामिल हुए कमल उपाध्याय को लेकर बुनी गयी है। पात्रानुकूल भाषा, कसे हुए संवाद, विषय की स्पष्टता और चरित्र की दृष्टि से 'सलाम' एक सफल कहानी है, क्योंकि इस कहानी का यथार्थ हिन्दू समाज की जटिलता को गंभीर रूप से पुर्नपरिभाषित करता है। एक ब्राह्मण व्यक्ति होने पर कमल को चायवाला चाय नहीं देता। इसका जीवन-चित्र ओमप्रकाश वाल्मीकि जी ने खींचा है- "कमल खुश्क होने लगा था" "भट्टी तो धधक गई है। एक कप चाय बना दीजिए" -कमल ने सालीनता से कहा. चायवाला अनसुना करके अपने काम में लगा हुआ था। कमल का धैर्य टूटने लगा, "भई चाय बना दो।" चायवाले ने वही से जवाब दिया- "तुझे यहाँ चाय न मिलने की।" चायवाले की आवाज में रुखापन था जिसे महसूस करते हुए कमल ने तीखेपन से पूछा, लेकिन क्यों? अभी थोड़ी देर पहले आपने कहा था, चाय मिलेगी। "कहा था- और अब कह रहा हूं नहीं मिलेगी।" चायवाले ने कठोरता से कहा। कमल चायवाले के व्यवहार से चकित था। फिर भी नम्रता से बोला,- "लेकिन भाई साहब हुआ क्या है ? - क्या मैं पैसे नहीं दूँगा? "

इस प्रकार वाल्मीकि जी ने तत्कालीन जातिगत, वर्णगत समस्या को यथार्थपूर्ण ढ़ंग से अभिव्यक्त किया है। कमल जब चायवाले की जाति पूछता है तो वह गुस्सा हो जाता है और कहता है कि- "तुझे मेरी जाति से क्या लेणा-देणा। डूब चूहड़े-चमार भी जात पूछने लेगे- कलजुग आ गया है कलजुग।"[1] इसी तरह कमल और रामपाल के संवाद तथा बल्लू रांघड के अत्याचार को यथार्थपूर्ण ढंग से प्रस्तुत किया है। वाल्मीकि जी की यह 'सलाम' कहानी दलितों के कटु यथार्थ का पर्दाफाश करती है।

'बैल की खाल' में काले और भूरे मुख्य दो पात्र हैं जो मुर्दा मवेशी की खाल उतारने का काम करते हैं। सुबह से दोपहर हो गई थी, काले और भूरे का कहीं अता-पता नहीं था। चारों ओर उनकी खोज हो रही थी। गांव के बीचो-बीच कुएँ के पास पंडित बिरिज मोहन का बैल बीच रास्ते पर मर गया

[1]. सलाम, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.12

था। तड़के मुँह अंधेरे बिरिज मोहन का हाली हल और बैल लेकर खेत जोतने निकला ही था कि कुएँ के पास से बैलों को उसने टिटकारी दी। कुएँ के पास खडंजे पे फिसलन थी। बैल का पांव फिसला और गिर पड़ा। हाली ने बैल को खड़ा करने की बहुत कोशिश की। बैल बूढ़ा और कमजोर था। पसली पर चोट लगी और मर गया। पंडित बिरिज मोहन खबर मिलते ही दौड आया था, क्योंकि खेतों की जुताई के वक्त किसी किसान का बैल मर जाना किसी हादसे से कम न था। जैसे-जैसे धूप चढ़ रही थी, कुएँ के पास पड़ा मृत बैल गंधियाने लगा था। पंडित बिरिज मोहन स्वयं उनके घर तीन-तीन बार जा चुका था, गाँव की कोई जगह ऐसी बाकी नहीं थी कि वहाँ काले और भुरे को ढूँढा न गया हो। यथा- "रास्ते में पड़े बैल को कुएँ के पास से हटाना जरूरी था। काले और भूरे की तलाश शूरू हुई। वे दो ही तो थे पूरे गांव में जो मरे हुए बैल को खींचकर गाँव से बाहर ले जा सकते थे।"[1]

आज अचानक उन दोनों का महत्व बढ़ गया है। सदियों से चमारों को माथे पे मैला उठाने की प्रथा चली आई है किन्तु उसके बंद होते-होते कई साल निकल जायेंगे आज सरकार ने उसी दिशा में कई कदम उठाये हैं, उसके लिए नियम कानून भी बनाये हैं। डॉ.बाबा साहब अंबेडकर ने भी अछूतों को मैला उठाने से मना किया था। किन्तु सदियों से इस काम से आर्थिक लाभ होने के कारण यह प्रथा आज भी कई गांवों में दिखाई देती है। इससे चमारों का जीविकोपर्जन होता रहा था। इस संदर्भ में ओमप्रकाश वाल्मीकि ने लिखा है कि- उनकी महत्ता का एहसास गाँव को हो गया था। गाँव में किसी का मवेशी मरता तो उसे उठाकर गाँव से बाहर ले जाना उसकी ही जिम्मेदारी थी। इसके बदले उन्हें कोई पैसा या अनाज नहीं मिलता था। यह काम उनके पुरखे पीढ़ियों से निस्पृह भाव से करते चले आ रहे थे। मृत मवेशी की खाल उतारकर वे उसे शहर ले जाते थे। शही में चमड़े की रंगाई, सफाई का काफी बड़ा करोबार था जिसेमें शहर के नामी-गिरामी व्यापारी लगे हुए थे। चमड़े के जो भी दाम मिलते उससे ही उनकी जीविका चल रही थी।"[2]

इस कहानी के माध्यम से करोड़ों दलित जीवन के ऐसे चित्र सामने आते हैं कि जिन्हें परंपरागत सामाजिक फ्रेम में फिट नहीं किया जा सकता। इनके लिए तथाकथित समाजशास्त्रीय दृष्टि न काफ़ी

---

[1]. सलाम, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.32

[2]. सलाम, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.32-33

है। कहानी समाज में गहरी पैठी अस्पृश्यता की अभिव्यक्ति है।

6.2.4.नये समाजशास्त्र को रचता भाषिक विधान :

डॉ.अम्बेडकर ने भारत में एक नये समाज की परिकल्पना की थी, जिसे उन्होंने देश के संविधान में कुछ हद तक समाहित भी किया था। अतएव पिछले 64 वर्षों से अनुसूचित-जातियों या दलितो, जिसे उन्होंने स्वयं अपनी सामाजिक-पहचान के रूप में अपनाया है। वर्तमान के सामाजिक, आर्थिक, शैक्षिक तथा राजनैतिक विकास के पूर्ण विवरण के अन्तर्गत दलितों में होने वाले संवेदनात्मक, आत्म-विश्वासी, अशावान और सम्भावनात्मक परिवर्तन को नकारा नहीं जा सकता। दलितों में ये सभी परिवर्तन डॉ.अम्बेडकर की वैचारिकी या विचारधारा, उनके क्रियाकलाप, सतत् प्रयास तथा त्याग पर आधारित हैं जिसकी पुष्टि संविधान में निहित प्रावधानों से पूर्णरूपेण होती है। प्रतिफल के रूप में दलितों ने एक नये समाज के निर्माण की सम्भावना पर बल दिया है जो पूरी तरह समानता, स्वतंत्रता, भाईचारा और सामाजिक-न्याय पर आधारित है। यदि ध्यानपूर्वक देखा जाये तो यह पहले से प्रचलित दिलतों के अनेक प्रकार के आन्दोलनों से स्पष्ट है चाहे वे आन्दोलन मजदूरी की उचित दर दिलाने के लिए किये गये हों, चाहे धर्म-परिवर्तन के लिये या फिर साहित्य लेखन के लिए। इन सभी आन्दोलनों का स्पष्ट लक्ष्य भले ही दलितों के अस्तित्व से जुड़ा हुआ है, लेकिन इसका परोक्ष और अत्याधिक अहम् या दूरगामी लक्ष्य, एक नये समाज का निर्माण करना ही रहा है।

दलितों के नये समाज के निर्माण की परिकल्पना चाहे भले ही अभी अमूर्त-रूप में हो या फिर उच्च वर्गों एवं जातियों के बुद्धिजिवियों की परिकल्पना से गुणात्मक तथा संख्यात्मक अर्थों में भिन्न हो, परन्तु समाज-निर्माण की यह दूसरी प्रकार की परिकल्पना बहुत-हद तक परम्परा से बिल्कुल अलग हटकर परम्परावादी समाज के बिल्कुल विरुद्ध है और इसकी गति भी अत्यन्त तीव्र है। आज का दलित, चाहे वह शहर या गांवों में रहता हो, नये समाज के निर्माण को शीघ्रताशीघ्र देखने की चाह उसमें तीव्र है। उसे इसमें कितनी सफलता मिलती है यह इस बात पर निर्भर करेगा कि आने वाले वर्षों में उसकी आपसी एकता कितनी बनती है, जिसके सहारे वह अपने आंदोलन को कितना प्रभावी एवं सशक्त बना पाएगा।

दलित महापुरुषों की सामाजिक-परिवर्तन की विचारधारा ने ही दलितों के सामाजिक-परिवर्तन

के आन्दोलन को एक नई दिशा की ओर अग्रसर किया है। दलित साहित्यकार उनके जीवन-दर्शन से लगातार प्रेरणा लेकर अपने आन्दोलन को गति देने के लिए प्रयत्न कर रहे हैं। इससे दलित सामज में नयी चेतना, नयी स्फूर्ति और नये जीवन का संचार हुआ है। सामाजिक-आन्दोलन का यह परिणाम निकला कि वह अपनी अस्मिता और पहचान की लड़ाई को और धारदार बनाने में जुट गया और एकजुट होकर संघर्ष करने लगा। संघर्ष की चेतना उसमें विकसित हुई-खासतौर पर नयी पीढ़ी में, पर पुरानी पीढ़ी भी इससे पीछे नहीं रही। "नयी-पुरानी पीढ़ी की मानसिक सोच में जो बदलाव आ रहा है उसके पीछे डॉ.अम्बेडकर के शिक्षा, संगठन और संघर्ष के नारे की प्रेरणा कार्य कर रही है जिसने उनमें जातीय स्वाभिमान की भावना भर दी है। दलित चिंतन इस बात को बिल्कुल भी महत्व नहीं देता कि ब्राह्मण चिन्तन फुले-अम्बेडकर को क्रांतिकारी मानता है या नहीं। दलित चिंतन को इस बात से भी कोई फर्क नहीं पड़ता कि ब्राह्मण चिंतन तुलसी और गांधी को क्रांतिकारी मानता है। दलित चिंतन की क्रांति की अवधारणा वर्ण व्यवस्था के ख़िलाफ़ विद्रोह की है और इस दृष्टि से फुले और अम्बेडकर हिन्दू जनजागरण के इतिहास पुरुषों से भी बड़े क्रांतिकारी थे। दलित चिंतन यह मानता है कि दलितों की हज़ारों वर्ष की ग़ुलामी के ख़िलाफ़ कारगर लड़ाई सिर्फ़ फुले और अम्बेडकर ने ही लड़ी थी और यह महाक्रांति थी।"[1]

उपर्युक्त विश्लेषण से दो तथ्य उभरकर सामने आते हैं पहला यह कि समाज-परिवर्तन, तदानुसार नये समाज के क्रमिक निर्माण में दलितों ने प्रारम्भ से ही प्रभावशाली भूमिका निभाई है। परम्परा की इस व्यवस्था में राष्ट्र निर्माण के किसी भी पहलू को ले-चाहे वह कृषि एवं उद्योगों के जरिये आर्थिक विकास का हो या शहरों तथा गाँवों के विकास का हो या फिर यातायात व संचार के साधनों का हो, सबमें दलितों ने भले ही श्रमिक के ही रूप में क्यों न हो, महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। यहाँ तक वैज्ञानिक विकास के स्तर पर भी परोक्ष रूप में ही सही वैज्ञानिकी की विषयवस्तु बनकर ही सही-दलितों का महत्वपूर्ण योगदान को भी नगण्य ही समझा जा रहा है। यही नहीं उन्हें सदैव ही परावलम्बी तथा अब तक हुए विकास के लाभों पर आश्रित ही समझा गया है। दूसरी बात यह कि देश के कुछ परम्परावादियों ने हमेशा से दलितों को अपनी सोच या अध्ययन की विषय-सामग्री ही समझा है और कभी भी उन्हें

[1]. कथाक्रम, जनवरी-मार्च 2004, पृ.14

एक कर्त्ता या नायक के रूप में नहीं माना, इतिहास इस तथ्य का साक्षी रहा है कि विषयवस्तु को किसी भी रूप में तोड़-मरोड़ कर प्रस्तुत किया जा सकता है या उसे कोई भी अर्थ दिया जा सकता है और अध्ययन-कर्त्ता या नायक उसे जैसा स्वर व रूप देना चाहे, दे सकता है। अतीत से लेकर वर्तमान तक भारतीय समाज में दलितों के साथ कुल मिलाकर ऐसा ही किया जाता रहा है चाहे वह राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक स्तर पर हो या फिर चेतना और अध्ययन के स्तर पर। सभी स्थितियों में दुधारी तलवार का शिकार दलित वर्ग ही हुआ है। इस पर टिप्पणी करते हुए डॉ.बजरंग बिहारी तिवारी का मानना है कि- "दलित लेखन गैर दलितों के लिए एक अवसर है ऐसा अवसर जिसके जरिए वे वर्चस्वमूलक जाति केन्द्रित समाज को प्रेमाधारित समतामूलक समाज में तब्दील करने में अपनी भूमिका निभा सकते हैं। ग़ैर दलित लेखकों को इस गुरूर से मुक्त होना होगा कि वे दलितों के पक्ष में और जाति प्रथा के विरोध में लिखकर दलितों के मुक्तिपथ को प्रशस्त्र करने का महान कार्य कर रहे हैं। उन्हें समझना होगा कि ऐसा करके वे अपनी मनुष्यता को जाति की जंजीरों से मुक्ति कर रहे हैं और अपने समुदाय को इन्सानियत की ज़मीन पर ला रहे हैं। यही बात दलित साहित्य के गैर दलित पाठकों-समीक्षकों और आलोचकों पर भी लागू होती है। दलित साहित्य को पूर्वाग्रह मुक्त होकर पढ़ने का परिणाम होगा संवेदन-क्षमता का विस्तार : संवेदन जगत पर पड़े हुए आवरण का हटना।"[1] इन आवरणों के हटते ही दलित नव समाज की ओर अग्रसर होगा।

हिन्दी के दलित रचनाकारों की कहानियाँ जहाँ एक ओर सामाजिक बदलाव पर जोर देती हैं वही दूसरी तरफ़ आक्रोश एवं गुस्सा कूट-कूटकर भरा पड़ा है। यह आक्रोश और गुस्सा उस पीड़ा की अभिव्यक्ति है जो सदियों से उन्हें सहते आना पड़ा है।

अस्मिता के लिए सबसे सशक्त संघर्ष साहित्यिक धरातल पर हुआ है। क्योंकि जिस शूद्र के लिए शिक्षा प्राप्त करने का निषेध था, उसके लिए साहित्य में प्रवेश किस प्रकार सम्भव हो सकता था। वह साहित्य में आया भी तो गुलाम, दास या बन्धुआ की हैसियत से ही और यदि शूद्र स्त्री आई तो केवल भोग्या, दासी या मजदूरिन की हैसियत से ही। अपनी अस्मिता की तलाश में स्वतन्त्रता के बाद पढ़-लिखकर साहित्य में आए दलितों ने भी कलम पकड़ी, उसका प्रारम्भ तो कविता से ही हुआ। परन्तु

[1]. दलित विमर्श के विविध आयाम, डॉ.वीरेन्द्र सिंह यादव, पृ.25

धीरे-धीरे वह कहानी की ओर आग्रसर होकर अपनी दस्तक तेजी के साथ दे रहे हैं।

दलित कहानियों के सन्दर्भ में प्रकाश मनु का कहना है कि- "हिन्दी के इन सहज कथाकारों में ही दलित चेतना का उल्लेख किया जाना चाहिए। ओमप्रकाश वाल्मीकि, श्यौराजसिंह बेचैन, प्रेमकुमार मणि, चन्द्रेश्वर कर्ण आदि की कहानियों में भारतीय समाज के एक ऐसे रोंगटे खड़े कर देने वाले यथार्थ की ओर हमारा ध्यान खींचा है, जिसे पहले चादर की ओट कर दिया जाता था।" इसी सन्दर्भ में वे आगे लिखते हैं कि- "ओमप्रकाश वाल्मीकि की 'प्रमोशन', प्रेमकुमार मणि की, 'जुगाड़' और चन्द्रेश्वर कर्ण की 'सुरंग' से गुजरते हुए, कहानियों में अपमानों की गहरी कचोट है जो सीधे दिल में उतरती है और हक्का-बक्का कर जाती है। दलित साहित्य सच में सभ्यता के नकली मुखौटों की चिन्दी-चिन्दी कर देने वाला साहित्य है।"[1] डॉ.रमणिका गुप्ता का कहना है कि "ये कहानियाँ दलितों में सामाजिक बदलाव लाने का आह्वान करती हैं। इन कहानियों में आक्रोश है, आग है, गुस्सा है तो साथ-साथ संवेदना, मानवीयता और सब्र भी है, न्याय की उत्कट लालसा है, समानता की तीव्र ललक है। भाई-चारे की भावना है, आदर पाने की इच्छा भी बलवती है।"[2]

दलित लेखन पर लग रहे आरोंपों का खण्डन करते हुए डॉ. तेजसिंह का मानना है कि "दलित साहित्यकार बदले की भावना से प्रेरित होकर कहानियाँ नहीं लिख रहे हैं बल्कि वे सच्चे अर्थों में मानवतावादी कहानियाँ लिखकर सवर्णों के मानवतावाद की असलियत भी दिखा रहे हैं। इस तरह दलित साहित्य सही अर्थों में मानवतावादी साहित्य है और इस मानवतावाद का लक्ष्य जातिविहीन और वर्गविहीन समाज की स्थापना करना है। दलित साहित्यकारों का मानवतावाद सवर्ण लेखकों की तरह झूठी सहानुभूति और दयाभाव वाला मानवतावाद नहीं है बल्कि समानता, बन्धुत्व और स्वतन्त्रता जैसे जनवादी-मूल्यों पर आधारित मानवतावाद है। इसलिए वे ब्राह्मणवादी-सामन्ती मूल्यों -परम्पराओं, जातिवाद पर आधारित समाज-संरचना की क्रूरता, अत्याचार, शोषण और उत्पीड़न तथा उसकी अमानवीयता के ख़िलाफ़ निरन्तर संघर्ष कर रहे हैं। क्योंकि उन्हें हज़ारों साल तक अपनी सांस्कृतिक

---

[1]. दलित विमर्श के विविध आयाम, डॉ.वीरेन्द्र सिंह यादव, पृ.238

[2].दूसरी दुनिया का यथार्थ, रमणिका गुप्ता, पृ.3

अभिव्यक्ति से वंचित रखा गया और आज भी उससे वंचित रखने की गहरी साज़िश की जा रही है। और तो और उनकी सांस्कृतिक अभिव्यक्ति की आज़ादी को नकारात्मक दृष्टि से देखा जा रहा है। उन्हें यह एहसास कराया जाता है कि पढ़ने-लिखने का अधिकार सवर्ण को ही है। इसलिए दलितों को यह भी सलाह दी जाती है कि उन्हें अपने परम्परागत पेशे अपनाते रहना चाहिए जबकि आज के दलित परम्परागत पेशों का परित्याग करके शिक्षित होकर अपनी सांस्कृतिक अभिव्यक्ति के साथ-साथ आर्थिक उन्नति और प्रगति भी करना चाहते हैं।" [1]

डॉ.पुष्पपाल सिंह कहते है कि- "ओमप्रकाश वाल्मीकि की कहानी 'अम्मा' एक अभूतपूर्व पात्र हिन्दी कहानी में प्रस्तुत करती है और हिन्दी में दलित साहित्य का आन्दोलन-सा उठा है, उसमें अपनी महत्वपूर्ण उपस्थिति दर्ज कराती है....ओमप्रकाश वाल्मीकि ने अम्मा के वर्गीय चित्रण और निजता को अत्यन्त कुशलता से उकेरा है।"[2] इस कथा में किसी भी वाद-विवाद से हटकर तथा किसी जाति, वर्ण के प्रति घृणा न रखते हुए दलित जीवन की विद्रूपता का जितना प्रभावशाली चित्रण है, वह अत्यन्त दुर्लभ है। उनका शिल्प किसी भी हिन्दी कथाकार की तरह मंजा हुआ एवं पूरी तरह परिष्कृत है। उनकी कहानियों में दलितों के साथ बहारी समाज में हो रहे अन्तर्द्वन्द्वों के साथ उनके आन्तरिक द्वन्दों का भी मार्मिक चित्रण हुआ है।

'सलाम' पुरखों की उस रस्म के ख़िलाफ़ की कहानी है जो 'रांघड़' जैसी सवर्ण जातियों के दरवाज़ों पर दलित दूल्हों को सलाम के लिए जाना पड़ता है। कहानी के पढ़े-लिखे दलित नायक हरीश का यह साफ़ मानना है कि यह रिवाज़ दलितों के आत्मविश्वास को तोड़ने की साज़िश है। परन्तु कहानी के अन्त में अपने ही समाज के एक बच्चे की समुदायगत नफ़रत उसे और उसके दोस्त को न केवल अवाक् करती है, अपने ही समाज की सोच पर भी प्रश्न चिन्ह लगाती है।

ओमप्रकाश वाल्मीकि की कहानी 'पच्चीस चौका डेढ़ सौ' में सुदीप जो बचपन से अपने पिता से पचीस चौका डेढ़ सौ सुनता आया था पढ़-लिखकर अपने पिता को समझाने में कामयाब हो जाता है कि पच्चीस चौका डेढ़ सौ नहीं एक सौ होते हैं। तब सदियों का विश्वास टूटकर कहता है- "तेरे कीड़े

---

[1]. कथाक्रम, अक्टूबर-दिसम्बर, 2001, पृ.50

[2]. दलित विमर्श के विविध आयाम, डॉ.वीरेन्द्र सिंह यादव, पृ.239

पड़ेंगे चौधरी, कोई पानी देने वाला भी नहीं बचेगा।" दलित दुनिया का बूढ़ा यथार्थ भी उठ खड़ा होता है, झूठ से मुकाबला करने के लिए। तेजसिंह की टिप्पणी है कि- "हज़ारों साल तक गलत पाठ पढ़ाकर ही तो ब्राह्मण-सामन्ती समाज व्यवस्था दलितों का सामाजिक-आर्थिक शोषण-उत्पीड़न करती रही है और उस पर वे आँख मूंदकर विश्वास करते रहे हैं। इस तरह ब्राह्मणवाद के दुश्चक्र से मुक्ति दिलाने वाली ओमप्रकाश वाल्मीकि की श्रेष्ठ कहानियों में से एक है।"[1]

6.3.ओमप्रकाश वाल्मीकि की रचनाओं में शब्द और अर्थ :

अपमान बोध को जगाते, वेदना की गहनता को बढ़ाते, उत्पीड़न के अनुभवों को फिर से याद करके रचनात्मक अभिव्यक्ति तक पहुँचाना असीम पीड़ा को फिर से भोगना है। दलित लेखक के लिए बीते हुए कल को याद करके जीवन त्रासद अनुभव को सिलसिलेवार तरीक़े से रचनात्मक रूप देना, एक असह्य पीड़ा को फिर से भोगने जैसा ही है। दलित लेखकों ने प्रत्यक्ष अपमानित होकर, असहनीय वेदना को दलित जीवन का आरंभ मानकर सहा था। लेकिन आंबेडकर चिंतन को आत्मसात करने पर तेजोमय दिशा की ओर अग्रसर होते हुए अंधकारमय अतीत के लिए जिम्मेदार व्यवस्था और श्रेष्ठता का ढोंग रचाते अभिजात्यों के समक्ष उसने हज़ारों हज़ार प्रशन खड़े किए हैं। उसकी सघन होती पीड़ा का एहसास असहनीय होकर विद्रोह के रूप में फूट पड़ती है।

ओमप्रकाश वाल्मीकि **'जूठन'** में ऐसी ही पीड़ा को झेलने के प्रसंग को याद करते हुए लिखते है कि- "अध्यापकों का आदर्श रूप जो मैंने देखा वह अभी तक मेरी स्मृति से मिटा नहीं है। जब कोई आदर्श गुरु की बात करता है तो मुझे वे तमाम शिक्षक याद आ जाते हैं जो माँ-बहन की गालियाँ देते थे। सुन्दर लड़कों के गाल सहलाते थे और उन्हें अपने घर बुलाकर उनसे वाहियात पना करते थे।"

एक रोज हेडमास्टर कलीराम ने अपने कमरे में बुलाकर पूछा, "क्या नाम है बे तेरा? "

"ओम प्रकाश", मैंने डरते-डरते धीमे स्वर में अपना नाम बताया।

हेडमास्टर को देखते ही बच्चे सहम जाते थे। पूरे स्कूल में उनकी दहशत थी।

---

[1]. कथाक्रम, अक्टूबर-दिसम्बर, 2001,पृ.54

'चूहड़े का है? ' हैडमास्टर का दूसरा सवाल उछला।

'ठीक है'- "वह जो सामने शीशम का पेड़ खड़ा है, उस पर चढ़ जा और टहनियाँ तोड़कर झाड़ू बणा ले। पतें वाली झाड़ू बणाना। और पूरे स्कूल कू ऐसा चमका दे जैसा सीसा। तेरा तो यो खानदानी काम है। जा फटाफट लग जा काम पे।"[1]

इस आदेश का पालन करते-करते तीन दिन बीत गए। ज्ञान प्राप्ति के लिए स्कूल में गए दलित बच्चे को उसकी जाति और खानदानी काम की याद दिलाकर, सबके सामने अपमानित करके, उसके अधिकार और अस्तित्व को नकारना सवर्ण मानसिकता का ही प्रदर्शन है।

दलित लेखकों की समतामूलक, समाज व्यवस्था की स्थापना के प्रति प्रतिबद्धता के कारण दलित जीवन की त्रासदी से पुन गुजरने जैसी पीड़ादायक अनुभूति को फिर से झेलते हुए सामाजिक दायित्व पूरा करने के लिए प्रामाणिकता के साथ (गुजरे हुए जीवन प्रसंगों, घटनाओं, अपमान, अवहेलना को) प्रस्तुत कर रहे हैं। क्योंकि एक विशिष्ट शोषण व्यवस्था द्वारा रचे गए षड्यन्त्र के तहत यह सब हो रहा है। देश की संपूर्ण उत्पादन व्यवस्था में केवल एक श्रम बेचने वाले साधनहीन गुलाम की जिन्दगी जीने के लिए उसे बाध्य किया गया है। किसी आकांक्षा, आशा, इच्छा या सपनों का पूरा होना उसके हिस्से में आया ही नहीं है। बचपन में और बच्चों की तरह पाठशाला में जाकर शिक्षा प्राप्त करना उसके लिए सहज साध्य नहीं बल्कि एक त्रासद अनुभव है।

"अबे, ओ चूहड़े के, मादरचोद कहाँ घुस गया .....अपनी माँ....."

उनकी दहाड़ सुनकर मैं थर थर कांपने लगा था। कि त्यागी लड़के ने चिल्लाकर कहा, "मास्साब, वो बैट्ठा है कौणे में।"

"हैडमास्टर ने लपक कर मेरी गर्दन दबोच ली थी। उनकी उंगलियों का दवाब मेरी गर्दन पर बढ़ रहा था। जैसे कोई भेड़िया बकरी के बच्चे को दबोचकर उठा लेता है। कक्षा से बाहर खींचकर मुझे बरामदे में ला पटका। चीखकर बोले जा लगा पूरे मैदान में झाड़ू..... नहीं तो गांड में मिर्ची डालके

[1]. जूठन, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.14-15

स्कूल से बाहर काढ़ दूंगा।"[1]

'जूठन' में अभिव्यक्ति ओमप्रकाश वाल्मीकि के बालपन से दरकने की अनुगूँज अन्तस को हिलाकर रख देती है। चाचा की हिदायत और अपनी इच्छा के विरुद्ध मरे हुए बैल की छुरी से खाल उतारते हुए उनके भीतर बहुत कुछ था जो टूट रहा था। सुअर के बच्चे को छुरी से चाक (वध) करते हुए ओमप्रकाश जी का बालमन पीड़ा और ग्लानि के भँवर में उलझ गया था। उन्हें लगा था जैसे दिमाग़ की नसें ही फट जाएँगी। यही है महान हिन्दू संस्कृति जिसने सब कुछ तो छीना ही है, नन्हा खिलखिलाता बचपन भी छीन लिया है। उसकी मासूमियत छीनी है। यह 'व्यवस्था' कितनी बेरहम और जालिम है इससे बड़ी मिसाल और क्या हो सकती है?

ओमप्रकाश वाल्मीकि की रचना किसी लेखक का व्यक्तिगत विलाप नहीं है, वह एक समाज का हाहाकार जिसकी अनुगूंज हमारे घरों तक हमारे दिलों तक पहुँच रही है। यह वाल्मीकि जी के शब्दों में देख सकते हैं।

"जैसे-जैसे खाना खाकर हम लोग बाहर आ गए थे। भिक्खूराम बुजुर्ग के एकदम पासवाली चारपाई पर बैठ गया था। मैं थोड़ा फासले से खड़ा था इस बीच एक और व्यक्ति वहाँ आ गया था। बुजुर्ग ने हुक्के की नली उसकी ओर बढ़ा दी। हुक्के की नली से धुआँ खींचते हुए उस व्यक्ति ने हम दोनों के विषय में पूछताछ शुरू कर दी। बरला से आए हैं, सुनते ही उसने सवाल दागा था, "कोण जात है? "

उसके सवाल का उत्तर दिया मैंने, "चूहड़ा जात है।"

उन दोनों के मुँह से एक साथ निकला था, "चूहड़ा? " बुजुर्ग ने चारपाई के नीचे पड़ी लाठी उठाकर तड़ से मार दी थी, भिक्खूराम की पीठ पर। हाथ तगड़ा था। भिक्खूराम बिलबिला गया था।

बुजुर्ग के मुँह से अश्लील गालियों की बौछार होने लगी थी। आँखे भयानक लग रही थीं। दुबले-पतले शरीर में शैतान उतर आया था। उनके बर्तनों में आदर के साथ बैठकर खाना खाने, चारपाई पर बैठने का दुःसाहस किया था, जो उनकी नज़र में अपराध था। मैं सहमा हुआ चबूतरे से नीचे खड़ा

[1]. जूठन, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पु.15

था। बुजुर्ग चिल्ला रहा था जिसे सुनकर भीड़ जमा हो गई थी। कई लोगों की राय थी रस्सी से बाँधकर दोनों को पेड़ पर लटका दो।

बृजपाल सिंह के भाई ने बुजुर्ग को शांत करने की कोशिश की। बुजुर्ग उसे भी गालियाँ बक रहा था। अतिथि-सत्कार का खोखलापन खुल गया था। अतिथि की जाति ही उसे आदर दिलाती है। वैसे भी आदर पाने का हमें अधिकार ही कहाँ था। मेरी आशंकाएँ सच हो गई थीं। किसी तरह हम लोग उनके चंगुल से बच गए थे।"[1]

जाति का लेबल ऐसा भयानक सच है, जो मानवीय व्यवहार के बीच चट्टान की तरह खड़ा हो जाता है। कल तक जो ब्राह्मण समझा जाकर हृदय के सबसे नजदीक था, जाति सच्चाई उसे मरी मक्खी की तरह निकाल बाहर कर देती है।

'जूठन' ने प्रेम की सारी परिभाषाओं एवं उसके अर्थों पर प्रश्न-चिह्न लगा दिया है। दो युवा मनों में उपजे प्रेम के टूटते तार ने नस-नस में समाई 'जाति-व्यवस्था' को बड़ी तल्खी से उजागर किया है। प्रेमी-प्रेमिका के बीच में 'जाति' आते ही वह सब कुछ बिखर जाता है, जिसे दो जवाँदिल भविष्य के लिए सँजोकर रखते हैं। इस 'व्यवस्था' में मानव की स्वाभाविक मनोवृत्तियाँ दफन कर दी जाती हैं और सारी स्वतंत्रताएँ छीन ली जाती हैं। यह अकारण नहीं है कि शिकार एक दलित और स्त्री ही होते हैं। इन अर्थों में दोनों पर्यायवाची से लगते हैं। सवर्ण घरों में स्त्रियों को घर की चारदीवारी में बन्द करके वर्णव्यवस्था की बजबजाती मानसिकता का इंजेक्शन दिया जाता है। महाराष्ट्र की कुलकर्णी (ब्राह्मण) परिवार की लड़की सविता को उसके माँ-बाप ने बचपन से यही सिखाया और बताया कि एस.सी. अनकल्चर्ड (असभ्य) होते हैं। गन्दे रहते हैं। एस.सी.से घृणा करो।

कुलकर्णी खानदान की बेटी सविता ओमप्रकाश वाल्मीकि की ओर इसलिए आकृष्ट हुई थी कि वे एस.सी. हो ही नहीं सकते। इतने सभ्य और सुशील तो सिर्फ ब्राह्मण ही होते हैं। ब्राह्मणवादी संस्कृति ने सदियों तक रिसने वाला सिर्फ दर्द ही तो दिया है जिसका भुक्तभोगी पूरा दलित समाज है। इस सभ्यता ने न जाने की ओर 'जूठन' संकेत करती है। दिलोदिमाग पर छाई हुई भीरुता और आतंक को मिटाने

[1]. जूठन, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.65-66

के लिए एक सामाजिक सांस्कृतिक आन्दोलन की आवश्यकता हेतु प्रेरित करती है, रेखांकित करती है।

"सविता मुझे अम्बरनाथ रेलवे स्टेशन पर 'उपकार' रेस्टोरेंट के पास मिल गई थी। उसने सफेद रंग का स्कर्ट-ब्लाउज पहन रखा था जो उसके दूधिया रंग पर खूब फब रहा था। उसकी आँखों में मोहकता भरी हुई थी। चाल में अल्हड़पन था। वह अपनी आदत के अनुसार कुछ-न-कुछ बोलती ही जा रही थी। मैं सिर्फ 'हूँ', 'हाँ' में जवाब दे रहा था। दरअसल मैं तय नहीं कर पा रहा था कि बात कहाँ से और कैसे शुरू करूँ।

अचानक सविता को जैसे कुछ याद आ गया, "अरे मैं तो भूल ही गई थी। आप कुछ बात करनेवाले थे? " उसने आँखें बड़ी-बड़ी करके मेरी ओर देखा। क्षण भर को लगा था जैसे मैं कह नहीं पाऊँगा।

साहस बटोरते हुए मैंने कहा, "तुम्हारे घर उस रोज जो प्राध्यापक कांबले आए थे..." मेरी बात पूरी भी नहीं हुई थी, सविता ने बात काट दी।

"वह महार....एस.सी." उसके इस अंदाज से ही मेरी कनपटियाँ गर्म हो गई थीं।

"हाँ....वही...." मैंने कटुता से कहा था।

"आज अचानक उसका खयाल कैसे आ गया इस वक्त।" सविता ने हैरानी से पूछा।

"उसे चाय अलग बर्तनों में पिलाई थी? मैंने सख्त लहजे में पूछा।

"हाँ, घर में जितने भी एस.सी.और मुसलमान आते हैं, उन सबके लिए अलग बर्तन रखे हुए हैं।" सविता ने सहज भाव से कहा।

"यह भेदभाव तुम्हें सही लगता है? " मैंने पूछा। मेरे शब्दों के तीखेपन को उसने महसूस कर लिया था।

"अरे....तुम नाराज क्यों होते हो? ... उन्हें अपने बर्तनों में कैसे खिला सकते हैं? " उसने प्रश्न किया।

"क्यों नहीं खिला सकते? ....होटल में.... मैस में तो सब एकसाथ खाते हैं फिर घर में क्या

तकलीफ है? ” मैंने तर्क दिया।

सविता इस भेदभाव को सही और संस्कृति का हिस्सा मान रही थी। उसके तर्क मुझे उत्तेजित कर रहे थे। फिर भी मैं काफी संयत था उस रोज उसका कहना था, एस.सी. अनकल्चर्ड (असभ्य) होते हैं। गंदे रहते हैं।

मैंने उससे पूछा, “तुम ऐसे कितने लोगों को करीब से जानती हो? इस विषय में तुम्हारे व्यक्तिगत अनुभव क्या हैं? ” वह चुप हो गई थी। उसका परिचय ऐसे किसी व्यक्ति से नहीं था। फिर भी पारिवारिक पूर्वाग्रह उस पर हावी थे। उसका कहना था, आई (माँ), बाबा (पिता) ने बताया। यानी बच्चों को यह घरों में सिखाया जाता है कि एस.सी. से घृण करो।

वह चुप हो गई थी, उसकी चंचलता भी गायब थी। कुछ देर हम पुलिया पर चुपचाप बैठे रहे मैंने उससे पूछा। “मेरे बारे में तुम्हारी क्या राय है? ”

“आई, बाबा तुम्हारी तारीफ करते हैं....कहते हैं, यू. पी. वालों के प्रति जो उनकी धारण थी, उससे अलग हो तुम्हें अच्छा मानते हैं।” सविता ने चहकते हुए कहा।

“मैंने तुम्हारी राय पूछी थी।”

“अच्छे लगते हो।” उसने मेरी बाँह पर अपने शरीर का भार डाल दिया था।

मैंने उसे दूर हटाया और कहा, “अच्छा, यदि मैं एस.सी. हूँ ....तोभी....”

“तुम एस.सी.कैसे हो सकते हो? ” उसने इठलाकर कहा।

“क्यों? यदि हुआ तो? ” मैंने जोर दिया।

“तुम तो ब्राह्मण हो।” उसने दृढ़ता से कहा।

“यह तुमसे किसने कहा? ”

“बाबा ने।”

“गलत कहा। मैं एस.सी. हूँ....” मैंने पूरी शक्ति से कहा था। मेरे भीतर जैसे कुछ जल रहा था।

“ऐसा क्यों कहते हो? ” उसने गुस्सा दिखाया।

‘मैं सच कह रहा हूँ.... तुमसे झूठ नहीं बोलूँगा। न मैंने कभी कहा कि मैं ब्राह्मण हूँ।” मैंने उसे

समझाना चाहा।

वह आश्चर्य से मेरा मुँह ताक रही थी। उसे लग रहा था, जैसे मैं मज़ाक कर रहा हूँ।

मैंने साफ शब्दों में कह दिया था कि मैंने उत्तर प्रदेश के 'चूहड़ा' परिवार में जन्म लिया है।

सविता गंभीर हो गई थी। उसकी आँखे छलछला आई। उसने रुआँसी होकर कहा, "झूठ बोल रहे हो न? "

"नहीं सवि...यह सच है...जो तुम्हें जान लेना चाहिए...." मैंने उसे यकीन दिलाया था।

वह रोने लगी थी। मेरा एस.सी. होना जैसे कोई अपराध था। वह काफी देर सुबकती रही। हमारे बीच अचानक फासला बढ़ गया था। हज़रों साल की नफ़रत हमारे दिलों में भर गई थी। एक झूठ को हमने संस्कृति मान लिया था।

हम लोग वापसी में लगभग चुप थे। लेकिन भीतर के कोलाहल में डूबे हुए....मैं उस वक्त तनाव-मुक्त हो चुका था। जैसे मेरे मन से कोई भारी बोझ हट गया था।

स्टेशन के पास रेलवे लाइन पार करते हुए मैंने सविता से कहा,

".....यह आखिरी मुलाकात है।"

"क्यों....घर नहीं आओगे? " उसने हैरानी से पूछा था।

"नहीं, अब मैं नहीं आ पाऊँगा।"

वह चलते-चलते रुक गई थी। बोली, "घर आओ या न आओ लेकिन यदि यह सच है तो बाबा से मत कहना....।" वह फिर रुआँसी हो गई थी। उसका गला भर्रा गया था।

"लेकिन क्यों? " मैंने जानना चाहा था।

"नहीं कहोगे.... वादा करो...." सविता की आँखों में अजीब-सी याचना थी।" [1]

सविता का यह वादा किस बात का है। क्या यह इस बात का नहीं कि सविता अभी तक एक ऐसे युवक से प्यार करती रही जो ब्राह्मण नही था बल्कि अछूत था और यह सच उसे न सिर्फ अपने आप की नजर में गिराती वरन् अपने बाबा सहित पूरे ब्राह्मण समाज की नजर में गिराती। यदि आप 'अछूत' हैं तो आप साथ बैठ नहीं सकते, साथ खा नहीं सकते, प्यार नहीं कर सकते। अगर आप शिक्षित

[1].जूठन, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.117-120

होकर अपने को सदियों की बंधन से छुटकारा पाना चाहते हैं तो भी 'जाति' आपको अपमानित और प्रताड़ित होने का मौका देती रहेगी।

वाल्मीकि सरनेम लगाने का अर्थ है- अपने को वह बताना जिसे बताकर समाज की वास्तिविकता नग्न रूप में सामने आ जाती है। ओमप्रकाश वाल्मीकि की इस आत्मकथा की विशेषता यह भी है कि उन्होंने अपने समाज में मनुष्य के रूप में अपने आत्मसम्मान के बचाव की आत्मरक्षात्मक कोशिशों की निरर्थकता को भी बेझिझक प्रस्तुत किया है। हम जो हैं, वह इसलिए शर्मिन्दगी समाज के उच्च वर्ग की होनी चाहिए। लेकिन वर्णों और वर्गों के बीच बँटे समाज में जहाँ आदमी की हैसियत उसके जाति, लिंग, रंग और धर्म से की जाती हो, वहाँ यदि लोगों को मनुष्य की तरह जीने के लिए अपनी पहचान छुपानी पड़े तो क्या आश्चर्य?

'सलाम' कहानी का एक पात्र कमल प्रगतिशील ब्राह्मण युवक है। अपने एक भंगी सहपाठी मित्र की बारात में उत्तर प्रदेश के एक गांव में चला जाता है। वहाँ सुबह-सुबह उसे चाय की तलब लगती है और वह गाँव की चाय की दुकान पर पहुंचकर चाय वाले से चाय बनाने के लिए कहता है। पहले तो चाय वाला उसे चाय देने को कह देता है, परन्तु जब वह बातों से यह जान लेता है कि वह चूहड़ों की बारात में आया है तो चाय देने से मना कर देता है। इस मुद्दे पर बात होते-होते विवाद में बदल जाती है। तभी वहाँ बल्लू रांघड़ (ठाकुर) का रामपाल भी आ जाता है। रामपाल का कमल से व्यवहार देखिए- "बात पूरी होने से पहले ही रामपाल ने उसे डांटा-'ओ, शहरी जनखे हम तेरे भाई हैं? साले जबान सिंभाल करके बोल, गांड में डंडा डाल के उलट दूंगा, जाके जुम्मन चूहड़े से रिश्ता बड़ा इतनी जोरदार लौंडिया लेकर जा रहे हैं शहर वाले जुम्मन के तो सींग लिकड़ आए हैं। अरे लौंडिया को किसी गाँव में ब्याह देता तो म्यारे जैसों का भी कुछ भला हे जाता।"[1] एक तीखी हंसी का फब्बारा छूटा, आसपास खड़े लोगों ने उनकी हंसी में अपनी हंसी मिला दी। कमल को लगा जैसे अपमान का घना बियाबान जंगल उग आया है। उसका रोम-रोम कांपने लगा। उसने अपने आसपास खड़े लोगों पर निगाह डाली, हिंसक शिकारी तेज नाखूनों से उस पर हमला करने की तैयारी कर रहे थे। उसने पहली बार अखबारों में छपी उन खबरों को शिद्दत से महसूस किया, जिस पर विश्वास नहीं कर पाता था वह। फलां

[1]. सलाम, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.13

जगह दलित युवक को पीट-पीट कर मार डाला। फलां जगह आग में भून दिया। धरों में आग लगा दी। इसमें कोई शक नहीं है कि ओमप्रकाश वाल्मीकि एक ऐसे सम्भावनाशील दलित कथाकार हैं, जिनसे दलित कथा साहित्य को बहुत आशाएँ एवं उम्मीद हैं।

'बैल की खाल' यह कहानी मरे जानवरों की खाल निकालने वाले काले और भूरे दो व्यक्तियों के चरित्र के मानवीय पहलू को उजागर करने वाली कहानी है। साथ ही उन तमाम लोगों की सोच और मानसिकता पर एक करारावयंग्य भी है, जिनके लिए वे समाज के सबसे अधम उपेक्षित और अपवित्र प्राणी हैं। गाँव के बीचोबीच कुँए के पास पंडित बिरिज मोहन का बैल बीच रास्ते में मर गया था। पंडित बिरिज मोहन खबर मिलते ही दौड़ आया था। खेतों की जुताई के वक्त बैल का मर जाना किसी हादसे से कम नहीं था। रास्ते में पड़े बैल को कुँए के पास से हटाना ज़रूरी था। काले और भूरे की तलाश शुरू हुई । बैल जीवित था तो कोई बात नहीं थी। कल तक अन्न उगाने वाला बैल मरते ही अपवित्र हो गया था। जिसे छूना तो दूर उसके पास खड़ा होना भी किसी पाप से कम न था।

काले और भूरे का पता नहीं कहाँ गए हुए थे। तीन-तीन बार पंडित बिरिज मोहन स्वयं उनके घर जा चुके थे। हर बार एक ही जवाब मिल रहा था, कहीं गए हैं। जैसे जैसे धूप चढ़ रही थी, कुएँ के पास पड़े मृत बैल गंधियाने लगा था। हर कोई काले और भूरे को खोज रहा था। बिरिज मोहन की आँखों में निराश टूटती हुई चमक दिखाई दी। सामने गली से काले और भूरे चले आ रहे थे। उनको देखते ही पंडित बिरिज मोहन उन पर बिफर पड़ा था, "कहाँ मर गए थे भोसड़ी के ...तड़के से ढूँढ़-ढूँढ़ के गोड्डे टूट गए हैं। और इब आ रहे हो महाराजा की तरियों...इस बैल को कौन उठावेगा...तुम्हारा बाप..."[1] काले भूरे से यह काम छोड़ने के लिए कहता है। कुछ देर रुक कर फिर बोला "और वो सहर का लाला...सौ बातें सुणावे है। पिछली बार जब वहा भैंस की खाल लेके गए थे तो क्या कह रहा था-'यह पुड़िया ले जाओ। जिस जानवर को खिलाओगे टें बोल जाएगा।' वह सरकारी डॉक्टर कुछ भी नहीं कर पाएगा। पूरा राक्छस है राक्छस वह लाला।"[2]

दूर खेतों के बीच कच्चे रास्ते पर एक बछड़ी के रंभाने की आवाज़ उन्हें सुनाई दी। शायद लल्लू

[1].सलाम, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.33

[2].सलाम, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.36

की गोधन से बछड़ी पीछे छूट गई थी। चौकन्नी मुद्रा में बछड़ी दौड़ी चली आ रही थी। वह उसी रफ्तार से बिना रुके पक्के सड़क पर आ गई थी। पलक झपकते ही तेज गति से आते ट्रक की चपटे में आकर बछड़ी गिर पड़ी...अचानक ब्रेक लगाने से ट्रक भी लड़खडा गया था। ट्रक गिरते गिरते बचा। एक तेज आवाज़ से दोनों भी एक बार गी चीक उठे। कुछ आगे जाकर ट्रक रुक गया था। ड्राइवर को गालियाँ देता हुआ भूरे ट्रक की ओर दौड़ा। ड्राइवर ने ख़तरा भाँप लिया और एक्सिलेटर दबाए ट्रक की गति बढ़ा दी। बछड़ी को बचाने के लिए वे बहुत कोशिश करते है लेकिन वह बच नहीं पाती। अंत में यह ख़बर देने के लिए वे गाँव की ओर बढ़ते हैं।

'पच्चीस चौका डेढ़ सौ' यह कहानी आम आदमी के दलित अंक में छपी है. कहानी का नायक पहली कमाई लेकर बस से घर लौट रहा है। हरेक के हाथ जोड़कर, झुक कर बातें करने वाले दीन से, डर से, आदमी में उसे अपने पिता की छवि नज़र आती है। वह अपने बचपन में पहुँच जाता है जब उसके पिता ने उसे स्कूल में पढ़ने डाला था। मास्टर का कितना अहसान माना था पिता ने। स्कूल में वह पच्चीस का पहाड़ा याद करता है- और घर में जा कर दोहराता है 'पच्चीस चौका सौ' तो पिता बुरी तरह डाँटता है कि गलत क्यों रट रहा है। पच्चीस चौका डेढ़ सौ होता है। गाँव के चौधरी ने हमेशा उसे ऐसे ही गिनाया है जब उसने कर्ज़ का सूद उसे चुकाया है। चौधरी गलत नहीं बोल सकता। जब वह स्कूल में पच्चीस चौके डेढ़ सौ दोहराता है तो मास्टर उसे 'भंगी', संस्कार हीन, छोटी जात कह कर गलियाता है। घर में 'डेढ़ सौ' और स्कूल में 'सौ' दुहराता वही बालक आज वेतन लेकर पिता को सच बताने आ रहा है। माँ वेतन को आँचल में, प्रसाद मान लेती है। बेटा पच्चीस की चार ढ़ेरियाँ लगा कर पिता को गिनने के लिए कहता है। पुत्र की मदद से रुपयों की चारों ढेरियों को बार-बार गिनने पर रुपये डेढ़ सौ नहीं एक सौ गिने जाते हैं। तब वह बूढ़ा पिता जो बचपन और जवानी से आज बुढ़ापे तक उस चौधरी को पच्चीस चौका डेढ़ सौ की मान्यता पर सूद चुकाता रहा था, गुस्से से उठता है। गाली देता है "कीड़े पडेंगे चौधरी ...कोई पानी देने वाला भी नहीं बचेगा।"[1] यह कहानी संवेदन, भाषा तथा संकल्प स्तर पर बहुत ही सक्षम है। एक गाली में जन्म जन्म का आक्रोश उगलती यह कहानी

[1].सलाम, ओमप्रकाश वाल्मीकि,पृ.84

दलित चेतना को विकास में बहुत आगे ले जाती है। और बाबा साहब अंबेडकर के 'शिक्षा' के मंत्र को उजागर करती है। शिक्षा ने ही पच्चीस चौका डेढ़ सौ को पच्चीस चौका सौ साबित किया. बूढ़े पिता का वह आक्रोश दलित पीढ़ी के विद्रोह का कगार पर खड़ा कर देता है। विशिष्ट वर्ग के ब्रह्म वाक्य मानने की नियति के नियम को तोड़ता है। यह कहानी एक साथ वर्ग और वर्ण चेतना से मुक्त है।

'अम्मा' यह एक अविस्मरणीय, मानवीय संवेदना से सराबोर मर्मस्पर्शी कहानी है। यह एक ऐसी माँ के चरित्र को उभारती है जो जिंदगी भर सवर्णों के नरक को ढोते हुए भी अपनी संतान को उस नरक की परछाइयों तक से दूर रखती है, ज़िंदगी के कीचड़ में कमल के फूल की तरह खिली रहती है। इसी माँ को जब यह पता लगता है कि उसकी अपनी संतान गलत रास्तों पर जा रही है उसे बेहद तकलीफ़ होती है। माँ का बहुत मोहक चरित्र है इस कहानी में, जो सारे भेदों से ऊपर बस केवल माँ है, किसी के लिए भी पूज्य और आकांक्षित है।

'अम्मा' अक्सर मिसेज चोपड़ा के घर में एक आदमी को देखती थी। शुरू शुरू में वह यही समझती थी कि घर परिवार का ही कोई होगा। लेकिन भेद जल्दी ही खुल गया। उस दिन जो कुछ देखा, उसके बाद से उसके प्रति अम्मा के मन में एक अजीब नफ़रत पनपने लगी।

एक रोज़ जब अम्मा उसके घर पहुँची तो मिसेज चोपड़ा बाथरूम में थी। वह आदमी बेड रूम में बैठा हुआ था। अम्मा ने आवाज़ देकर कहा, भैण जी, पाणी डाल दो सफाई हो गई है। मिसेज चोपड़ा ने बाथरूम से ही आवाज़ देकर कहा, "विनोद प्लीज एक बाल्टी पानी जमादारनी को दे दो...मैं सिर धो रही हूँ ...देर लगेगी बाथरूम से निकलने में। बाल्टी नल के नीचे लगी है।"[1] वह उठा और पानी की बाल्टी अम्मा के सामने ले जा कर रखी। विनोद पानी डालने के बजाय अम्मा की कमर में हाथ डाल झपट से उसे अपनी ओर खींच लेता है। क्या करते हो यह? छोड़ो...छूटने के कसमसाने लगी। अम्मा ने पूरी ताकत से झाड़ू का वार सीधा उसकी कनपटी पर किया। चोट लगते ही वह बेड रूम की तरफ़ भागा। बाद में अम्मा ने वहाँ पर काम करना छोड़ दिया। अम्मा ने बीस रुपये में चोपड़ा का ठिकाना बेच कर राहत की साँस ली। बाद अम्मा के बच्चे बड़े हो कर नौकरी करने लगे। एक दिन

[1]. सलाम, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.116

उसके बेटे बिसन ने कहा अम्मा ये ठिकानों का काम छोड़ो। अब आप के शरीर में ताकत कहाँ है? और वैसे भी अब आपको इतनी तकलीफ़ उठाने की ज़रूरत क्या है? घर तो चल ही रहा है। अच्छा नहीं लगता अम्मा...आप गंदगी ढोने जाती हैं...लोग देखते हैं तो शर्म आती है..! बेट्टे बिसन...तैन्ने ओर तेरे जातकों (बच्चे) ने सरम आवे ...इसलिए तो पढ़ाया लिखाया था। सब के हात से झाड़ू-टोकरा छुडाया...मेरे बाद इस घर की कोई बहू बेट्टी ठिकानों में नहीं गई....सिरफ इसलिए कि तुम लोग इज्जत से जीना सिक्खो। ऐसा कोई काम ना करो जिससे सिर निच्चा हो...कहीं कमी रह गई है बेट्टे, जो तेरा मुकेश जूठन पर मुँह मारने गया, वह भी नौकर की तरह उसके बच्चों को सँभालने, इज्जत से उसे ब्याह के घर ले आता...भले ही दो जातकों की माँ है। मेरा दिल खुश हो जाता है। अपनी बहू बणा के रखती...पर यो तो ठीक ना है, अच्छा नी करा उन्ने।

जब आँसू रुके तो फिर बोली, "तेरे बापू रिटायर हुए तो जो पैसे मिले थे, उनसे सरदार का कर्जा उतार दिया। इब तो जिंदगानी थारे ही भरोसे है...जिब किरणलता अपने जातकों कू लेके आवे हैं तो उसके खाली हाथ पे कुछ रखने के लिए तो मेरे पास कुछ होणा चाहिए। कब तक तेरे से माँगूगी...ना बेट्टे...उस सुख की खातिर मुझे काम करना पड़ रहा है तो आखरी साँस तक करूँगी।"[1] अम्मा का टूटा-फूटा कनस्तर और झाड़ू दीवार के सहारे टिका मुँह चिढ़ा रहा था।

डॉ.पुष्पलाल सिंह कहते हैं कि "ओमप्रकाश वाल्मीकि की कहानी 'अम्मा' एक अभूतपूर्व पात्र हिन्दी कहानी में प्रस्तुत करती है और हिन्दी में दलित साहित्य का आंदोलन-सा उठा है, उसमें अपनी महत्वपूर्ण उपस्थिति दर्ज कराती....ओमप्रकाश वाल्मीकि ने 'अम्मा' के वर्गीय चरित्र और निजता को अत्यन्त कुशलता से उकेरा है।"[2]

'शवयात्रा' चमारों के गाँव में बल्हरों का एक परिवार था। परिवार में सुरजा और उसकी बेटी संतों दोनों ही थे। सुरजा का बेटा शहर में रहता है। कभी कभी पिता के पास आकर चला जाता है। सुरजा चाहता था कि एक पक्का घर बनवाना। उसका बेटा कल्लीन घर बनाने के लिए तैयार होता

[1].सलाम, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.122

[2].दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.116

है। वह पैसों का बंदोबस्त करके अपनी पत्नी और बेटी के साथ वहाँ आता है।

राम जी लाल कीर्तन सभा का प्रधान था। रविदास जयंती पर रात भर कीर्तन चलाता था। वह चिल्ला कर पूछा "अबे ओ सुरजा.... ये ईंटे कोण लाया है"[1] सुरजा उत्साहित होकर बोला अजीबस म्हारा कल्लण पक्का घर बणवा रिया है। रामजीलाल की आँखे फटी की फटी रह गई। अपने भीतर उठते ईर्ष्या-द्वेष को दबा कर उसने कहा "ये तो चोखी बात है सुरजा...पर पक्का मकान बनवाने से पहले परधान ही से तो पूछ लिया या नहीं"[2] रामजीलाल सीधा प्रधान के पास पहुँचा। जो हड पार के हालात नमक मिर्च लगा कर उसने प्रधान बलराम सिंह के सामने रखे। बलराम सिंह ने उस वक्त कोई प्रतिक्रिया ज़ाहिर नहीं की। सिर्फ़ सिर हिला कर मूँछों पर हाथ फेरता रहा। प्रधान भी घाघ था। वह रामजीलाल की फ़ितरत से वाक़िफ़ था।

प्रधान के आदमी अगले दिन सुबह सुरजा को प्रधान के पास ले गए। सुरजा को देखते ही बलराम सिंह चीखा, "अंटी में चार पैसे आ गए तो अपनी औक़ात भूल गया। बल्हसें को यहाँ इसलिए नहीं बसाया था कि हमारी छाती पर हवेली खड़ी करेंगे ...वह ज़मीन जिस पर तुम लोग रहते हो....किसी को एतराज़ नहीं होगा। सिर उठाकर खड़े होने की कोशिश करोगे तो गाँव से बाहर कर देंगे।"[3]

कल्लण की बेटी को बुखार तेज था। डॉक्टर के पास चला। डॉक्टर ने सामान्य पूछताछ करके कुछ गोलियाँ पुड़ियों में बाँध कर दे दी। आगे कहा कि "मरीज़ को यहाँ मत लाना....मल से मेरी दुकान ही बंद हो जाएगी। यह मत भूलो तुम बल्हर हो डॉक्टर ने साफ़-साफ़ चेतावनी दे दी, ये दवा उसे खिला दो ठीक हो जाएगी।"[4] बुखार से तप कर कल्लण की बेटी मर गई थी। चमारों का श्मशान गाँव के निकट ही था। लेकिन उसमें बल्हरों को अपने मुर्दे फूँकने की इजाज़त नहीं थी। कल्लण की माँ के समय ऐसी ही समस्या आई थी। चमारों ने साफ़-साफ़ मना कर दिया। उस शवयात्रा को देखने के लिए चमारियाँ

---

[1].घुस पैठिए,ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.38

[2].घुस पैठिए,ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.38

[3].घुस पैठिए,ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.39

[4]. घुस पैठिए,ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.40

अपनी छतों पर चढ़ गई थीं। उनकी आँखों के कोरे भीगे हुए थे। लेकिन बेबस थी अपने अपने दायरे में क़ैद।

'मैं ब्राह्मण नहीं हूँ' कहानी भी इस सन्दर्भ में उद्‌बोधक है। मोहनलाल शर्मा और गुलजारीलाल शर्मा दोनों गत पच्चीस वर्षों से अच्छे पड़ोसी हैं। अब दोनों पड़ोसी से संधि होने जा रहे हैं। पर शादी के एक दिन पहले गुलजारीलाल को पता चलता है कि मोहनलाल शर्मा तो ब्राह्मण हैं नहीं, दलित हैं। वह मोहनलाल को अपमानित करता है। फसाने का आरोप करते हुए उसे कमीना कहता है। पच्चीस सालों तक वह कमीना न था, जाति का पता चलते ही वह कमीना हो गया। परन्तु गुलजारीलाल की बेटी सुनीता तो बैंक में नौकरी करती है और उसका विवाह मोहनलाल के बेटे अमित से होने जा रहा था, वह पिता का भाण्डाफोड़ करती हुई कहती है, "पापा वे लोग ब्राह्मण नहीं तो क्या आप ब्राह्मण हैं? "[1]

सुनीता का यह सवाल पिता की आंखों के सामने बिजली की तरह कौंधा था। सच्चाई यह थी कि गुलजारीलाल ने भी अपना नाम बदलकर शर्मा रखा था। वह ब्राह्मण नहीं, बढ़ई था, यानी ब्राह्मणों की दृष्टि में शूद्र ही था।

'कवि-कविता और शब्द' गैर दलित कवि यदि दलितों पर कविता लिखें तो उसे दलित बिल्कुल स्वीकार नहीं करते, क्योंकि दलित कविता भोगे हुए यथार्थ की अभिव्यक्ति होती है। वातानुकूलित कमरों में बैठकर पसीने पर कविता लिखना यह तो कविता के साथ बेइमानी है। पसीने पर वही लिख सकता है जिसने पसीना बहाय हो, जिसने भोगा हो, जो मेहनत करता हो। कविता उसके द्वारा लिखी जाए जो ईमानदार हो, इसे ओमप्रकाश वाल्मीकि अपनी 'कविता और फ़सल' शीर्षक कविता में बताते हैं-

"ठंडे कमरों में बैठकर
पसीने पर लिखना कविता
ठीक वैसा ही है
जैसे राजधानी में उगाना फसल

[1]. घुसपैठिये, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.65

कोरे कागज़ों पर

फसल हो या कविता

पीसने की पहचान है दोनों।"[1]

कविता और शब्द का गहरा संबंध है, क्योंकि कविता में अपने भावों और विचारों को शब्दबद्ध किया जाता है। हर कवि पर उस परिवेश का प्रभाव रहता है जिस परिवेश में वह रहता है। दलित कवि ऐसी लड़की पर कविता लिखना चाहता है जो रोज स्कूल जाती हो और गेंद से भी खेलती हो। किंतु दलित कवि जिस परिवेश में रहता है उसे ऐसी लड़की नहीं दिखायी देती है। बल्कि ऐसी लड़की दिखायी देती है जो उबले थापती हुई, भट्टी में ईंटे भूनती हुई, तो कवि कविता कैसे लिख पायेगा? फिर भी वह थकता नहीं वह इसी लड़की पर कविता लिखता है। दलित कवि उस व्यक्ति पर कविता लिखना चाहता है, जो सर्दी में ठिठुरता है और दुःखी है। लेकिन कवि को कविता लिखने के लिए शब्द साथ नहीं देते क्योंकि पीड़ा और वेदना को उस भाषा और शब्दों में व्यक्त नहीं कर सकते जो गैर दलित व्यक्ति करते हैं। ओमप्रकाश वाल्मीकि अपनी 'शब्द साथ नहीं देते' शीर्षक कविता में कहते हैं -

"बहुत चाहा खिलना कविता

आदमी के दुःखों पर

जो ठिठुरता है सर्दियों में

मरता हैलू के थपेड़ों से

मरता है बाढ़ में।

शब्द साथ नहीं देते।"[2]

दलित अब शब्द की ताकत और महत्त्व को पहचानने लगे हैं। शब्द शस्त्र भी है और मणि भी, क्योंकि 'मनुस्मृति' में लिखे गये शब्द ही तो थे। शब्द ही तो हैं जो दलितों पर हमेशा चोट करते आए हैं- दलित से हरिजन और हरिजन से दलित। सवर्ण बार-बार एक ही शब्द को बार-बार पत्थर की तरह

[1].सदियों का संताप, ओमप्रकाश वाल्मीकि- पृ.9

[2].बस्स ! बहुत हो चुका है- ओमप्रकाश वाल्मीकि-पृ-95

हवा में उछालते रहे, दलितों की चेतना और मति को घायल करते रहे। अन्याय और अत्याचार के खिलाफ लड़ने के लिए और क्रांति लाने के लिए हथियार नहीं शब्द ही काम आते हैं। दलित कवि मोहनदास नैमिशराय अपनी 'आंदोलन' शीर्षक कविता में लिखते हैं -

"तुम्हारे पास केवल शब्द है
उन्हीं को तुम्हें आंदोलन बनाना है
क्रांति हथियारों से नहीं
शब्दों से आती है।"[1]

गैर दलित कवि कविताओं में अलंकार, वक्रोक्ति, संस्कृति शब्द आदि का प्रयोग कर कविता लिखते हैं। बहुत सारे लोग कविता यानी कठिन शब्दों का प्रयोग ही मानते हैं। कविता उनके लिए शब्दों का खेल मात्र है। लेकिन दलित कवि के लिए कविता सिर्फ कविता नहीं होती, जिसे जब जहाँ चाहे वहाँ ओढ़-पहन लिया जाए और जब चाहे उतार फेंक दिया जाए। कविता किस तरह रक्षा करती है इसे ओमप्रकाश वाल्मीकि अपनी कविता 'सिर्फ़ कविता नहीं होती' शीर्षक अपनी कविता में बताते हैं-

"कविता की चुप्पी
बहुत सर्द होती है
आधी रात में भी गूँजती हैं
चौकीदार की सीटी की तरह
जो हमारी नींद में भी
देती है पहरा।"[2]

6.4.दलित साहित्य में बिम्ब और प्रतीक :

साहित्य में प्रतीक की महत्ता सर्वविदित है। प्रतीक द्वारा भावना, विचार, बोध आदि की अभिव्यक्ति जहाँ रचना को प्रभावशाली बनाती है, वहीं अर्थपूर्ण भी। प्रतीक द्वारा किसी भी बात को संक्षेप

[1].दलित निर्वाचित कविताएँ, कंवल भारती, पृ.106
[2].बस्स! बहुत हो चुका, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.73

में कहा जा सकता है। दलित साहित्य में समाज की पीड़ा, बेबसी, उत्पीड़न और शोषण से उपजे आक्रोश को, सामाजिक यथार्थ को चित्रित करने के लिए प्रतीकों का प्रयोग हुआ है। पर कभी-कभी हिन्दी कविता में कवियों ने बिम्ब पर इतना जोर दिया कि कालान्तर में इसकी रचनात्मक सामर्थ्य और उपयोगिता पर सन्देह किया जाने लगा। नामवर सिंह का भी यही मानना है कि - "छठे दशक के आरम्भ में उत्पन्न विषम सामाजिक स्थतियों की चुनौती के सामने बिम्ब विधा कविता में अप्रासंगिक सिद्ध होने लगी।"[1]

हिन्दी दलित कविता में बिंब दलित जीवन की त्रासदी और उसके यथार्थ को व्यक्त करती हैं। दलित कविता में अंधेरा, आसपास के परिवेश में गंदगी की सड़ांध, सीलन भरे तंग मकानों में सिसकती जिंदगी दलित जीवन के यथार्थ हैं जो उनके जीवन का अविभाज्य घटक बन गए हैं। उन वस्तुओं को दृश्य बिंब के स्थान पर रखकर दलित कवि इन्हीं वस्तुओं में अपने जीवन के प्रतिबिंब ढूंढता है। 'झाड़ूवाली' कविता में प्रयुक्त बिंब देखिए-

"रामसोरी हाथ में धमी बाँस की मोटी झाड़ू
सड़के के ऊबड़-खाबड़ सीने पर
श्च-श्च की ध्वनि तैरती है
उड़ाती है धूल का गुबार।"[2]

इन पंक्तियों में झाड़ू, धूल, धुआँ दलित जीवन का यथार्थ है, जो दलित संदर्भों से जुड़े हैं। साथ ही श्च-श्च ध्वनि का निर्माण कवि ने किया है। जिससे कविता में पाठक को एक प्रकार की ध्वनि सुनाई पड़ती है।

धर्म, दर्शन और पौराणिक मिथकों की पुनर्व्याख्या दलित कविताओं की मुख्य विशेषता है-'शायद आप जानते हो' इस कविता में हिन्दू दर्शन की उन मान्यताओं पर प्रहार किया गया है, जो समस्त मानव की ही नहीं जीव मात्र की आत्मा को मानती है और 'चूड़े' तथा 'चमार' से अस्पृश्यता का व्यवहार करती है। इस पर टिप्पणी करते हुए ओमप्रकाश वाल्मीकि जी लिखते हैं कि-

---

[1]. कविता के नये प्रतिमान, डॉ.नामवर सिंह, पृ.113

[2].सदियों का संताप, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.16

"तुम्हारे रचे शब्द
तुम्हें ही डसेंगे साँप बनकर
गंगा किनारे
कोई वट वृक्ष ढूँढ़कर
भागवत का पाठ कर लो
आत्मतुष्टि के लिए
कहीं अकाल मृत्यु के बाद
भयभीत आत्मा
भटकते-भटकते
किसी कुत्ते या सूअर की मृत देह में
प्रवेश न कर जाये
या फिर पुनर्जन्म की लालसा में
किसी डोम या चूहड़े के घर

पैदा न हो जाये!

चूहड़े या डोम की आत्मा
ब्रह्म का अंश क्यों नहीं है
मैं नहीं जानता

शायद आप जानते हों"[1]

दलित कवि लालचंद राही दलितों की क्षत-विक्षत स्थितियों को 'वृक्ष' के माध्यम से सशक्त ढंग से अभिव्यक्ति देते हैं-

"अब वृक्ष की कटी-छँटी टहनियाँ
पुनः प्रस्फुटित होने लगी हैं

---

[1]. बस्स! बहुत हो चुका, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.13

द्रुत गति से

बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में।"[1]

जयप्रकाश कर्दम जी ने 'लालटेन' शीर्षक कविता में ऐसा प्रतीक रचा है जिसमें समूचे दलित माँ की स्थिति का दयनीय चित्रण हुआ है-

"अंधेरी जिंदगियों को

रोशन करने के लिए

वह खुद बन गई थी एक लालटेन।"[2]

दलित कविता में पेड़, लोकतंत्र, भेड़िए, जंगली सूअर, कुत्ते, शोषण और दमन के प्रतीक हैं। सामाजिक जीवन की घोर अमानुषिकता को रेखांकित करते हैं।

दलित कविता में प्रयुक्त बिंब आक्रोश ओर विद्रोह की सशक्त अभिव्यक्ति बनते हैं -

"तुम्हें क्यों शर्म नहीं आई

थान के थान परिधान

नंगेपन पर उतर कर

पुरुष के सर्वस्व को नकार कर

नीचा दिघाएगी।"[3]

डॉ.सुशीला टाकभौरे की इन पंक्तियों में नारी विद्रोह का स्वर सुनाई पड़ता है। यह तेवर हिंदी दलित कविता की पहचान है। दलित कविता ने अंधकार से लड़ते हुए जुगनू के समान अपने भीतर असंख्य सूर्यों को जन्म दिया है, जो उसकी अभिव्यक्ति को शक्ति देता है। सूर्य, रोशनी, प्रकाश, रात-दिन, ज्वालामुखी, समुद्र, तूफान, दलित कविता में शब्द-भर नहीं है बल्कि ये आवेगपूर्ण अनुभवों की अभिव्यक्ति है।

अपने विद्रोही और आग्नेय शब्दों में लिपटे हुए बिंब आजादी के लिए है जिसमें करोड़ों दलित

---

[1]. दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.84

[2]. दलित निर्वाचित कविताएँ, कंवल भारती, पृ.82

[3]. दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.86

आज भी गुलाम हैं। सी.बी.भारती की कविता में यह बिंब अपनी आक्रोशपूर्ण से प्रभावित करता है-

"तुमने जी है गुलामी
कीड़े-मकोड़े से बदतर जिंदगी
छीजसी इज्जत
बिखरते सम्मान।"[1]

जाति-व्यवस्था से व्यक्ति होकर कवि इससे निबटने के लिए ठान लेता है और स्वयं जागकर औरों को भी जगाता है। उसके सब्र की ज्वालामुखी फटने का इंतजार कर रही है। कवि लिखते हैं -

"बांहे फड़कती हैं/जिह्वा मचलती है/प्रगति अवरूद्ध
जाति व्यवस्था के बंधन में
अतीत शोषित, प्रताड़ित
इतिहास गहन अंधकार में डूब गया है।
शेष बचा यदि कुछ/मेरा अस्पृश्य शरीर
गंदे कूड़ेदान सी बास
शहर, गाँव, बस्ती से बाहर मेरा डेरा-
अतीत का राग अलाप रहा है
सूर्य की एक किरण/घने बादलों के बीच चमककर
मुझे जगा गई है/मेरे हाथों की शक्ति
सहनशीलता, फौलादी दृढता
हिला देगी जाति व्यवस्थाको
बहुत हो चुका/शोषण/प्रताड़न
और उपेक्षा

बस, अब मेरा ज्वालामुखी फट पड़ेगा।"[1]

---

[1]. दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.87

उक्त कविता में कवि जाति व्यवस्था के बंधन में बंधकर शोषित, प्रताड़ित दलित किस तरह अपना जीवन यापन करता था, इसे बताया है। किंतु अब वह सूरज की नई किरण से जाग गया है और अब उसके हाथों में शक्ति है। वह शक्ति जाति व्यवस्था को हिला देगी। अब प्रताड़ना, शोषण बहुत हो चुका, अब ज्वालामुखी फटने ही वाली है।

दलित कवि लालचन्द्र राही दलितों की क्षत-विक्षत स्थितियों को 'वृक्ष' नामक प्रतीक के माध्यम से सशक्त ढ़ंग से अभिव्यक्ति देते हैं-

"अब वृक्ष की कटी-छँटी टहनियाँ
पुनःप्रस्फुटित होने लगी हैं
द्रुत गति से
बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में।"[2]

कर्मशील भारती ने 'सैलाब' शीर्षक कविता में एक ऐसा प्रतीक रचा है जो समूचे सामन्ती और शोषक समाज की ऐतिहासिक, सामाजिक, सांस्कृतिक प्रकृति की पम्परा को सहज रूप में स्थापित कर देता है-

"समूचा शिकार
निगलने के बाद
खूँखार व मक्कार घड़ियाल
जल से निकलकर
किनारे पर बैठा
आहार का रसास्वादन
बड़े मजे
बड़े आराम से लेता है"[3]

दलित कवि का स्वर कटु है, क्योंकि उसने समाज के प्रपंच को हजारों सालों से अपनी त्वचा

---

[1].ज्वालामुखी, सदियों का संताप, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.6-7

[2]. दलित चेतना के स्वर, डॉ.एन.सिंह, पृ.16

[3].दलित चेतना के स्वर, डॉ.एन.सिंह, पृ.61

पर सहा है। उसकी तल्खी प्रतीकों में महसूस की जा सकती है। मुक्ति-संघर्ष की छटपटाहट दलित कविता को ध्वनित करती है। दलित कवि का 'मैं' 'हम' की अभिव्यंजना बन जाता है। पारम्परिक प्रतीकों के स्थान पर दलित कवियों नें मौलिक और नए प्रतीक ईजाद किए हैं। दलित कविता में 'पेड़', 'लोकतन्त्र', 'भेड़िए', 'जंगली सूअर', 'कुत्ते, शोषण और दमन, गुलामी के प्रतीक हैं। जो सामाजिक जीवन की घोर अमानुषिकता को रेखांकित करते हैं। दलित कविता ने सामन्य जीवन के प्रतीकों में शोषित जनों को रेखांकित किया है -

रमणिका गुप्ता तो गीता का अर्थ ही बदल डालती हैं, 'अब मूरख नहीं बनेंगे हम' शीर्षक कविता में वे कहती हैं-

"एक शब्द गीत
सब्र का जहर
सन्तोष की अफीम
भाग्य का चक्रव्यूह
निष्काम प्रेम का नशा
परिश्रम के
फल से वंचित रखने की साजिश
परजीवी जमातों का
सर्जक
निठल्ले लोगों का स्वर्ग।"[1]

दलित कवि पुरातन और पौराणिक मिथकों के द्वारा विद्रोह और विरोधात्मक स्वर को अभिव्यक्ति देता हुआ लिखता है-

"अँधेरे की गहन गुफा को
घाव सहने दो

[1].युद्धरत आम आदमी, अंक-31, सं.रमणिका गुप्ता, पृ.45

जाओ द्रोण जाओ
दर्द को हरियाने दो
एकलव्य मैं पहले था
आज भी हूँ
अब जान गया हूँ
अँगूठा दान क्यों माँगते हो"[1]

दलित रचनाओं में मिथक कथाएँ, जातक कथाएँ, दलित जीवन की पूड़ाओं का चित्रण करती हैं। उनके विद्रोह, विक्षोभ की भावनाओं, अस्मिता की तलाश, अस्तित्व के लिए जूझते सरोकारों को रेखांकित करती हैं।

दलित कवियों ने ऐतिहासिक, पौराणिक मिथकों के द्वारा दलित जीवन की विसंगतियों और सामाजिक सन्दर्भों की वास्तविकता को रेखांकित किया है। कर्ण, एकलव्य, शम्बूक, सीता दलितों की जीजीविषा और विद्रोह के प्रतीक बन गए हैं। रामायण, महाभारत के अनेक मिथकों के द्वारा दलित जीवन की दायहक स्थितियों को उभारा गया हैं।

"शम्बूक, तुम्हारा रक्त जमीन के अन्दर
समा गाया है,
जो किसी भी दिन
फूटकर बाहर आएगा
ज्वालामुखी बनकर।"[2]

इसी तरह कवि क्षोभ व्यक्त करता हुआ कहता है कि-

"धरती और आकाश के बीच
टूटकर गिरता है कोई नक्षत्र
अँधेरी रात में

---

[1].दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.88

[2].सदियों का सन्ताप, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.13

किसी कर्ण की सिसकियाँ
रूँध-रूँध जाती हैं
शम्बूक की अभिशप्त हत्या
और एकलव्य के साथ
किए गए छल को साथ लिये
मेरी पीढ़ी
जंगलों, पहाड़ों नदियों और नालों में
खोज रही है
गत और विगत के बीच की मौन शिलाएँ"[1]

डॉ.दयानन्द बटोही की कविता 'द्रोणाचार्य सुनें : उनकी परम्पराएँ सुने' में एकलव्य की पीड़ा को अतीत से लेकर वर्तमान में जोड़ा है, जहाँ आज भी शिक्षा संस्थानों में द्रोणाचार्य की परम्परा के वाहक अनेकों एकलव्यों की प्रतिभाओं को क्षत-विक्षत कर रहे हैं। दलित साहित्यकार पौराणिक मिथक को तोड़कर शास्त्री प्रतीकों को नकारते हुए उन्हें बेनकाब करके उनके सच को उजागर करता है। दलित साहित्य की कविता में पुराने मिथकों एवं प्रतीकों को तोड़कर नया अर्थ देने की प्रक्रिया एक मुखर प्रवृत्ति है। डॉ.रमणिका गुप्ता का मानना है कि- "ये शास्त्रीय मिथकों के झूठ को सवर्णों के जातीय अहम् को गौरवान्वित करने के लिए गढ़े गए प्रतीकों और मिथकों के तिलिस्म को तोड़कर, झूठ-को झूठ कहकर उनके चमत्कार को ख़त्म नहीं करता, बल्कि साथ ही साथ वह उन्हें नया अर्थ, नई परिभाषा भी देते चलता है। ये प्रवृत्ति ऐसे नये समाज के निर्माण करने में सहायक हो रही है जो भारतीय मानसिकता की जड़ता और कुण्ठा को तोड़े और जहाँ कोई युधिष्ठिर जुए में पत्नी को हारकर धर्म राज न कहलाए। जहाँ कोई गुरु एकलव्य का अँगूठा कटाकर भी गुरु बना रह सके, जहाँ पत्नी-त्वक्ता, शंबूक-हंता, बाली-छलता राम, मर्यादा पुरुषोत्तम नहीं कहलाएँ।"[2]

---

[1].दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृ.89

[2].दलित चेतना : साहित्यिक एवं सामाजिक सरोकार, डॉ.रमणिका गुप्ता, पृ.83

दलित कविता के कितने ही रंग-रूप हैं। इसमें ओज है। विचारों की स्पष्टता, अनुभव की प्रामाणिकता, संवेदना की पारदर्शिता, अभिव्यक्ति की सहजता और नये मिज़ाज़ के कारण दलित कविता को नयी पहचान दे रही है। उन की कविता में विचार, संवेदना और शिल्प-विधान से उजागर होती है कि वे अपने मंतव्य सामान्य जन तक सम्प्रेषित करना चाहती है। उनकी कविता में विशेष तेवर और कटुता है। उनकी साहित्य की अधिकांश कविताएँ सोद्देश्य लिखी गयी हैं। वे जीवन के विभिन्न कगारों को छूती हुई प्रवाहित होती हैं। इसलिए आज की कविता का परिदृश्य विस्तृत है।

निष्कर्ष :

दलित साहित्य वर्ण-व्यवस्था का घोर विरोधी है। दलित साहित्यकार ने वर्ण-व्यवस्था के विरुद्ध आवाज़ उठाकर उसके मूल को ही समाप्त करने का प्रयास किया है। दलित साहित्य समाज में भेदभावपूर्ण व्यवस्था को समाप्त कर एक ऐसे समाज की स्थापना करना चाहता है जिसमें व्यक्ति के व्यक्तित्व की पहचान उसके गुणों से हो न कि उसकी जाति से। दलित साहित्य मनुष्य की स्वतन्त्रता, समता और बन्धुत्व की भावना को सर्वोपरि मानता है। वह मानवाधिकार की बातों को उठाता है और समाज में व्याप्त उन बुराइयों को समाप्त करने का प्रयास करता है, जिनसे मानवाधिकार का हनन होता है।

दलित साहित्य आज दलित समुदाय के विविध आयामों को अपने अंदर समेटकर शोषण के हर उस पहलू की एक समाजशास्त्र की चिकित्सक दृष्टि से चीरफाड़ करके सामाजिक व्यवस्था और उसके अंर्तसंबंधों की पड़ताल करता हुआ दिखाई देता है। दलित कहानी, कविता और आत्मकथनों में उपस्थित समस्या और प्रश्न व्यक्तिगत संदर्भों से नहीं बल्कि समुदायगत संदर्भो से जुड़कर उभरते है। ओमप्रकाश वाल्मीकिजी ने अपने जीवन अनुभवों के माध्यम से दलित जीवन की त्रासदी को रचनात्मक अभिव्यक्ति की है तो वह संपूर्ण दलित समुदाय के सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक सरोकारों को उजागर करती है।

*****

उपसंहार

'दलित साहित्य' का जन्म 'दलित आंदोलन' से हुआ है। भारत का एकमात्र ऐसा जन आंदोलन है, जिसके मूल में यहाँ की वर्ण तथा जाति-व्यवस्था है और शास्त्रों द्वारा इसका समर्थन करने वाला 'धर्म' है। ऐसे जन आंदोलन से प्रेरणा लेकर इस साहित्य का जन्म हुआ है। दलित साहित्य का जन्म पहले मराठी में हुआ बाद में हिंदी में। हिंदी में दलित साहित्य की परिभाषा को लेकर भ्रम की स्थिति है, जो कि काफ़ी हद तक प्रायोजित है। जबकि मराठी में ऐसी स्थिति नहीं है, उसका दलित साहित्य काफ़ी समृद्ध है। ज्योतिबा फुले तथा डॉ.अम्बेडकर जैसे महान विभूतियों के युग प्रवर्तक विचारों से वह पल्लवित हुआ है तथा समाज सुधारकों के सान्निध्य-संरक्षण में पल्लवित-पुष्पित मराठी का दलित साहित्य इस तरह के सभी विवादों से ऊपर उठ चुका है। हिंदी में जो वर्ग लम्बे समय से दलित-साहित्य की ज़रूरत व अस्तित्व को नकार रहा था, उसी का एक हिस्सा आज की बदली हुए परिस्थिति में दलित साहित्यकार बन उसकी दिशा को भ्रमीत कर रहा है।

दलित साहित्य के पक्ष में यह कहना गलत नहीं होगा कि अनुभूति की प्रामाणिकता इस साहित्य में अपेक्षाकृत अधिक है। क्योंकि दलित लेखक घटना-परिघटनाओं का स्वयं साक्षी है। गैर दलित साहित्यकारों ने दलित जीवत विषयक साहित्य रचा है। लेकिन यह साहनुभूति और संवेदना के विस्तार का प्रश्न है। गैर दलितों के विपुल साहित्य-भंडार में दलितों पर नगण्य सामग्री है, वह भी ज्यादातर काल्पनिक एवं अप्रामाणिक है। अनुभूति की प्रामाणिकता तो स्वयं दलितों द्वारा रचित दलितों में चेतना जगाने की शक्ति जिस लेखन में है वही दलित साहित्य है।

इसी क्रम को आगे बड़ाते हुए डॉ.गंगाधर पान्तावर्णे ने एक साहित्यिक सम्मेलन के उद्घाटन भाषण में कहा था "भाइयों हमारे साहित्य की प्रेरणा केवल डॉ. बाबा साहेब अम्बेडकर और उनकी क्रांतिकारी विचार-धारा है। इसमें कोई संदेह नहीं। की समालोचक दलित साहित्य का रिश्ता कभी मार्क्सवाद से तो कभी हिन्दुत्ववाद से या सभी नीग्रो साहित्य से जोड़ते हैं। मैं इस अम्बेडकर विचार मंच पर फिर एक बार दोहराता हूँ कि हमारे दलित साहित्य की प्रेरणा, न मार्क्सवाद है न हिन्दुत्ववाद, न नीग्रो साहित्य है-अछूत

नहीं था और नहीं हैं।" इस परिभाषा से स्पष्ट होता है कि मार्क्सवाद और हीन्दुत्व वाद की बजाय बाबा साहेब की क्रांतिकारी विचार-धारा से प्रभावित होकर दलितों द्वारा दलितों के लिए दलित जीवन की अभिव्यक्ति ही दलित साहित्य है।

दलित साहित्य दलित समाज की वास्तविकता की पहचान कराने वाला साहित्य है। वह अगड़े लोगों के वर्चस्व के विरुद्ध दलित चेतना का प्रचार-प्रसार करता है। समता अस्मिता के उन्नायक दलित साहित्य ने वर्तमान परिवेश में परिवर्तन की लहर पैदा करते हुए सत्ता की सहयोगिता हेतु जन अभियान छेड़ दिया है।

ओमप्रकाश वाल्मीकि की कहानियाँ अपने रचनात्मक कौशल, संवेदना और शिल्प हर आयाम पर दलित कहानियाँ होते हुए भी यथार्थवादी कहानी परंपरा की एक मज़बूत कड़ी है। और वाल्मीकि जी की आत्मकथा की रचना पूर्वदीप्ती एवं वार्तालाप शैली में की है। उक्त मिश्रित शैलियों में रचित इस कृति में हिन्दू समाज की वर्ण व्यवस्था के प्रति खुला विद्रोह हुआ है, जो लेखक के व्यक्तित्व की विशेषता है।

कहानियों के क्षेत्र में दलित जीवन के संदर्भों को लेकर लिखी गई ऐसी बहुत-सी कहानियाँ हैं जो कहानी के रचना विधान की किसी भी कसौटी पर, अंतर्वस्तु, संवेदना और शिल्प के हर आयाम पर कहानी की यथार्थवादी परंपरा को नई संवृद्धि प्रदान करती है। इन कहानियों के ज़रिये दलित जीवन के कुछ ऐसे पहलू पहली बार उजागर हुए हैं जो अब तक नितांत अनदेखे और अनछुए थे। अल्प अवधि के इस दलित लेखन में जिन्होने भी दलित रचना शीलता और हिंदी की बृहत्तर सर्जना में अपनी खास पहचान बनाई है, उनमें से ओमप्रकाश वाल्मीकि का नाम सहज ही सबसे ऊपर है। मजबूती के साथ खड़े रहकर भी उनमें प्रतिपक्ष के विचारों को सुनने ओर तर्क की ज़मीन पर उचित को स्वीकार करने का मद (अभिमान) भी है।

दलित कहानियों के संदर्भ में प्रकाश मनु का कहना है कि "हिंदी के इन सहज कथाकारों में दलित कथाकार का उल्लेख किया जाना चाहिए। ओमप्रकाश वाल्मीकि, श्यौराजसिंह बैचैन, प्रेम कुमार मणि, चंद्रशेखर कर्, आदि की कहानियों ने भारतीय समाज के एक ऐसे रोंगटे खड़े कर देने वाले यथार्थ की ओर हमारा ध्यान खींचा है, जिसे पहले चादर की ओट कर दिया जाता था। इस संदर्भ में वे आगे लिखते हैं कि

ओमप्रकाश वाल्मीकि की प्रमोशन, प्रेम कुमार मणि की 'जुगाड़' और चन्द्रशेखर कर्ण की 'सुरंग से गुज़रते हुए' कहानियों में अप्रमानों की गहरी चोट है जो सीधे दिल में उतरती है और हक्का-बक्का कर जाती है। दलित साहित्य सच में सभ्यता के नक़ली मुखौटों की चिंदी-चिंदी कर देने वाला साहित्य है।"

'बैल की खाल' कहानी में मरे जानवरों की खाल निकालने वाले काले और भूरे दो व्यक्तियों के चरित्र के मानवीय पहलू को उज़ागर किया। और निस्पृह भाव से काम करने की प्रथा का चित्रण हुआ है। काले और भूरे पता नहीं कहाँ गए हुए थे। तीन तीन बार पंडित बिरिज मोहन स्वयं उनके घर जा चुका था। हर बार एक ही जवाब मिल रहा था, कहीं गए हैं। जैसे जैसे धूप चढ़ रही थी, कुएँ के पास पड़ा मृत बैल गंधियाने लगा था। हर कोई काले और भूरे को खोज रहा था। बिरिज मोहन की आँखों में निराशा तोड़ती हुई चमक दिखाई दी। सामने गली से काले और भूरे चले आ रहे थे। उनको देखते ही पंडित बिरिज मोहन उन पर बिफर पड़ा था, "कहाँ मर गए थे भोसड़ी के ...तड़के से ढूँढ़-ढूँढ़ के गोड्डे टूट गए हैं। और इब आ रहे हो महाराजा की तरियों...इस बैल को कौन उठावेगा...तुम्हारा बाप..."

आर्थिक क्षेत्र में दलित अनेकानेक आर्थिक अभावों से त्रस्त थे, राजनीतिक अधिकारों से पूर्णतः वंचित थे। शैक्षिक क्षेत्र में उनके अधिकार स्पष्टतः निषिद्ध थे तथा सार्वजनिक जीवन में वे एक दास के रूप में जीवन व्यतीत करने को बाध्य थे। तत्कालीन धर्म ग्रंथों ने इन्हें अधः तन के गर्त में गिरा दिया था। क्योकि शूद्रलोग इन असमानताओं एवं निर्योग्यताओं से पहले से ही अभिभूत नहीं थे अपितु निर्योग्यताएँ तत्कालीन हिन्दू धर्म ग्रन्थों में वर्णित व्यवस्थाओं की परिणति थी।

'बिरमा की बहू' कहानी में रमेसर एक जगह कहता है कि "दिन-भर की हाड़-तोड़ मेहनत के बाद जो कुछ भी मिलता वह इतना कम था कि तीन प्रणियों का गुजारा भी मुश्किल था। ऊपर से बेगार करनी पड़ती थी सो अलग। जो मूलधन के सूद की तरह जरूरी थी। कोई तर्क, कोई कानून, कोई भावना, इसे रोक नहीं पा रही थी। रमेसर ने बहुत बार सोचा कि इस बेगार प्रथा को तोड़ देगा। जब भी कोई बुलाने आएगा नहीं जाएगा। उसका यह सोचना गुब्बारे की हवा की तरह फुस्स हो जाता था। उसका ही क्या भंगी-बस्ती में सबकी यही हालत थी। बेगार के बदले मिलती भी प्रताड़ना, लांछना, गाली और अपशब्द।

जैसे ये लोग आदमी नहीं, मात्र इस्तेमाल की वस्तु हों। जब चाहा इस्तेमाल किया। टूट-फूट गई तो उठाकर फेंक दिया। कहीं कोई सहानुभूति नहीं, कोई संवेदना नहीं।"

ओमप्रकाश वाल्मीकि भले अपने को दलित लेखन के दायरे में रखे, उनकी कहानियों में उनका रचना सामर्थ्य और उनकी सोच के जो पहलू उभरे हैं वे उन्हें हिंदी की यथार्थवादी कहानी परंपरा के दायरे के एक समतावान लेखक के रूप में हम से मुखाबित करते हैं। और वाल्मीकि जी की कहानियाँ इस पहले के प्रति हमें सहज तो करती ही हैं, वे अनुभव के एक ऐसे संसार में भी, जहाँ वर्ग, वर्ण, धर्म और संप्रदाय के भेदों से अलग हम आदमी और आदमियत से मुखाबित होते हैं।

दलित परंपरागत मूल्यों से मुक्ति पाना चाहता है लेकिन सवर्ण कभी नहीं चाहेंगे कि दलितों को मुक्ति हासिल हो। उन्हें ये बिलकुल पसन्द नहीं है कि परम्पराओं की रूढीबद्धता से दलित छुटकारा पा सके। 'पच्चीस चौका डेढ सौ' कहानी में सुदीप पच्चीस का चौका गलत रटता है तो मास्टर आँखे तरेर कर चीखा "अबे तेरा बाप इतना बड़ा विद्वान है तो यहाँ क्या अपनी माँ...(एक क्रिया-जिसे सुसंस्कृत लोग साहित्य में त्याज्य मानते हैं)...आया है साले; तुम लोगों को चाहे कितना भी लिखाओ, पढ़ाओ...रहोगे वहीं-के-वहीं...दिमाग में कूड़ा-करकट जो भरा है। पढ़ाई-लिखाई के संस्कार तो तुम लोगों में आ ही नहीं सकते।चल बोल ठीक से...पच्चिस चौका सौ...स्कूल में तेरी थोड़ी-सी तारीफ क्या होने लगी पाँव जमीन पर नहीं पड़ते। ऊप्पर से जबान चलावे है। उलटकर जवाब देत्ता है।" वे प्रतिपक्ष से संवाद करते हैं, वितंडा नहीं। वस्तुतः संवाद की सही ज़मीन भी यही है।

जाति व्यवस्था हिंदू समाज का मुख्य लक्षण है। असमानता ही इसका प्रमुख लक्षण है। एक जाति दूसरे जाति से भिन्न होती है। भिन्न भिन्न दो जातियों में समानता दिखाई नहीं देती। जाति के नाम पर ही भिन्न-भिन्न श्रेणियों में लोगों को बाँटा गया, जिससे सामाजिक स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं। मजबूरन बेटे को अपने बाप का पेशा ही करना पड़ा चाहे वह जितना ही प्रतिभाशाली क्यों न हो।

हमारी 'समाज व्यवस्था' के तहत शिक्षा संस्थानों में दलितों के साथ बहुत ही अन्याय होता है। जीवन के पहले अध्याय यानी शिक्षा की जगह से ही उन्हें यातनाओं का सामना करना पड़ता है। पाठशाला में बच्चे

तो भेदभाव करते ही हैं लेकिन बच्चों के साथ सवर्ण शिक्षक भी उन्हें मानों जानवरों के बच्चे समझते हैं। उनका हर कदम पर अपमान करते हैं। उन पर छुआ-छूत का नियम लगाया जाता है। अनेक प्रकार की यातनाओं का सामना करना पड़ता है। जिसे हम 'जूठन' आत्मकथा में देख सकते हैं।

ओमप्रकाश वाल्मीकि ने अपने छात्र जीवन के बारे में बताया हैं कि- "त्यागियों के बच्चे 'चूहड़े' का कहकर चिढ़ाते थे। कभी-कभी बिना कारण पिटाई भी कर देते थे। एक अजीब सी यातना-पूर्ण ज़िंदगी थी, जिसने मुझे अंतर्मुखी और चिड़चिड़ा तुनकमिज़ाजी बना दिया था। स्कूल में प्यास लगे तो हैंडपंप के पास खड़े होकर किसी के आने का इंतज़ार करना पड़ता था। हैंडपंप छूने पर बबाल हो जाता था। लड़के तो पीटते ही थे। मास्टर लोग भी हैंडपंप छूने पर सजा देते थे। तरह-तरह के हथकंडे अपनाए जाते थे ताकि मैं स्कूल छोड़कर भाग जाऊँ,और मैं भी उन्ही कामों में लग जाऊँ, जिनके लिए मेरा जन्म हुआ था। उनके अनुसार स्कूल आना मेरा अनाधिकार चेष्टा थी।"

आर्थिक स्थिति ही मनुष्य के संतोष और उसके विविध वस्तुओं को प्राप्त करने का माध्यम है। जीवन में जिन साधनों की अपेक्षा रहती है वे 'अर्थ' के बिना सुलभ नहीं है अर्थात मानवशास्त्र का जीवन ही 'आर्थिक' स्थिति पर निर्भर है। इसलिए कहा जाता है कि 'धनम् मूलम् इहम् जगत।' अर्थात धन ही सबका मूल है। लेकिन यह उक्ति दलितों के संदर्भ में सही प्रतीत नहीं होती क्योंकि इस व्यस्था में धन सबके मूल में नहीं है बल्कि 'जाति' ही अहम मुद्दा है।

ओमप्रकाश वाल्मीकि का जन्म 'चमार' घर में हुआ था, जो आर्थिक परिस्थिति से भी जूझता है। उनका गाँव बरला था, जिसमें मुसलमान और हिन्दू भी रहते थे। फिर भेदभाव करते थे यहाँ पर वाल्मीकि दलितों के रहन-सहन की स्थिति को बताते है कि- "चन्द्रभान तगा के घर के ठीक सामने एक छोटी सी जोहड़ी थी,जिसने चुहड़ों के बगड़ और गाँव के बीच एक फ़ासला बना दिया था।.....जोहड़ी के किनारे पर चूहड़ोंके मकान थे, जिनके पीछे गाँव भर की औरतें, जवान लड़कियाँ, बड़ी-बूढ़ी यहाँतक कि नई नवेली दुल्हनें भी इसी डब्बों वाली के किनारे खुले में भी पर्दों में रहने वाली त्यागी महिलाएँ घूँगटे काढ़े दुशाले ओढ़े इस सार्वजनिक खुले शौचालय में निवृत्ति पाती थी।....चारों तरफ़ गंदगी भी होती थी। ऐसी दुर्गंध कि

मिनट भर में साँस घुट जाए। तंग गलियों में घूमते-सुअर, नंग-धडंग बच्चे, कुत्ते, रोज़मर्रा के झगड़े, बस यह था वह वातावरण जिसमें बचपन बीता। इस माहौल में यदि वर्णव्यवस्था को आदर्श मानने वालों को दो-चार दिन रहना पड़ जाए तो उनकी राय बदल जाएगी।"

दलितों को मनुष्य न बनने देने की उस सवर्ण व्यूह रचना का प्रभावी चित्रण हुआ है। इस संदर्भ में प्रेम सिंह जी अपने विचार व्यक्त करते है कि- "जूठन में दलित को मनुष्य न बनने देने की उस सवर्ण व्यूह-रचना का प्रभावी चित्रण हुआ है, जो लोक से लेकर परलोक तक रची गई है। मनुष्य एक निश्चित प्राकृतिक वातावरण और सामाजिक परिवेश के बीच जन्म लेता है। अपने आस-पास की प्रकृति और समाज के साथ अंतःक्रिया करते हुए उसका आंतरिक जगत समृद्ध होता है, उसका मूल्यबोध और सौंदर्यबोध विकसित और पुष्ट होता है।"

ओमप्रकाश वाल्मीकि द्वारा लिखित आत्मकथा जूठन ने दलित साहित्य और आत्मकथा लेखन को एक नया रासता दिखाया है। सन् 1950 से लेकर 1993 तक भारत के दलितों की क्या समस्या थी, यह हमें 'जूठन' का अध्ययन करने से साफ हो जाती है। 'जूठन' में ओमप्रकाश वाल्मीकि ने अपनी स्वतः की आत्मकथा को अक्षरों का रूप देकर हिंदी दलित साहित्य में तहलका मचा दिया है।

ओमप्रकाश वाल्मीकि ने प्रकृति को भी अपनी कविता का विषय बनाया है। प्रकृति के माध्यम से अपनी पीड़ा, दुःख, दर्द और भावों को व्यक्त किया है। कहीं-कहीं पर प्रकृति को बिम्ब के रूप में प्रयोग किया है। वर्ण व्यवस्था के कारण ही मनुष्य-मनुष्य में भेद हैं यही नहीं बल्कि सवर्ण दलितों को मनुष्य मानने केलिए भी तैयार नहीं है। दलित जिस किसी वस्तु को बनाता है वह सवर्णों के घर में पहुँचने तक कोई समस्या नहीं होती किन्तु वह वस्तु घर में जाते ही पवित्र हो जाती है। तभी तो इसे छूओ मत, उसे छूओ मत कहा जाता है।

वर्ण व्यवस्था के कारण ही शूद्रों को सवर्ण पराये लगते हैं। एक व्यक्ति बहुत बड़ा और भव्य साफ-सुथरे बंगले में रहता हैं तो दूसरा गंदी नालियों के किनारे। इसका कारण भी वर्ण व्यवस्था ही है। ओमप्रकाश वाल्मीकि अपनी 'कभी सोचा है' शीर्षक कविता में सवर्णों से सवाल करते हैं-"कभी सोचा

है/गंदे नाले के किनारे बसे/वर्ण व्यवस्था के मारे लोग/ इस तरह क्यों जीते हैं?/तुम पराये क्यों लगते हो उन्हें/कभी सोचा है?"

इस वर्ण व्यवस्था के कारण ही मनुष्य-मनुष्य में भेद है। यही नहीं बल्कि सवर्ण दलितों को मनुष्य मानने के लिए भी तैयार नहीं है। जबकि सब माँ की कोख से जन्म लेते हैं। सब की प्रजनन क्रिया एक जैसी ही है। यहाँ जन्म के अनुसार ही ब्राह्मण-शूद्र आदि हो जाता है। वाल्मीकि जी अपनी 'वह दिन कब आयेगा' शीर्षक कविता में व्यंग्य का चित्रण करते है।

इस प्रकार ओमप्रकाश वाल्मीकि ने व्यंग्य का भी सहारा लेकर समाज में स्थित बुराइयों, त्रुटियों, बाह्यडंबर, मिथ्याचार और विसंगति का पर्दाफाश किया है। घृणा के कारण ही दलितों पर अन्याय, अत्याचार करते आ रहे हैं। वाल्मीकि की कविताओं में वर्तमान व्यवस्था के विरूद्ध आक्रोश और संवेदनाओं को भी सीधे-सीधे अभिव्यक्त किया है।

'ज्वालामुखी' कविता में ओमप्रकाश वाल्मीकि वर्तमान व्यवस्था के विरुद्ध आक्रोश और विद्रोह के साथ-साथ अपनी भावनाओं और संवेदनाओं को भी सीधे-सधी अभिव्यक्त करते हैं। दलित चेतना की सबसे पहली शर्त है उसके विरोध का स्तर पीड़ा की छटपटाहट, आक्रोश का तेवर और उसके साथ ही कहीं उगता हुआ परिवर्तन के लिए एक संकल्प। वाल्मीकि अपनी कविता में लिखते हैं।

सवर्ण हमेशा जाति बोध शब्द का प्रयोग कर दलितों को कदम-कदम पर अपमानित करते हैं। दलित भी अन्य वर्गों की तरह मान-सम्मान चाहता है। दलित अब अपमानित करनेवालों को चेतावनी देता है कि यह सिलसिला नहीं रुकेगा तो हिंसा का सहारा लेना पड़ेगा। डॉ.पुरुषोत्तम सत्यप्रेमी अपनी 'मेरी भी सुनो' शीर्षक कविता में आक्रोश और विद्रोह पर विचार करते हैं।

वाल्मीकि जी ने अपनी कविताओं में ऐतिहासिक सन्दर्भों को वर्तमान से जोड़ मिथकों को नए अर्थों में प्रस्तुत किया गया है। दलित कविता में पारम्परिक प्रतीकों, मिथकों को नए अर्थ और सन्दर्भो से जोड़कर देखे जाने की प्रवृत्ति दिखाई देती है, जो दलित कविता की विशिष्ट पहचान बनाती है। 'किष्किंध' शीर्षक कविता में 'बाली' का आक्रोश दलित कवि के आक्रोश में रूपान्तरित होकर कविता के एक विशिष्ट और

प्रभावशाली आयाम को स्थापित करता है-"मेरा अँधेरातब्दील हो रहा है कविताओं में/याद आ रही है मुझे/बाली की गुफ़ा/ और उसका क्रोध।"

दलितों के लिए स्वर्ग, नरक की भावनाएँ नहीं हैं। कल की फिक्र उनको नहीं है। श्रम करना और उसी में जीने की आदत हो गई। दलित हमेशा दो वक्त की रोटी के लिए श्रम करता है। स्वेच्छा, स्वतंत्रता, भातृत्व भाव- ये तीन मूलभूत इच्छाओं के लिए हमेशा ललकारता रहता है। इस संदर्भ में मोहनदास नैमिशराय का मत है कि "शोषक वर्ग के खिलाफ अपने अधिकारों के लिए संघर्ष करते हुए समाज में समता, बंधुता तथा मैत्री की स्थापना करना ही दलित साहित्य का उद्देश्य है।"

आज दलितों में एक नई चेतना पैदा हुई है। उसका श्रेय डॉ. अंबेडकर को जाता है। समूचे भारत में दलितों ने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अपनी छाप छोड़ी है, फिर भी दलित होने का जो खामयाजा उन्हें भुगतना पड़ता है वह उनके प्रगति पथ में रोड़ा बनकर खड़ा है। दलित चिंतक भगवान दास का मत इस प्रकार है कि- "गांवों में ऊंची जाति के भूमिधर लोग दलितों को अच्छे कपड़े पहनने, निर्भय होकर मतदान करने, शादी के जुलूम में घोड़े पर चढ़ने, सार्वजनिक कुओं से पीने का पानी लेने और ऊंची जाति के आदमी के खड़े रहने पर सामने चारपाई पर बैठने की इजाजत नहीं देते। शहरों में अनुसूचित जाति के छात्र को जानबूझकर कम अंक दिए जाते हैं। एक अधिकारी को जन्मना अछूत होने के कारण पहले से ही अयोग्य और अक्षम मान लिया जाता है। अछूत परिवार में पैदा हुए प्रोफेसर, वकील, डॉक्टर, आर्किटेक्ट को उसका काम देखे बिना अक्षम और घटिया करार दे दिया जाता है। एक रोगी अछूत डॉक्टर से इलाज कराने को मना कर देता है और मकान मालिक छूत के डर से किराये पर उन्हें खाली मकान देने को तैयार नहीं होता। एक उच्च पदाधिकारी अपने अधीनस्थ दलित की प्रोन्नति रोकने के लिए उसकी रिपोर्ट खराब करता है। कैंटीनों, बसों, रेलगाड़ियों और हवाई जहाजों, कार्यालय और संस्थानों में रोजाना अछूत मूल के आदमियों और औरतों पर निकम्मापन थोपा जाता है और घृणित फिकरे कसे जाते हैं। विश्वविद्यालयों और कालेजों में 'स्वायत्त संस्थानों' को प्रदत्त शक्तियों और अधिकारों का प्रयोग करते हुए 'योग्यता' की रक्षा के लिए छात्रों और अध्यापकों की तरक्की के दरवाजे बंद कर दिए जाते हैं-वह योग्यता जो जाली प्रमाण-पत्रों, परीक्षा

में अनुचित साधनों, भाई-भतीजावाद और भ्रष्टाचार से प्राप्त की जाती है।"

भारतीय वर्णवादी व्यवस्था में 'वर्चस्वादी शक्तियों द्वारा निर्मित धारा' ही ओमप्रकाश वाल्मीकि की दृष्टि में मुख्यधारा है और दलित साहित्य...तथाकथित इस मुख्यधारा के विपरीत ध्रुवों पर खड़ा है। विपरीत ध्रुवों पर खड़ी दलित साहित्य-धारा के संबंध में वाल्मीकि जी का कहना है कि 'यह एक लंबी संघर्ष यात्रा है, जो बुद्ध, फुले और अंबेडकर से होती हुई यहाँ पहुँची है। यह धारा बुद्ध की मानवीय चिंताओं को अपने भीतर संजोए हुए है। घृणा करनेवालों को भी घृण नहीं करने की सीख देती है।

दलित लेखकों की समतामूलक, समाज व्यवस्था की स्थापना के प्रति प्रतिबद्धता के कारण दलित जीवन की त्रासदी से पुनः गुजरने जैसी पीड़ादाक अनुभूति को फिर से झेलते हुए सामाजिक दायित्व पूरा करने के लिए प्रामाणिकता के साथ (गुजरे हुए जीवन प्रसंगों, घटनाओं, अपमान, अवहेलना को) प्रस्तुत कर रहे हैं। क्योंकि एक विशिष्ट शोषण व्यवस्था द्वारा रचे गए षड्यन्त्र के तहत यह सब हो रहा है। देश की संपूर्ण उत्पादन व्यवस्था में केवल एक श्रम बेचने वाले साधनहीन गुलाम की जिन्दगी जीने के लिए उसे बाध्य किया गया है। किसी आकांक्षा, आशा, इच्छा या सपनों का पूरा होना उसके हिस्से में आया ही नहीं है। वाल्मीकि जी को बचपन में और बच्चों की तरह पाठशाला में जाकर शिक्षा प्राप्त करना उनके लिए सहज साध्य नहीं बल्की एक त्रासद अनुभव है।

"अबे, ओ चूहड़े के, मादरचोद कहाँ घुस गया.....अपनी माँ ...."

उनकी दहाड़ सुनकर मैं थर कांपने लगा था कि त्यागी लड़के ने चिल्लाकर कहा, "मास्साब, वो बैट्ठ है कौणे में।"

"हैडमास्टर ने लपक कर मेरी गर्दन दबोच ली थी। उनकी उंगलियों का दबाव मेरी गर्दन पर बढ़ रहा था। जैसे कोई भेड़िया बकरी के बच्चे को दबोचकर उठा लेता है। कक्षा से बाहर खींचकर मुझे बरामदे में ला पटका। चीखकर बोले जा लगा पूरे मैदान में झाड़ू .... नहीं तो गांड में मिर्ची डालके स्कूल से बाहर काढ़ दूंगा।"

दलित कवियों की भाषा किसी की मुहताज नहीं है। इन कवियों का विश्वास है कि ये कविताएँ जिन्दा रहेंगी तो अपने वैचारिक सरोकारों के कारण रहेगी। वे जानते हैं कि भाषा अभिव्यक्ति का माध्यम है। वे जिस भाषा का प्रयोग करते हैं उसके माध्यम से अपनी बातें, अपने विचार, अपना संदेश, क्षोभ, क्रोध, राग-विराग, पीड़ा सब कुछ सम्प्रेषित करने में समर्थ हैं। वे आक्रोश की भाषा का प्रयोग करते हैं, तो भाषा का आक्रोश भी देखने में आता है। वे ऐसी भावना का प्रयोग भी करते हैं, जिसमें कुछ लोगों को ऐतराज भी हो सकता है तथा उनके मन में जुगुप्सा भी पैदा हो सकती है, किन्तु ऐसी भाषा अकारण नहीं आती। इसका कोई-न-कोई तार्किक सन्दर्भ होता है।

इस संदर्भ में मुद्राराक्षस लिखते हैं कि - "कोई भी नया कथ्य अपने पूर्व की विचार परम्परा से विद्रोह करता है। उतनी सीमा तक परम्परा के सौन्दर्यबोध सम्बन्धी मूल्यों को भी तोड़ता है। वह अपनी भाषा, अलंकारशास्त्र और अपना छन्द-तन्त्र बनाता है। कबीर ने यही किया था। उन्होंने संस्कृत का प्रयोग भी नहीं किया था और तत्कालीन सवर्ण कथ्य की अवधी और ब्रज को भी स्वीकार नहीं किया था। उन्होंने जिस भाषा का आविष्कार किया था, वह देश के बहुसंख्यक गैर साहित्यिक समाज के बोध की भाषा थी। इसीलिए मात्रिक छन्दों का स्वरूप भी उनका अपना था।"

दलित साहित्य ने संस्कृतनिष्ठ परम्परागत साहित्यिक भाषा, काव्यशैली, प्रस्तुतीकरण को नकार कर सर्वग्राही भाषा का प्रयोग किया है। ऐसी भाषा जो दलितों की पीड़ा, अपमान, व्यथा की सही और यथार्थवादी अभिव्यक्ति बन सके। दलित साहित्य की भाषा नकार और विरोध की भाषा है जिसमें युगों की यातनाएँ साकार हो उठी हैं। ओमप्रकाश वाल्मीकि, मोहनदास नैमिशराय, श्यौराजसिंह बेचैन, जयप्रकाश कर्दम आदि रचनाकारों ने इस भाषा को विस्तार दिया है।

इस प्रकार ओमप्रकाश वाल्मीकि जी की समग्र रचनाओं में एक पारदर्शिकता और समाज में बुनियादी परिवर्तन के लिए आवश्यक चहल-पहल सहजवत दृष्टिगोचर होती है। मेरे शोध का उद्देश्य ओमप्रकाश वाल्मीकि जी की रचना विशेषताओं की गहरी जाँच-पड़ताल रही है और शोध के दौरान मैंने देखा है कि समाज में आमूलचूल परिवर्तन के लिए विशेष रूप से लेखक की पहल भी बहुत हद तक मायने रखती है। अम्बेडकर की यही आकांक्षा थी कि लेखक वर्ग एकजुट होकर सामने आये और दलितोद्धार

का जिम्मा उठाये। वाल्मीकि जी की रचनाओं के पात्र अन्याय सहन करनेवालों में से नहीं है, वे जानते हैं कि अन्याय सहने वाला अन्याय करने वालों से अधिक गुनेहगार होता है। अन्याय का उन्मूलन करने के लिए स्वयं आगे आना और परिवर्तन का जिम्मा उठाना आवश्यक है। शोध के दौरान प्रयास यही रहा है कि रचनाओं की अंतस् में कैसा स्वर विद्यमान है, मैंने उसी स्वर की तलाश की है।

*****

ग्रंथ अनुक्रमणिका

आधार ग्रंथ - सूची

क्रं.सं/पुस्तक	लेखक/संपादक	प्रकाशक
1.अब और नहीं	ओमप्रकाश वाल्मीकि	राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड 7/31ए, अंसारी मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली-110 002, प्र.सं-2009.
2.घुसपैठिए	ओमप्रकाश वाल्मीकि	राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड जी-17, जगतपुरी, दिल्ली-110 051, प्र.सं-2003.
3.जूठन	ओमप्रकाश वाल्मीकि	राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड 2/38, अंसारी मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली-110 002, प्र.सं-1997.
4.दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र	ओमप्रकाश वाल्मीकि	राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड जी-17, जगतपुरी, दिल्ली-110 051, प्र.सं-2001.
5.बस! बहुत हो चुका	ओमप्रकाश वाल्मीकि	वाणी प्रकाशन, दिल्ली-02, प्र.सं-1997.
6.मुख्यधारा और दलित साहित्य	ओमप्रकाश वाल्मीकि	सामयिक प्रकाशन 3320-21, जटवाड़ा, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली-110002, दू.सं-2010.
7.सदियों का संताप	ओमप्रकाश वाल्मीकि	फिलहाल प्रकाशन, देहरादून-248001, प्र.सं-1986.
8.सलाम	ओमप्रकाश वाल्मीकि	राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड जी-17, जगतपुरी, दिल्ली-110 051, प्र.सं-2000.
9.सफाई देवता	ओमप्रकाश वाल्मीकि	राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड 7/31, अंसारी मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली-110 002, प्र.सं-2008.

सहायक ग्रंथ-सूची

क्रं.सं/पुस्तक	लेखक/संपादक	प्रकाशक
1.अछूत	दया पवार	राधाकृष्ण, दिल्ली, 1998.
2.अनामिका	निराला	राजकमल प्रकाशन, दिल्ली- 2004.
3.अपने-अपने पिंजरे, भाग-1	मोहनदास नैमिशराय	वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्र.सं.1995.
4.अपने-अपने पिंजरे, भाग-2	मोहनदास नैमिशराय	वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्र.सं.2000.
5.अस्मिता की तलाश	रूपा सिंह	अयन प्रकाशन, महरौली, नई दिल्ली-1999.
6.अंतहीन बेड़ियाँ	माता प्रसाद	आतिश प्रकाशन, दिल्ली
7.अम्बेडकरवादी आलोचना के प्रतिमान	ईशा कुमार गंगानिया	किताब घर, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-110002, प्र.सं-2006.
8.अम्बेडकरवादी चिंतन और दलित साहित्य	अजय नावरिया	नेह प्रकाशन, बैंक इंक्लेव, लक्ष्मीनगर, दिल्ली-110092, सं-2008.
9.अम्बेडकर चिंतन और हिन्दी दलित साहित्य	पी.एन.सिंह	आधार प्रकाशन प्रा.लि.एस.सी.एफ.267, पंचकूला-134 113, हरियाणा, प्र.सं.2009.
10.अम्बेडकर एक पुनर्मूल्यांकन	कंवल भारती	बोधिसत्व प्रकाशन, रामपुर-244901, 1997.
11.अन्याय कोई परम्परा नहीं	श्यौराज सिंह बेचैन	अम्बेडकर का संपादकीय, संगीता प्रकाशन विश्वास नगर शाहदरा, दिल्ली-110032, 1995.
12.अस्पृश्यता एवं दलित चेतना	डॉ. पूरणमल	श्रीमती शशि जैन जयपुर, --- राजस्थान - 302 003
13.आजाद हैं हम	एन.आर. सागर	संगीत प्रकाशन, दिल्ली, 1996.
14.आज का दलित साहित्य	तेज सिंह	आतिश प्रकाशन, दिल्ली, 2000.
15.आधुनिकता के आईने में दलित	सं.अभयकुमार दूबे	वाणीप्रकाशन,दिल्ली-110051, प्र.सं-2006.

क्रं.सं/पुस्तक	लेखक/संपादक	प्रकाशक
16.आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के उपन्यासों में सांस्कृतिक चेतना	शिवशंकर त्रिवेदी	साहित्य निलय प्रकाशन, कानपुर, प्र.सं-1997.
17.आवाजें	मोहनदास नैमिशराय	समता प्रकाशन, नई दिल्ली, 1998.
18.इक्कीसवीं सदी का दलित आन्दोलन	डॉ.वीरेंद्र सिंह यादव	राधा पब्लिकेशन्स, 4231/1अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-110002.
19.कबीर नई सदी पे	डॉ.धर्मवीर	वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली-2.
20.काले हाशिये	डॉ.एन.सिंह	लोकवाणी संस्थान, दिल्ली, 1997.
21.गुलामगिरी	महात्मज्योतिराव फूले	गौतम बुक सेन्टर, दिल्ली-110093, प्र.सं-2007.
22.गूँगा नहीं था मैं	जयप्रकाश कर्दम	अतिश प्रकाशन, दिल्ली, 1997.
23.गाँधी अम्बेडकर हरिजन-जनता	श्यौराज सिंह बेचैन	समता प्रकाशन, दिल्ली-32,1997.
24.चिंतन की परम्परा और दलित साहित्य	श्यौराज सिंह बेचैन	नवलेखन प्रकाशन, मेन रोड, हजारीबाग-825001, बिहार.
25.चिंतन की परंपरा और दलित साहित्य	डॉ.श्यौराज सिंह बेचैन	डॉ.देवेन्द्र चौबे, नवलेखन प्रकाशन, मेन रोड, हजारी बाग-825801, बिहार, सं.2000-2001,
26. छप्पर	डॉ. जयप्रकाश कर्दम	राहुल प्रकाशन, विश्वास नगर, दिल्ली-32 द्वि.सं.2007
27.जस तस भई सवेर	सत्य प्रकाश	कामना प्रकाशन, ईस्ट ऑफ लोनी रोड, दिल्ली-110063, प्र.सं.1998.
28.जाति, धर्म और राष्ट्र उद्भावना	कंवल भारती	दिल्ली, 2005.
29.जाति एक विमर्श	जयप्रकाश कर्दम	नवभारत प्रकाशन, नई दिल्ली-2004.
30.जाति और वर्ग	बी.री.रणदिवे	नेशनल बुक सेंटर, दिल्ली, प्र.सं-1983.

क्रं.सं/पुस्तक	लेखक/संपादक	प्रकाशक
31.जाति वर्ग और व्यवसाय	गोविंद सदाशिव धुर्ये	राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली-1978.
32.डॉ.बाबा साहब अम्बेडकर	विजय कुमार पुजारी	हिन्दी प्रिंटिंग प्रेस, दिल्ली.
33.डॉ.अम्बेडकर के प्रशासनिक विचार	डॉ.धर्मवीर	वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2004.
34.डॉ.अम्बेडकर और दलित आन्दोलन	डॉ.धर्मवीर	वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 1996. शेष साहित्य,
35. तलाश	डॉ. जयप्रकाश कर्दम	विक्रम प्रकाशन, ई-11/5, प्र.सं.2005 कृष्णनगर, दिल्ली-51
36.तब तुम्हारी निष्ठा क्या होती?	कंवल भारती	बोधिसत्व प्रकाशन, रामपुर,1996.
37.दलित विमर्श के विविध आयाम	डॉ.वीरेन्द्र सिंह यादव	राधा पब्लिकेशन्स, 4231/1अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-110002.
38.दलित साहित्य दिशा और दशा	माता प्रसाद	भातीय दलित साहित्य अकादमी, टैगोर पार्क, माडल टाउन, दिल्ली-110006.
39.दलितों के रूपांतर की प्रक्रिया	डॉ.नरेन्द्र सिंह	राधाकृष्ण प्रकाशन,दल्ली -1998.
40.दलित दर्शन	सं.रमणिका गुप्ता	ज्ञान सिंह बल, नेहा प्रकाशन, 295, बैंक इंक्लेव, लक्ष्मीनगर, दिल्ली-110092.
41.दलितों के मसीहा भारत रत्न डॉ.भीमराव अम्बेडकर	डॉ.रामभक्त लांगायन	भारत प्रकाशन, पालिका बाजार, महेश नगर, अम्बाला छावनी, द्वि.सं-2006.
42.दलित साहित्य : चिंतन के विविध आयाम	डॉ.एन.सिंह	आम प्रकाशन, कांदीवली, मुम्बई-67, प्र.सं-1996.
43.दलित साहित्य और समाजिक न्याय	डॉ.पुरुषोत्तम सत्य प्रेमी	समता प्रकाशन, दिल्ली-32.
44.दलित दर्शन	सं.रमणिका गुप्ता	ज्ञान सिंह बल, नेहा प्रकाशन, बैंक इंक्लेव, लक्ष्मीनगर, दिल्ली-110092, सं.2009.

क्रं.सं/पुस्तक	लेखक/संपादक	प्रकाशक
45.दलित लेखन के अन्तर्विरोध	सं.डॉ.रामकली सर्राफ	शिल्पायन, 10295, लेन नं-1, वैस्ट गोरखपार्क, शाहदरा, दिल्ली-110032.
46.दलित-देवो भव	किशोर कुणाल	प्रकाशन, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, सूचना भवन, नई दिल्ली-110003, प्र.सं-2005.
47.दलित साहित्य रचना और विचार	डॉ.पुरूषोत्तम सत्यप्रेमी	अतिश प्रकाशन, दिल्ली-64, प्र.सं-2001.
48.दलित चेतना सोच	रमणिका गुप्ता	नवलेखन प्रकाशन हजारीबाग, 1998.
49.दलित साहित्य की भूमिका	हरपाल सिंह	कुंज बिहारी-पचौरी जवाहर पुस्तकालय, मथुरा-2005.
50.दलित समाज आज की चुनौतियाँ	जियालाल आर्य	प्रकाशन संस्थान, दयानन्द मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली-110002, प्र.सं-2005.
45.दलित निर्वाचित कविताएँ	कंवल भारती	इतिहासबोध प्रकाशन, इलाहाबाद, 2006.
46.दलित क्रान्ति का साहित्य	श्यौराज सिंह बेचैन	समता प्रकाशन, दिल्ली-110032,1997.
47.दलित दखल	श्यौराज सिंह बेचैन	श्री साहित्यिक संस्थान लोनी, गाजियाबाद, 2001.
48.दलित साहित्य में प्रमुख विधाएँ	माताप्रसाद	आकाश पब्लिशर्स, गाजियाबाद, 2004.
49.दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र	डॉ.शरणकुमार लिंबाले अनु.रमणिका गुप्ता	वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली-110002, द्वि.सं.2005.
50.दलित साहित्य : वेदना और विद्रोह	डॉ.शरणकुमार लिंबाले	वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली-2,
51.दलित ब्राह्मण	डॉ.शरणकुमार लिंबाले	वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली-2,
52.दलित साहित्य : बुनियादी सरोकार	कृष्णदत्त पालीवाल	वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली-2.
53.दलित सिविल कानून	डॉ.धर्मवीर	वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली-2, प्र.सं.2007.

क्रं.सं/पुस्तक	लेखक/संपादक	प्रकाशक
54.दलित चिंतन का विकास	डॉ.धर्मवीर	वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली-2, प्र.सं.2008.
55.दलित चेतना : साहित्यिक एवं सामाजिक सरोकार,	सं.रमणिका गुप्ता	समीक्षा दिल्ली, 2004.
56.दलित चेतना साहित्य	सं.रमणिका गुप्ता	नव लेखन प्रकाशन, हजारी बाग, झारखण्ड-825301.
57.दलित विमर्श की भूमिका, इतिहास बोध	कंवल भारती	इलाहाबाद, 2004.
58.दलित विमर्श साहित्य के आईने में	जयप्रकाश कर्दम	साहित्य संस्थान गाजियाबाद, 2006.
59.दलित साहित्य एक मूल्यांकन	प्रो.चमनलाल	राजपाल एण्ड सन्ज़, कश्मीरी गेट, दिल्ली-110006, प्र.सं.2008.
60.दलित और अश्वेत साहित्य	प्रो.चमनलाल	भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, शिमला,2005.
61.दक्षिण-वाम के कटघरे और दलित साहित्य	सं.रमणिका गुप्ता	नवलेखन प्रकाशन, हजारी बाग, झारखण्ड,825301, 1998.
62.दूसरों की जूतियाँ	डॉ.धर्मवीर	वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली-2,
63.दूसरी दुनिया का यथार्थ	रमणिका गुप्ता	नवलेखन प्रकाशन, 1997.
64.दोहरा अभिशाप	कौसल्या बैसंत्री	परमेश्वरी प्रकाशन, दिल्ली-92, प्र.सं.1999.
65.नया मसीह	रामशंकर अग्निहोत्री	प्रभात प्रकाशन, आसफ अली रोड, नई दिल्ली, प्र.सं-2002.
66.नाच्यौ बहुत गोपाल दलित का सच	अजय नावरिया	नेह प्रकाशन, बैंक इंक्लेव, लक्ष्मीनगर, जीवन दिल्ली-110092, सं-2008.
67.पहला खत	डॉ.धर्मवीर	समता प्रकाशन, विश्वास नगर, दिल्ली-32, प्र.सं.1996.

क्रं.सं/पुस्तक	लेखक/संपादक	प्रकाशक
68.परम्परागत वर्ण-व्यवस्था और दलित साहित्य	साक्षान्त मस्के	वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नयी दिल्ली-110002, प्र.सं-2009.
69.प्राचीन भारत की संस्कृति और सभ्यता	डी.डी,कोसाम्बी	राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्र.सं-1977.
70.प्राचीन भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक भूमिका	रामजी उपाध्याय	लोकभारती प्रकाशन, इलाहबाद.
71.बहुजन हिताय	अरुंधती राय	राजकमल, दिल्ली,1999.
72.बाबा साहेब ने कहा था	मोहनदास नैमिशराय	आनन्द साहित्य सदन, अलीगढ़, 1990.
73.बाबासाहेब डॉ. अम्बेडकर सम्पूर्ण वाङमय खंड-1,2 5,6.	श्री कैलाश चन्द्रसेट श्रीमती भारती नरसिंहन	कल्याण मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली.01,1993, 1998.
74.बाबासाहेब डॉ. अम्बेडकर सम्पूर्ण वाङमय खंड-11	श्री जगन्नाथ प्रसाद	कल्याण मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली.01, 1997.
75.बाबासाहेब डॉ. अम्बेडकर सम्पूर्ण वाङमय खंड-13	श्री उमराव सिंह	कल्याण मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली.01, 2003.
76.बाबासाहेब डॉ. अम्बेडकर सम्पूर्ण वाङमय खंड-15,16	श्री ओमप्रकाश कश्यप	कल्याण मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली.01, 2000, 2002.
77.बौद्ध धर्म के विकास में डॉ.अम्बेडकर का योगदान	डॉ.विमल कीर्ति	संगीत प्रकाशन, दिल्ली, प्र.सं-1994.
78.भारत में दलित चेतना गांधी और अम्बेडकर	संदीप सिंह चौहान	आर.बी.एस.ए. पब्लिशर्स, जयपुर-302003, प्र.सं.2004.
79.भारतीय संस्कृति की रूपरेखा	वाचस्पति गैरोला	बृहत्तर दीक्षित उत्तर प्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी, लखनाऊ.
80.भारत : इतिहास और संस्कृति	मुक्तिबोध	राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्र.सं-1985.

क्रं.सं/पुस्तक	लेखक/संपादक	प्रकाशक
81.भारत में जातिवाद और हरिजन समस्या	जगजी विराम	राजपाल एण्ड सन्स दिल्ली, 1998.
82.भारतीय दलित साहित्य	डॉ.मनोजकुमार.आर. पटेल, प्रा.प्रेमचंद एम.कोराली	दर्पण प्रकाशन, वल्लभ विद्यानगर, गुजरात-388120, प्र.सं-2008.
83.भारतीय समाज एवं विचारधाराएँ	डी.आर.जाटव	नेशनल पब्लिशिंग हाउस, जयपुर,1997.
84.भेद का उन्मूलन	डॉ.धर्मवीर	सागर, उत्तर प्रदेश, 1996.
85.मनुस्मृति	हरगोविंद शास्त्री	चौखंभा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, प्र.सं.1985.
86.मार्क्स और पिछड़े हुए समाज	रामविलास शर्मा	राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र.सं.1992.
87.मिट्टी की सौगंध	प्रेम कपाड़िया	इंडियन सोशल इन्स्टीट्यूट प्रकाशन 10, इन्स्टीट्यूशनल एरिया, लोधी रोड, नई दिल्ली-110003, 1985.
88.मुक्तिपर्व	मोहनदास नैमिशराय	अनुराग प्रकाशन, नई दिल्ली-110030, प्र.सं-1999.
89.मूल खोजो विवाद मिटेगा	श्यौराज सिंह बेचैन	अम्बेडकर के संपादकीय, माडवी प्रकाशन नोएडा,उ.प्र,1995.
90.मीडिया : उत्तर आधुनिक (अस्पृश्यता के दौर में)	श्यौराज सिंह बेचैन	साहित्य संस्थान, उत्तरांचल कॉलोनी, गजियाबाद-201102, प्र.सं-2010.
91.मेरा दलित चिंतन	डॉ.एन.सिंह	कंचन प्रकाशन, दिल्ली-2002.
92.मेरी कथा-दलित यातना, संघर्ष और भविष्य	मार्टिन मेकवान अनु.रामनरेश सोनी	वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली-110002, प्र.सं-2006.
93.मूक माटी की मुखरता	डॉ.पुरुषोत्तम सत्यप्रेमी	अतिश प्रकाशन, दिल्ली-1997.
94.यातना की परछाइयाँ	डॉ.एन.सिंह	नवलेखन प्रकाशन, मेन रोड, हजारीबाग,झारखण्ड, 1998.

क्रं.सं/पुस्तक	लेखक/संपादक	प्रकाशक
95.युद्धरत आम आदमी : कविता (दलित चेतना विषेशांक)	सं.रमणिका गुप्ता पाणेश कुमार	नवलेखन प्रकाशन मेन रोड़, हजारी बाग, बिहार-01.
96.शूद्रों का प्राचीन इतिहास	रामशरण शर्मा	ज्ञान विज्ञान प्रकाशन, दिल्ली, प्र.सं-1992.
97.समकालीन हिंदी पत्रकारिता में दलित उवाच	श्यौराज सिंह बेचैन	अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स प्रा.लिमिटेड, दरियागंज, नई दिल्ली-2, प्र.सं.2007.
98.सूरजपाल चौहान की कहानियों में दलित जीवन	नारायण राठौड़	जवाहर पुस्तकालय हिन्दी पुस्तक प्रकाशक एवं वितरक, सदर बाजार, मथुरा, उ.प्र-281001.
99.संवाद पर संवाद	सं.रूपचन्द गौतम	नटराजन प्रकाशन, दिल्ली-110053. प्र.सं.2007.
100.संस्कृति के चार अध्याय	रामधारी सिंह दिनकर	लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, प्र.सं-1956.
101.सांप्रदायिकता के बदलते चेहरे	रमणिका गुप्ता	वाणी प्रकाशन 21-ए, दरियागंज, दिल्ली-110002,
102.साहित्य और दलित चेतना	महीपसिंह	अभिव्यंजन प्रकाशन, दिल्ली, प्र.सं-1982.
103.सामाजिक न्याय एवं दलित	प्रो.श्यामलाल	सबलाइम पब्लिकेशन्स, शान्तिनगर, जयपुर-302006, प्र.सं-2004.
104.हाशिये से बाहर	रजत रानी	साहित्य संस्थान, गाजियाबाद, 2001.
105.हमारी सांस्कृतिक एकता	रामधारी सिंह दिनकर	नेशनल प्रकाशन हाउस, दिल्ली, प्र.सं-1956.
106.हरिजन से दलित	राजकिशोर	वाणी प्रकाशन, दिल्ली, प्र.सं-1994.
107.हिन्दी साहित्य का इतिहास	डॉ.नगेन्द्र	म्यूट पेपरबैक्स, नौएडा-201301, प्र.सं-1973.

क्रं.सं/पुस्तक	लेखक/संपादक	प्रकाशक
108.हिन्दी साहित्य में दलित चेतना	डॉ.आनन्द कुमार वास्कर	विद्या मन्दिर प्रकाशन, 1061154, गाँधी नगर, कानपुर-2080121.
109.हिन्दी दलित पत्रकारिता पर पत्रकार अम्बेडकर का प्रभाव	श्यौराज सिंह बेचैन	समता प्रकाशन, विश्वास नगर शाहदरा, दिल्ली-32, 1997.
110.हैरी कब आएगा	सूरजपाल चौहान	अनुभव प्रकाश, साहिबाबाद-201005, गाजियाबाद, उत्तर प्रदेश, प्र.सं.1999

अंग्रेजी

1.Buffalo Nationalism	kancha ilaiah	Webimpressions(India)Pvt.Ltd. Kolkata-006.
2.Dr.Ambedkar & Social justice	MG Chitkara	APH Publishing, corporation, Darya ganj, New Delhi-002.
3.Dalit literature at glance	p.l.sonakamble	FAIDWC, 1994
4..Relations of Golkonda in	W.H.Moreland	early 17 th century

पत्र-पत्रिकाएँ

1.अपेक्षा	तेजसिंह	27-घौंडली, कृष्णानगर, दिल्ली-51, 2000.
2.अन्यथा	सं.कृष्ण किशोर	हांडा इन्टरप्राइसेस, जलंधर (भारत), 2008.
3.अस्मिता दर्शन	सं.गंगाधर पानतावणे	औरंगाबाद - 1976.
4.आजकल	बलदेव सिंह मदान	पटियाला हऊस, नई दिल्ली, 1992.

क्रं.सं/पुस्तक	लेखक/संपादक	प्रकाशक
5.आश्वस्त	सं.सुश्री डॉ.तारापरमार	भारती दलित साहित्य अकादमी मध्यप्रदेश, उज्जैन-456010, (म.प्र),2008.
6.कथाक्रम	सं.शैलेंद्र सागर	इंदिरानगर, लकनऊ, 2004.
7.कथादेश	विजयकुमार देव	सहयात्रा प्रकाशन प्रा.लि.हरिनारायण, भोपाल, 2004.
8.कलके लिए	जयनारायण	बहराइच उ.प्र, दिसम्बर-1994.
9.दलित साहित्य (वार्षिकी)-2000	डॉ.जयप्रकाश कर्दम	सी.19, डीडीए फ्लैट, ईस्ट ऑफ लोनी रोड, दिल्ली-93.
10.दलित साहित्य (वार्षिकी)-2001	डॉ.जयप्रकाश कर्दम	सी.19, डीडीए फ्लैट, ईस्ट ऑफ लोनी रोड, दिल्ली-93.
11.दलित साहित्य (वार्षिकी)-2002	डॉ.जयप्रकाश कर्दम	9 बी, पॉकेट एफ.जी.8 एरिया, हरिनगर, दिल्ली-93.
12.दलित साहित्य (वार्षिकी)-2004	डॉ.जयप्रकाश कर्दम	सी.19, डीडीए फ्लैट, ईस्ट ऑफ लोनी रोड, दिल्ली-93.
13.दलित साहित्य (वार्षिकी)-2006	डॉ.जयप्रकाश कर्दम	सी.19, डीडीए फ्लैट, ईस्ट ऑफ लोनी रोड, दिल्ली-93.
14.पश्यती	प्रणवकुमार बंधोपाध्याय	साहित्य अकादमी, दिल्ली-58.
15.प्राज्ञा साहित्य	अ.सं.ओमप्रकाश वाल्मीकि	पंचशील शिक्षा निकेतन, पाला गली, मण्डी, फरूखाबाद-201 625- उ.प्र.,-1995.
16.बयान	सं.मोहनदास नैमिशराय	बी.जी.15-ए/ 30.बी, पश्चिम विहार, नई दिल्ली-110063.
17.मधुमती	सं.पूनम दईया	राजस्थान साहित्य अकादमी, उदयपूर-02, सितंबर - 1989.

क्रं.सं/पुस्तक	लेखक/संपादक	प्रकाशक
18.युद्धरत आम आदमी	रमणिका गुप्ता	नव लेखन प्रकाशन, हजारी बाग, 1996.
19.वसुधा	सं.प्रो.कमला प्रसाद	दुष्यंत कुमार मार्ग, भोपाल-03, वर्ष-2000
20.सारिका	सं.कमलेश्वर	अप्रैल-1974.
21.हंस	सं.राजेन्द्र यादव	अक्षर प्रकाशन, दिल्ली-32,अगस्त-1993.
22.हंस	राजेन्द्र यादव	अक्षर प्रकाशन, दिल्ली-32, अगस्त-2004.
23.हंस	सं.राजेन्द्र यादव	अक्षर प्रकाशन, दिल्ली-32,अगस्त - 2005.
24.हंस	सं.राजेन्द्र यादव	अक्षर प्रकाशन, दिल्ली-32,अगस्त - 2007.

कोश

1.हिन्दी विश्व कोश	नगेन्द्रनाथ बसु	के.आर. पब्लिक कार्पोरेषन, दिल्ली, सं.सं-1986.

*****